सम्पादक
डॉ० नरेन्द्र भानावत

●

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,
हीरावत भवन,
बारह गणगौर का रास्ता, जयपुर-३

●

मूल्य : सात रुपये

संस्करण : १९७२

●

मुद्रक
राज प्रिंटिंग वर्क्स,
किशनपोल बाजार, जयपुर

अनुक्रम

अपनी बात :

ध्यान—ऊर्जा का सतत प्रवाही स्रोत

डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी–एच० डी०

ध्यान ऊर्जा का सतत प्रवाही स्रोत है। यह व्यावहारिक जीवन को स्वस्थ, सन्तुलित और ईमानदार बनाता है, सामाजिक जीवन को मर्यादित, प्रगतिशील और स्नेहप्रवण बनाता है तथा आध्यात्मिक जीवन को वीतराग और शुद्ध-बुद्ध। ध्यान का क्षेत्र और प्रभाव सीमित नहीं,असीमित और अखण्ड है। उसने जीवन और जगत के बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों पक्षों को सचेतन और जागरूक बनाया है। प्राच्य मनीषियों ने इसकी महत्ता को सभ्यता के प्रारम्भिक चरणों में ही समझ लिया था। उन्होंने ध्यानावस्था में ही परम सत्य का साक्षात्कार कर प्राणिमात्र के लिए शान्ति का अखण्ड-अजस्र स्रोत प्रवाहित कर दिया था। पर भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न पश्चिम का मानव अब इसकी आवश्यकता अनुभव करने लगा है। उसके लिए ध्यान-साधना भौतिक यन्त्रणाओं से मुक्ति का साधन है, इन्द्रिय-भोग के अतिरेक की थकान की विश्रान्ति है, मानसिक तनाव और दैनन्दिन जीवन की आपाधापी से बचने का रास्ता है। ध्यान के प्रति उसकी ललक भौतिक पदार्थों की चरम सतृप्ति (संत्रास) का परिणाम है। वह प्रतिक्रिया की परिणति है। उसका लक्ष्य प्राच्य मनीषियों की तरह मुक्ति या निर्वाण-प्राप्ति नहीं है। उसे वह शारीरिक और मानसिक स्तर तक ही समझ पा रहा है। उसके आगे आत्मिक स्तर तक अभी उसकी पहुँच नहीं है। पर, यह स्थिति भी शुभ है कि वह उस दिशा में किंचित् प्रवृत्त तो हुआ है।

प्राच्य धर्म एव दर्शनों मे 'ध्यान' के सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तार से सोचा और समझा गया है। उसकी अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार किया गया है। उस सम्बन्ध में विशाल साहित्य भी रचा गया है। यो तो सभी भारतीय धर्मों मे ध्यान योग का बड़ा महत्त्व बना रहा पर बौद्ध धर्म में तो वह उसका हृदय ही बन गया। यही नहीं, बौद्ध धर्म में केवल ध्यान तत्त्व को लेकर धर्माचार्यों की परम्परा चल पड़ी और उसके २८ वें आचार्य

बौधिधर्म ने सन् ५२० या ५२६ ईसवी में चीन जाकर वहाँ ध्यान सम्प्रदाय (चान्-त्सुंग) की स्थापना की। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी चीन में उनकी परम्परा चलती रही। उनके उत्तराधिकारी इस प्रकार हुए—

१. हुइ-के (सन् ४०६-५६३ ई०), २. सेंग-त्सन् (मृत्यु सन् ६०६ ई०), ३. ताओ-ह्सिन (सन् ५८०-६५१ ई०), ४. हुंग्-जेन् (सन् ६०१-६७४ ई०), ५. हुइ-नेंग् (सन् ६३८-७१३ ई०)।

चीन से यह तत्त्व जापान गया। येइ-साइ (सन् ११४१-१२१५) नामक जापानी भिक्षु ने चीन में जाकर इसका अध्ययन किया और फिर जापान में इसका प्रचार किया। जापान में इस तत्त्व की प्रधान तीन शाखाएँ हैं। पहली शाखा रिजई नाम की है जिसके मूल प्रवर्तक चीनी महात्मा रिजई थे। इसमें येइ-साइ, दाए ओ (सन् १२३५-१३०८), देतो (सन् १२८२-१३३६), क्वजन (सन् १२७७-१३६०), हेकुमिन् (सन् १६८५-१७६८) जैसे विचारक ध्यान-योगी हुए। दूसरी शाखा सोतो नाम की है। इसकी स्थापना येइ-साइ के बाद उनके शिष्य दो गेन् (सन् १२००-१२५३) ने की। इसका सम्बन्ध चीनी महात्मा हुइ-नेंग के शिष्य चिंग्-यू आन् और उनके शिष्य शिह्-ताउ (सन् ७००-७९०)से रहा है। तीसरी शाखा ओबाकु नाम की है। इसका स्थापना इंजेन (सन् १५९२-१६७३) ने की। मूल रूप में इसके प्रवर्तक चीनी महात्मा हुआङ्-पो थे जिनका समय ९ वीं शती है और जो हुइ-नेंग् की शिष्य-परम्परा की तीसरी पीढ़ी मे थे। यह शाखा बौद्ध के नाम-जप से मुक्ति-प्राप्ति सम्भव मानती है।[1]

उपर्युक्त विवरण से सूचित होता है कि ध्यान-तत्त्व का बीज भारत से चीन-जापान गया, वहाँ वह अंकुरित ही नहीं हुआ, पल्लवित, पुष्पित और फलित भी हुआ। वहाँ के जन-जीवन में (विशेषतः जापान में) यह तत्त्व घुलमिल गया है। वह केवल अध्यात्म तक ही सीमित नहीं रहा, उसने पूरे जीवन-प्रवाह में अपना ओज और तेज बिखेरा है। येइ-साइ की एक पुस्तक 'कोजन-गोकोकुरोन' (ध्यान के प्रचार के रूप में राष्ट्र की सुरक्षा) ने ध्यान को वीरत्व और राष्ट्र-सुरक्षा से भी जोड़ दिया है। जापानी सिपाहियों में ध्यान का व्यापक प्रचार है। मनोबल, अनुशासन दायित्व-बोध और अन्तर्निरीक्षण के लिए वहाँ ध्यानाभ्यास आवश्यक माना जाता है। जापान ने स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बनकर जो प्रगति

१. द्रष्टव्य—ध्यान सम्प्रदाय : डॉ० भरतसिंह उपाध्याय,

की है, उसके मूल में ध्यान की यह ऊर्जा अवश्य प्रवाहित है। मुझे लगता है, पश्चिमी राष्ट्रों में जो ध्यान का आकर्षण बढ़ा है वह उसी ध्यान-तत्त्व का प्रसार है, चाहे यह प्रेरणा उन्हे सीधी भारत से मिली हो चाहे चीन-जापान के माध्यम से।

यह इतिहास का कटु सत्य है कि वर्तमान भारतीय जन-मानस अपनी परम्परागत निधि को गौरव के साथ आत्मसात् नहीं कर पा रहा है। जब पश्चिमी राष्ट्र का मानस उसे अपना लेता है या उसकी महत्ता-उपयोगिता प्रकट कर देता है तब कहीं हम उसे अपनाने का प्रयत्न करते हैं और अपने घर में प्रवासी से लगते हैं। 'ध्यान' भी इस सन्दर्भ से कटा हुआ नहीं है। पश्चिम मे जब 'हरे राम हरे कृष्ण' की धुन लगी तब कहीं जाकर हमें अपने ध्यान-योग की गरिमा का बोध हुआ।

यह 'बोध' स्वागत-योग्य है क्योंकि इसके द्वारा हमें विलुप्त होती हुई ध्यान-साधना की अन्तःसलिला को फिर से पुनर्जीवित करने का अवसर मिला है। मध्य-युग में आकर यह धारा निर्गुण-वाणी में आबद्ध हो गई थी और बाद मे किन्हीं सामाजिक एवं प्राकृतिक कारणों से मन्द पड़ गई। पर जिस माध्यम से यह 'बोध' हुआ है उसके कई खतरे भी हैं। एक खतरा तो यह कि हम इसे फैशन के रूप में ही ग्रहण करते चले जांय, दूसरा यह कि हम इसे केवल जड़ मनोविज्ञान की चेतना के धरातल पर ही स्वीकार करके रह जांय और इसे वस्तु या विचार के साथ मन के समायोजन तक ही सीमित कर दें। तीसरा यह कि हम वैज्ञानिक चिन्ता-धारा को छोड़ मध्ययुगीन संस्कारों में फिर बँध जांय।

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है हमारे यहाँ योग-साधना भोग की प्रतिक्रिया में आविर्भूत नहीं हुई है। उसका उद्देश्य महान् है। वह चरस, गांजा का विकल्प नहीं है और न है मन का वैलासिक उपकरण। उसके द्वारा आत्मा के स्वभाव को पहचान कर उसमें रमण करने की चाह जागृत की जाती है, चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है—इस प्रकार कि वह जड़ नहीं बने वरन् सूक्ष्म होती हुई शून्य हो जाय, रिक्त नहीं वरन् अनन्त शक्ति और आनन्द से भर जाय।

आज की प्रमुख समस्या शान्ति की खोज की है। मानव-मस्तिष्क ने शान्ति की खोज में इतनी अधिक प्रगति की है कि उसने प्रकृति की सभी भौतिक शक्तियों को अपना वशवर्ती बना लिया है, पर फिर भी वह अशान्त है क्योंकि उसकी इन्द्रियां और मन बाहरी वस्तुओं में संतृप्ति

ढूँढते हैं। पर संतृप्ति के बदले उनको मिलता है—संत्रास, तनाव और तृष्णा का अलघ्य क्षेत्र। शान्ति को ढूँढने की यह सही विधि नहीं है। शान्ति आत्मा का स्वभाव है। उसकी प्राप्ति के लिए बाहर नहीं, अन्तर की ओर देखना होता है, अन्तर्मुखी बनना पड़ता है। ध्यान अन्तर्मुखी बनने का साधन है। जो इस साधना में जितना सूक्ष्म-शून्य बनता जायगा, वह उतनी ही मात्रा में शान्ति की अनुभूति करता जायगा।

आज का मानस चंचल है, अस्थिर है, ध्यान उसमें स्थिरता और सन्तुलन की स्थिति पैदा करता है। तकनीकी विकास ने हमारे जीवन को आज सर्वाधिक गतिशील और तीव्र बना दिया है। आवश्यकता है कि हम इस तीव्रता और गतिशीलता में भी स्थिर और दृढ़ रह सकें। ध्यान इसके लिए भूमि तैयार करता है। वह मानसिक सक्रियता को जड़ नहीं बनाता, चेतना के विभिन्न स्तरों पर उसे विकसित करता चलता है। आन्तरिक ऊर्जा को जागरूक करता चलता है। उससे आत्मशक्ति की बैटरी चार्ज होती रहती है। वह कमजोर नहीं होती। यह ध्याता पर निर्भर है कि वह उस शक्ति का उपयोग किस दिशा में करता है। यहाँ के मनीषी उसका उपयोग आत्म-स्वरूप को पहचानने में करते रहे। जब आत्म-शक्ति विकसित और जागृत हो जाती है, हम उसी तुलना में विघ्नों पर विजय प्राप्त करते चलते हैं। प्रारम्भ में हम भौतिक और बाहरी विघ्नों पर विजय प्राप्त करते हैं पर जब शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है तब हम आन्तरिक शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। आज आन्तरिक खतरे अधिक सूक्ष्म और बलशाली बन गये हैं, उन्हे वशवर्ती बनाने के लिए ध्यानाभ्यास आवश्यक हो गया है।

ध्यान आध्यात्मिक ऊर्जा का स्रोत तो है ही, सामाजिक शालीनता और राष्ट्रीय एकता की संवृद्धि में भी उससे सहायता मिल सकती है। ध्यान-साधना जीवन से पलायन नहीं, वरन् जीवन को ईमानदार, सदाचारनिष्ठ, कलात्मक और अनुशासनबद्ध बनाये रखने का सहज मार्ग है।

ध्यान सम्बन्धी यह वैविध्यपूर्ण सामग्री इस दृष्टि से प्रस्तुत की जा रही है कि विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कृतियों के लोग इस ध्यान-तीर्थ पर एक साथ मिल बैठ अपनी आत्म-शक्ति को पहचानें और परम सत्य से साक्षात्कार करने की ओर प्रयत्नशील हों। विद्वान लेखकों ने जिस तत्परता और अपनत्व के साथ सहयोग दिया, तदर्थ हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

ध्यान : एक अध्ययन

● आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

ध्यान की आवश्यकता :

संसार के साधारण प्राणी का मन निरन्तर इतस्तत: इतना गतिशील रहता है कि वह क्षण-पल में ही त्रिलोकी की यात्रा कर लेता है। वस्तुतः उसकी गति शब्द, वायु और विद्युत् से भी अतीव द्रुततर है। मन की इस असीम चंचलता से प्राणी अपना सही स्वरूप भी नही जान सकता, पर-पदार्थों को रमणीय समझ कर उनकी प्राप्ति के लिये लालायित रहता है। पौद्गलिक होने के कारण उसका अपने सजातीय विषय-कषाय की ओर यह आकर्षण होना सहज भी है। जिस प्रकार एक अशिक्षित बालक मिट्टी में खेलने का शौकीन होने के कारण मिट्टी में खेलते हुए साथियों को देखते ही उनकी ओर दौड़ लगाता है, ठीक उसी प्रकार मन भी पौद्गलिक होने के कारण शब्दादि विषयों की ओर सहज ही आकृष्ट होता रहता है। वह इन्द्रियों के माध्यम से शब्द, रूप, रस, गन्ध व नाना प्रकार के सुखद सुरम्य स्पर्शादि को जानता, पहिचानता एवं स्मरण करता हुआ अनुकूल की चाह और प्रतिकूल के विरोध व परिहार में मानव को सदा परेशान करता रहता है। जब तक उसकी चाह पूर्ण नहीं हो जाती तब तक वह राग से आकुल-व्याकुल हो आर्त्त-ध्यान करता और इष्ट प्राप्ति में बाधक को अपना विरोधी समझ उससे द्वेष कर रौद्र रूप धारण करता है।

इस प्रकार राग-द्वेष की आकुलता से मानव-मन सदा अशान्त, क्षुब्ध और दुःखी रहता है। इस चिरकालीन अशान्ति को दूर करने हेतु मन की गति को मोड़ना आवश्यक माना गया है। कारण कि इष्टानिष्ट की ओर मन का स्थिर होना तो अधोमुखी जल प्रपात की तरह

सरल है किन्तु इष्टानिष्ट की चिन्ता रहित मानसिक स्थिरता व स्वस्थता के लिये ध्यान-साधन की आवश्यकता होती है।

ध्यान का स्वरूप और व्याख्या :

विषयाभिमुख मन को विषयों से मोड़ कर स्वरूपाभिमुख करने की साधना का नाम ही योग अथवा ध्यान है।

ध्यान वह साधना है जो मन की गति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी एवं बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। जैन शास्त्रों में इसको आन्तरिक तप माना है। ध्यान के बल से विचारों में शुद्धि होती और उनकी गति बदलती है।

ध्यान की दो दशाएँ हैं—प्रथम साधना और दूसरी सिद्ध दशा। साधना दशा के लिये आचार्यों ने आहार-विहार, संग और स्थान की अनुकूलता आवश्यक मानी है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि समाधि का भी श्रमण प्रमाणयुक्त और निर्दोष आहार ग्रहण करे, गुणवान् मित्र को सहायक बनावे और एकान्त शान्त स्थान पर साधना करे।[1] इसका कारण यह है कि आहार-विहार एवं संग शुद्धि से तन-मन शान्त और स्वस्थ रहता है। जिससे ध्यान की साधना सरलता से होती है। कहा भी है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् उचित आहार-विहार, साध्य के अनुकूल कार्य-सिद्धि हेतु चेष्टाओं एवं उचित निद्रा तथा जागरण से साधना दुःख दूर करने वाली होती है। साधनाकाल में ध्यानी के लिये इन साधनों की ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र ने भावना, चिन्ता, अनुप्रेक्षा और ध्यान—इस प्रकार ध्यान के चार भाग किये हैं। उन्होंने मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियों का

---

१. आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं, सहाय मिच्छे निउणट्ठ बुद्धि।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी॥४॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ३२

भी विचार किया है। आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने पार्थिवी, आग्नेयी आदि पांच धारणाओं का उल्लेख कर पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान के चार भेद किये हैं। पर आगम साहित्य में इनका वर्णन नहीं मिलता। जैनागम, स्थानांग और भगवती सूत्र मे धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के सोलह-सोलह भेद बतलाये हैं। आवश्यक की हारिभद्रीय वृत्ति में ध्यान का विशद वर्णन किया है। उसमें लक्षण और आलम्बन को भी ध्यान के भेद रूप से बताया गया है।

वैदिक परम्परा मे जहाँ आरम्भ से ही 'चित्तवृत्ति-निरोध' को योग या ध्यान माना है वहाँ जैन शास्त्रों में ध्यान का आरम्भ चित्रवृत्तियों का सब ओर से निरोध कर किसी एक विषय पर केन्द्रित कर उस पर चिन्तन करना माना है।

प्राचीन समय के साधु और श्रावक रात्रि के प्रशान्त वातावरण में धर्म-जागरण किया करते थे। उसमें अनवरत शुभ चिन्तन के माध्यम से मन की रुचि को बदलने का मनोयोग के साथ पूर्ण प्रयास किया जाता और इस प्रक्रिया से मन की रुचि को बदल दिया जाता था। मन की रुचि बदलने से सहज ही दूसरी ओर से मन की गति रुक जाती और इसके फलस्वरूप साधक को अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती। मन की गति में सहज स्थिरता और निर्मलता लाना यही सहज ध्यान है। इसी को राजयोग कह सकते हे।

अतः परम तत्त्व के चिन्तन में तल्लीनता मूलक निराकुल स्थिति को प्राप्त कराने वाला ध्यान ही यहाँ इष्ट है। उसके अधिकारी वे ही जीव होते हैं जो मंदकषायी, जितेन्द्रिय और ज्ञानी हैं। वे ही योग्य ध्याता तथा परम तत्त्व एवं उसकी प्राप्ति का उपाय ही ध्येय और ध्येय के चिन्तन में चित्त की निराकुल स्थिति एवं एकाग्रता की साधना को ही ध्यान समझना चाहिये।

ध्यान की विविध पद्धतियाँ :

व्यवहार पक्ष में आजकल जो चार्ट पर काली बिन्दु या ओम् आदि के निशान बना कर ध्यान लगाया जाता है, वह भी ध्यान का एक प्रकार है। अभ्यास के लिये ऐसी अन्य भी विविध पद्धतियाँ हैं। इच्छा शक्ति के विविध चमत्कार भी ध्यान के ही प्रतिफल है।

शास्त्रीय परम्परा में जैसे आज्ञा विचय आदि चिन्तन के प्रकार और पदस्थ, पिंडस्थ आदि ध्यान के जो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं उनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने कुण्डलिनी जागरण के मार्ग से तो दूसरे ने अनहद नाद श्रवण से मन को स्थिर करना बतलाया है। कुछ अनुभवियों ने संसार व्यवहार में उदासीन भाव से रहने के अभ्यास को चित्त की स्थिरता का साधन माना है। व्यवहार में एक अन्य सरल मार्ग अपनाया जाता है जिसे शरीर और मन को शिथिल कर सुखासन से बैठना या शयनासन से लेटना भी विचार के जंजालों से मुक्त कर समाधि पाने का उपाय माना है। ये सब अभ्यास काल में साधना के प्रकार मात्र ही हैं स्थायित्व तो वैराग्य भाव की दृष्टि से चित्त शुद्धि होने पर ही हो सकता है। इसलिये ध्यान के लिए ध्यान-साधना के पश्चात् चिन्तन रूप, एकाकी, अनित्य, अशरण आदि चार भावनाओं का चिन्तन आवश्यक माना गया है।

ध्यान की प्राथमिक भूमिका :

ध्यान के विषय में विचार करने के लिए ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीन बातों का ज्ञान करना आवश्यक होगा। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने प्रिय कार्य अथवा पदार्थ में ध्यानशील होता रहा है। कामी का काम्य पदार्थ में, भोगी का भोग्य पदार्थ मे, रोगी का रोग निवारण में, अर्थी का अर्थ साधन में, ज्ञानी का तत्त्व चिन्तन में एवं भक्त का भगवच्चरण में मन डूबा रहना सहज है। अर्थ और काम का चिन्तन कर्मोदयजन्य अर्थात् कर्म (प्रारब्ध) का फल होने के कारण प्रयत्नसाध्य नहीं होता। अर्थ तथा काम के चिन्तन में प्राणी इतना तन्मय हो जाता है कि वह मोहवश हो सुधबुध तक भूल जाता है। फिर भी उसका वह आत्यान्तिक तन्मयतापूर्ण ध्यान किसी भी दशा में उपादेय नही माना जाता क्योंकि वह भवताप बढ़ाने वाला होने के कारण हितकर नहीं अपितु अहितकर होता है।

ध्यान के विषय में जैनागम और जैन साहित्य में विस्तृत वर्णन किया गया है। जैन सूत्रों में, खास कर स्थानांग, भगवती और उववाई में भेद-प्रभेद सहित ध्यान का वर्णन उपलब्ध होता है। अर्वाचीन ग्रन्थों में, हरिभद्र का योग शतक, योगबिन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, हेमचन्द्र का योग शास्त्र, शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव और ध्यान शतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन सब ने ध्यान-साधना से पूर्व विषय-कषाय का मन्द होना आवश्यक माना है। जो जितेन्द्रिय और उपशान्त कषायी होगा, वही सरलता से

ध्यान का साधन कर सकेगा। जब तक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को त्याग कर साधक काम क्रोध आदि को मन्द नही कर लेता तब तक वह ध्यान का अधिकारी नहीं होता। अधिकारी के स्वरूप और आसन आदि का विधान करते हुए गीता में श्री कृष्ण ने भी कहा है कि मन एवं इन्द्रियों की वृत्तियों का संयमन कर साधक अनुकूल आसन पर बैठे और मन को एकाग्र कर आत्म शुद्धि के लिए योग का साधन करे। यथा—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यत चित्तेन्द्रिय क्रियः।
उपविश्यासने युंज्यात्, योगमात्म विशुद्धये॥

शब्द शास्त्र के अनुसार "ध्यै" चिन्तायाम धातु से 'ध्यातिर्ध्यानम्'-इस व्युत्पत्ति द्वारा ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है जिसका अर्थ होता है अन्तर्मुहूर्त मात्र तक स्थिरता पूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन करना। जैन शास्त्रों में इसी अर्थ मे ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण रूपेण निरोध धर्म-ध्यान में सम्भव नहीं। यही कारण है कि छद्मस्थ का एक वस्तु पर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त स्थिर चित्त रहना ही ध्यान कहा गया है। चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण रूपेण निरोध तो वस्तुतः केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकता है। जैसा कि कहा है—

अन्तोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक साधक धर्म ध्यान का ही अधिकारी माना गया है। छद्मस्थ द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का धर्म ध्यान सविकल्प होते हुए भी निवात स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान निष्कम्प, निश्चल एवं उसी वस्तु के चिन्तन की परिधि में अडोल होता है।

इस धर्म ध्यान के ४ भेद बताये गये हैं। यथा।—

आप्तवचनं प्रवचनमाज्ञा विचयस्तदर्थ निर्णयनम्।
आश्रव विकथा गौरव, परीषहाद्यैरपायस्तु ॥१॥

अशुभ शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाक विचयः स्यात्।
द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु ॥ २ ॥

—स्थानांग टीका, स्थान ४, उद्देशा १

अर्थात्—(१) आणा विजए—आज्ञा का विचार, (२) अवाय विजए—दोष का विचार, (३ विवाग विजए—कर्म के शुभाशुभ फल का विचार और (४) संठाण विजए—लोक सस्थान का विचार, ये धर्म ध्यान के शास्त्रीय चार प्रकार है।

ध्यान का प्रारम्भ ·

ध्यान का प्रारम्भ भावनाओ से होता है। भावनाये चार प्रकार की हैं। (१) एकात्वनुप्रेक्षा—अर्थात् एकाकी भावना। इस एकाकी भावना में एकत्व की भावना का इस प्रकार चिन्तन किया जाता है :—

एकोऽहं न च मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति मो मम ॥ १ ॥

अर्थात् मैं एक हूँ। कोई अन्य ऐसा नही है जिसे मै अपना कह सकूँ और न मै स्वयं भी किसी और का हूँ। मुझे संसार मे ऐसा कोई दृष्टि-गोचर नही होता। जिसका कि मैं कहा जा सकूँ अथवा जिसको मै अपना कह सकूँ। मैं स्वय ही अपने सुख-दु.ख का निर्माता हूँ। एकत्वानुप्रेक्षा अर्थात् एकाकी भावना में इस प्रकार आत्मा के एकाकीपन और असहाय रूप का विचार (चिन्तन) किया जाता है।

(२) दूसरी भावना है अनित्यानुप्रेक्षा—अर्थात् शरीर, सपदा आदि की अनित्यता की भावना। इस दूसरी भावना में शरीर और सम्पत्ति आदि की क्षणभगुरता-एवं अनित्यता पर चिन्तन करना चाहिये कि शरीर के साथ रोग का अपाय हैं। सम्पदा आपद् का स्थान है, सयोग वियोग वाला है। जो उत्पन्न होता है वह सब क्षणभंगुर नाशवान् है।

(३) तीसरी भावना है-अशरणानुप्रेक्षा अर्थात् अशरण की भावना। यथा :—

जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधि वेदना ग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र, नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥

अर्थात्—जन्म, जरा, मरण के भय से अति बीभत्स, व्याधि और वेदना से सयुक्त एवं संत्रस्त इस असार ससार मे जिनवाणी के अतिरिक्त

और कोई अन्य इस आत्मा को शरण देने वाला एवं इसकी रक्षा करने वाला नहीं है।

(४) चौथी संसारानुप्रेक्षा अर्थात् संसारभावना में निम्नलिखित रूप से संसार के संबंध में चिन्तन किया जाता है :—

माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृत्वं, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव॥

संसारानुप्रेक्षा में इस प्रकार की भावना से चिन्तन किया जाता है कि जीव एक जीव की माता बन कर फिर उसी जीव की पुत्री के रूप में जन्म ग्रहण करता है। फिर कालान्तर में वह उसी जीव की बहन के रूप में और पुनः भार्या के रूप में जन्म ग्रहण करता है। इस संसार में पुत्र कभी जन्मान्तर में पिता के रूप में तदनन्तर भाई के रूप में और कभी किसी जन्मान्तर में शत्रु के रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसार का कोई नाता अथवा सम्बन्ध स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। संसार के सभी सम्बन्ध बदलने वाले हैं अतः किसी के साथ मोह अथवा ममता के बन्धन में बन्ध जाना सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं है।

इस प्रकार की इन एकाकी, अनित्य आदि भावनाओं से तन, धन, वैभव आदि को नाशवान और अशरण भावना द्वारा इनको अवश्यंभावी विनाश से बचाने में असमर्थ समझने पर भला बालू की दीवार पर गृह निर्माण की तरह उनकी कोई भी ज्ञानी क्यों चाह करेगा ?

इस तरह संसार के पदार्थों से मोह कम होने पर मन की दौड़ भी स्वतः ही कम और शनैः शनैः समाप्त हो जायगी। मन की चंचलता कम करने का यह पहला उपाय है।

मन की चंचलता कम करने के पश्चात् आगे की दूसरी प्रक्रिया यह है कि एकत्व भाव, संवर, निर्जरा, धर्म एवं बोधि भाव से मन को परिष्कृत करते हुए यह समझाया जाय कि ओ मन ! तेरी श्रद्धा के योग्य इस संसार में केवल एक आत्मदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं है। आत्मा और तदनुकूल वृत्ति ही उपादेय एवं हितकर है। मन को यह समझाकर उसे पर-द्रव्य से मोड़ कर आत्मनिष्ठ बनाया जाता है। ज्ञान-बल से सांसारिक (इहलौकिक) पदार्थों को आत्मा से भिन्न पर एवं नश्वर समझ

लेने से उनकी ओर का सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह ध्यान साधना की पहली कक्षा अथवा भूमिका है।

ध्यान साधना की दूसरी भूमिका में चिन्तन किया जाता है—"किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं ?" अर्थात् मैंने क्या-क्या कर लिया है और मुझे क्या-क्या करना अवशिष्ट है आदि।

तीसरी भूमिका में आत्म-स्वरूप का अनुप्रेक्षण कर स्वरूप रमणता प्राप्त की जाती है और चतुर्थ भूमिका में राग-रोष को क्षय कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त की जाती है।

ध्यान से लाभ :

ज्ञान की अपरिपक्वावस्था में जिस प्रकार एक बालक रंग-बिरंगे खिलौनों को देखते ही कुतूहल वश हठात् उनकी ओर आकर्षित हो उन्हें प्राप्त करने के लिये मचल पड़ता है किन्तु कालान्तर में वही प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो परिपक्व समझ हो जाने के कारण उन खिलौनो को ओर आँख उठाकर भी नही देखता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानान्धकार से आच्छन्न मन सदा प्रतिपल विषय-कषायों की ओर आकर्षित होता रहता है परन्तु जब मन को ध्यान-साधना द्वारा बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बना दिया जाता है तो वही ज्ञान से परिष्कृत मन विषय-कषायों से विमुख हो अध्यात्म की ओर उमड़ पड़ता हे और साधक ध्यान की निरन्तर साधना से अन्ततोगत्वा समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर शाश्वत सुखमय अजरामर मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

जैन परम्परा की विशेषता :

जैन, वैदिक और बौद्ध आदि सभी परम्पराओं में ध्यान का वर्णन मिलता है। वैदिक परम्परा मे पवनजय को मनोजय का प्रमुख साधन माना गया है। उन्होने यम-नियम आदि को ध्यान का साधन मानकर भी आसन प्राणायाम की तरह इन्हें मुख्यता प्रदान नहीं की है। योगाचार्य पतंजलि ने भी समाधि पाद में मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा भाव से चित्त शुद्धि करने पर मन-स्थैर्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्। —योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३३—

इस प्रकार का शुद्धिकरण पूर्वक स्थिरीकरण सूत्रार्थ-चिन्तन प्रथम प्रहर मे और द्वितीय प्रहर में ध्यान। रात्रि के कार्यक्रम मे भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। यह ध्यान सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन मे ही हो सकता है न कि चित्त वृत्तियों के नितान्त निरोध के रूप में।

जैन परम्परा की ध्यान परिपाटी के अनुसार किसी एक विषय पर तल्लीनता से चिन्तन करना ध्यान का प्रथम प्रकार है। इसे सविकल्प ध्यान तथा स्थिरैक भाव रूप ध्यान के दूसरे प्रकार को निर्विकल्प ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यान में ही ध्यान की यह निर्विकल्प दशा हो सकती है। शरीर की अन्यान्य क्रियाओं के चलते रहने पर भी यह ध्यान निर्बाध गति से चलता रहता है, ऐसा जैन शास्त्रों का मन्तव्य है। सविकल्प ध्यान धर्म ध्यान के आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए और सठाण विजए—इन चार भेदों का उल्लेख करते हुए पहले बताया जा चुका है कि उनमें क्रमशः आज्ञा, रागादि दोषो, कर्म के शुभाशुभ फल और विश्वाधार भूत लोक के स्वरूप पर विचार किया जाता है तथा निर्विकल्प शुक्ल ध्यान में आत्म-स्वरूप पर ही विचार किया जाता हे।

ध्यान के प्रभेद :

प्रकारान्तर से ध्यान के अन्य प्रभेद भी किये गये हैं। जैसे—१. पदस्थ, २. पिण्डस्थ, ३ स्वरूपस्थ और ४. रूपातीत।

१. पिण्डस्थ ध्यान में—पार्थिवी आदि पंचविध धारणा में मेरुगिरि के उच्चतम शिखर पर स्थित स्फटिक-रत्न के सिंहासन पर विराजमान चन्द्रसम समुज्ज्वल अरिहन्त के समान शुद्ध स्वरूप मे आत्मा का ध्यान किया जाता है।

२. दूसरे पदस्थ ध्यान में 'अर्हं' आदि मन्त्र पदों का नाभि या हृदय में अष्टदल—कमल आदि पर चिन्तन किया जाता है।

३. तीसरे रूपस्थ ध्यान में अनन्त चतुष्टय युक्त देवाधिदेव अरिहन्त का चौंतीस अतिशयों के साथ चिन्तन किया जाता है।

निराकार ध्यान को कठिन और असाध्य समझकर जो साधक किसी आकृति विशेष का आलम्बन लेना चाहते है उनके लिये भी अपने इष्ट

गुरुदेव की त्याग-विरागपूर्ण मुद्रा का ध्यान सरल और सुसाध्य हो सकता है। इस प्रकार के ध्यान में वीतराग भाव की साधना करने वाले आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु सद्‌गुरु का ध्यान मुद्रा या प्रवचन मुद्रा में चिन्तन करना भी रूपस्थ ध्यान का ही अङ्ग समझना चाहिये।

४. रूपस्थ ध्यान के स्थिर होने पर अमूर्त, अजन्मा और इन्द्रियातीत परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान कहा जाता है। जैसा कि आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है :—

> चिदानन्दमयं शुद्ध—ममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
> स्मरेद् यत्रात्मनात्मानं, तद्रूपातीतमिष्यते ।।
>
> —ज्ञानार्णव, स० ४०—

इस चौथे—रूपातीत ध्यान में चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान को साकार और रूपातीत ध्यान को निराकार ध्यान समझना चाहिये। पदस्थ ध्यान में अर्थ चिन्तन निराकार और अष्टदल-कमल आदि पर पदों का ध्यान करना साकार में अन्तर्हित होता है।

ध्यान से शान्ति :

संसार के प्राणिमात्र की एक ही चिरकालीन अभिलाषा है—शान्ति। धन-सम्पत्ति, पुत्र, मित्र और कलत्र आदि बड़ी से बड़ी सम्पदा, विशाल परिवार और मनोनुकूल विविध भोग सामग्री पाकर भी मानव बिना शान्ति के दुःखी एवं चिन्तित ही बना रहता है। बाहर-भीतर वह इसी एक खोज में रहता है कि शान्ति कैसे प्राप्त हो। किन्तु जब तक काम, क्रोध, लोभादि विकारों का अन्तर में विलय या उन पर विजय नहीं कर लेता तब तक शान्ति का साक्षात्कार सुलभ नहीं। बिना शान्ति के स्थिरता और एकाग्रता नहीं तथा बिना एकाग्रता के पूर्ण ज्ञान एवं समाधि नहीं। क्योंकि ध्यान साधना ही शान्ति, स्थिरता और समाधि का एक मात्र राम बाण उपाय है।

उस शान्ति की प्राप्ति हेतु शास्त्रीय ध्यान पद्धति को आज हमें पुनः सक्रिय रूप देना है। प्रातःकाल के शान्त वातावरण में अर्हंत देव को द्वादशवार वन्दन कर मन में यह चिन्तन करना चाहिये—"प्रभो! काम, क्रोध, भय और लोभादि दोषों से आप सर्वथा अलिप्त हैं। मैं अज्ञान वश

इन दोषों में से किन-किन दोषों को नहीं छोड़ सका हूँ; मेरे अन्दर कौनसा दोष प्रबल है?"

फिर दोषों से होने वाले अशुभ फलों का विचार कर दोष-निवारण का दृढ़ संकल्प करना, यह जीवन सुधार का चिन्तन रूप ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान का सरलता से अभ्यास जमाने हेतु अपने शान्त-दान्त-संयमी प्रिय गुरुदेव का जिस रूप में उन्हें उपदेश एवं प्रवचन करते देखा है, उसी मुद्रा में उनके स्वरूप का चिन्तन करे कि गुरुदेव मुझ कृपा कर उपदेश कर रहे हैं आदि। देखा गया है कि अन्तर्मन से गुरु चरणों में आत्म-निवेदन कर दोषों के लिये क्षमायाचना करते हुए भी परम शान्ति और उल्लास प्राप्त किया जा सकता है।

अपने अनुभव :

एक बार की बात है कि मैं तन से कुछ अस्वस्थ था, निद्रा नहीं आ रही थी। बरामदे में चन्द्र की चाँदनी में बाहर बैठा गुरुदेव का ध्यान करते हुये कह रहा था—"भगवन्! इन दिनों शिष्य की सुध-बुध कैसे भूल बैठे हो? मेरी ओर से ऐसी क्या चूक हो गई जो आपका ज्ञान प्रकाश मुझे इन दिनों प्राप्त नहीं हो रहा है? क्षमा करो गुरुदेव! क्षमा करो" कहते-कहते दो बार मेरा हृदय भर आया, नयन छलक पड़े। क्षण भर पश्चात् ही मेरे अन्तर में एक प्रकाश की लहर उठी और हृदय के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई। मैं अल्पकाल के लिये आनन्द विभोर हो गया।

दूसरी एक बात नसीराबाद छावनी की है। वहाँ एक दिन शरीर ज्वरग्रस्त होने से निद्रा पलायन कर रही थी। सहसा सीने के एक सिरे में गहरी पीड़ा उठी। मुनि लोग निद्राधीन थे। मैंने उस वेदना को भुला देने हेतु चिन्तन चालू किया—"पीड़ा शरीर को हो रही है, मैं तो शरीर से अलग हूँ, शुद्ध, बुद्ध अशोक और नीरोग। मेरे को रोग कहाँ? मैं तो हड्डीपसली से परे चेतन रूप आत्मा हूँ। मेरा रोग-शोक-पीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो आनन्दमय हूँ।"

क्षण भर में ही देखता हूँ कि मेरे तन की पीड़ा न मालूम कहाँ विलीन हो गई। मैंने अपने आपको पूर्ण प्रसन्न, स्वस्थ और पीड़ा रहित पाया। देश काल से अन्तरित वस्तु या विषय का भी ध्यान-बल से साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह है ध्यान की अनुभूत अद्भुत महिमा। ●

ध्यान : परिभाषा और स्वरूप

● श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस'

परिभाषा :

'योग शास्त्र' में मन की चार दशाओं का वर्णन किया गया है—

१—विक्षिप्त दशा, २—यातायात दशा, ३—श्लिष्ट दशा, ४—सुलीन दशा।

निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते रहना, अति चंचलता, अस्थिरता, पूर्वापर विरोध—यह सब विक्षिप्त मन की स्थिति है। यातायात मन—कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुख, वह कहीं एक ही विषय पर स्थिर नहीं हो सकता, सदा पवन की तरह गतिशील और अप्रतिबद्ध रहता है। श्लिष्ट मन—कभी-कभी स्थिर तो होता है, पर उसकी स्थिरता प्रायः क्षणिक ही होती है, दूसरे—वह अधिकतर अशुभ और अपवित्र विषयों पर ही जा टिकता है, उसमें स्थिरता कम होती है और स्थिरता में पवित्रता तो होती ही नहीं। मन की चौथी दशा है—'सुलीन।' सुलीन दशा में मन किन्हीं शुभ विषयों पर पवित्र भावनाओं में स्थिरता व एकाग्रता प्राप्त कर लेता है।

मन की यह 'सुलीन दशा'—अर्थात् एकाग्रता, स्थिरता, एकलीनता ही 'ध्यान' शब्द से पहचानी जाती है।

जब हम 'ध्यान' शब्द बोलते हैं तो प्रायः हमारा संकेत मन की एकाग्रता की ओर ही रहता है। भाषण देते-देते वक्ता, जब कभी श्रोताओं से यह कहता है—'जरा ध्यान दीजिये', अथवा 'मैं आपका ध्यान इस ओर खींचना चाहता हूँ'। तो वहाँ उसका आशय मन के विशेष झुकाव से ही होता है, मन को किसी विषय पर स्थिर करने या किसी महत्त्वपूर्ण विषय की ओर मोड़ने के लिये प्रायः ध्यान शब्द का प्रयोग

वहाँ किया जाता है। "प्रवचन सुनते-सुनते श्रोता ध्यान मग्न हो रहे थे, अचानक कोई बच्चा चिल्लाया और सबका ध्यान भंग हो गया, या ध्यान दूसरी ओर चला गया।" इस प्रकार 'ध्यान' शब्द हमारे रात-दिन प्रयोग का एक शब्द है और प्रायः मन की स्थिरता के अर्थ मे ही हम उसका उपयोग करते है। यह एक आश्चर्य की बात है कि 'ध्यान' जैसे अध्यात्म-क्षेत्र के गहन गम्भीर शब्द का, हम जीवन-व्यवहार में प्रायः प्रयोग करते रहते हैं और लगभग सही अर्थ में। इसका माने है—अध्यात्म हमारे जीवन में बहुत घुला-मिला है, निकटतम है।

प्राचीन आचार्यों ने ध्यान की जो परिभाषाएँ की हैं, वे प्रायः एकाग्रता के अर्थ से ही जुडी हैं। मन शक्तियों का मूल स्रोत है और वे शक्तियाँ तब जागृत होती है, जब मन एकाग्र होता है, किसी एक विषय पर केन्द्रित होता है। जिसे हम 'इच्छा शक्ति' (Will Power) कहते हैं, वह भी मन की एकाग्रता का ही चमत्कार है। इसलिये अध्यात्म और मनोविज्ञान-मन की एकाग्रता पर बहुत अधिक बल देते आये है। बिखरा मन शक्ति को बिखेर देता है, एकाग्र मन शक्तियों को उत्पन्न करता है। अतः सर्व प्रथम मन को एकाग्र व स्थिर करने के लिए आचार्यो ने 'ध्यान' का मार्ग बताया अथवा यों कह सकते है कि उस एकाग्रता को ही 'ध्यान' कह दिया।

महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु तथा हेमचन्द्र आदि ने चित्त की एकाग्रता को ही 'ध्यान' संज्ञा दी है[1]। जैन आगमों में[2] ध्यान के चार भेद बताये गये हैं–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। टीकाकार आचार्यो का मत है कि यहां 'ध्यान' शब्द से अभिप्राय- चित्त की एकाग्रता, एकाग्र चिंतन, एक विषय पर केन्द्रित विचार प्रवाह आदि से ही है, इसीलिए अशुभ एवं अपवित्र विचारों की लीनता को भी आर्त्त रौद्र ध्यान में गिन लिया गया है। कहने का अर्थ यह है कि 'ध्यान' शब्द की परिधि मे वह सब प्रकार का चिंतन आ गया है

१. (क) चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। —आवश्यक निर्युक्ति १४५६
(ख) ध्यानं तु विषये तस्मिन् एक प्रत्यय संततिः।
—अभिधान चिंतामणि १।८४

२. स्थानांग ४, भगवती २५।७ एवं औपपातिक सूत्र

जिसमें एकाग्रता होती हो, चाहे वह शुभ हो या अशुभ। इसप्रकार ध्यान का सीधा और प्रचलित अर्थ हुआ — चित्त की एकाग्रता! स्थिर चिंतन व मनकी सुलीन दशा!

'ध्यान' जब व्यावहारिक-क्षेत्र से हटकर शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ में आता है तो वह अपने साथ कुछ नये अर्थ, नया स्वरूप और नया परिवेश भी ले आता है। आध्यात्म व योग साधना के क्षेत्र में ध्यान का अर्थ भी बदल गया है और स्वरूप भी। अध्यात्म क्षेत्र के आचार्यों ने आर्त्त एवं रौद्र ध्यान को ध्यान की सीमा से हटा दिया है, वहाँ सिर्फ धर्म एवं शुक्ल ध्यान को ही स्थान मिला हैं।[३] वहाँ चित्त की एकाग्रता मात्र को ध्यान नहीं माना है, किन्तु शुभ विषय मे चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान के पवित्र आसन पर बैठने का अधिकार मिला है। आचार्य सिद्ध-सेन ने कहा है—'शुभैक प्रत्ययो ध्यानं'[४] दीपक की स्थिर लौ के समान शुभ लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। एक आचार्य ने बतलाया है—आत्मा का आत्मा मे लीन हो जाना अर्थात् रूप का स्वरूप में विलय हो जाना—यही परम ध्यान है।[५] बौद्ध साधना में जिसे 'समाधि' और योग–दर्शन में जिसे 'संप्रज्ञात' कहा गया है, वह प्रायः इसी प्रकार के ध्यान के लिये ही कहा गया है। ध्यान की इस कोटि में धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान को लिया जा सकता है।

स्वरूप और साधन :

आसन लगाकर और आँखे मूँद कर या प्राणायाम करके बैठ जाने मात्र से ही ध्यान सिद्ध नही हो जाता है। ध्यान साधना के लिये सर्व प्रथम मन को शुद्ध करना पड़ता है। अशुद्ध मन का परिमार्जन कर उसे शुद्ध मे नियोजित करने का अभ्यास किये बिना ध्यान में सफलता प्राप्त नही हो सकती। इसके लिये ध्याता, ध्यान और ध्येय का स्वरूप समझना आवश्यक है। ध्यान करने वाला सर्व प्रथम अपनी शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं का अनुमान करता है, ध्यान करने की क्षमता

---

३. योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय और योग शास्त्र।

४. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १८।११।

५. अप्पा अप्पंमि रओ इण मेव पर झाण। —द्रव्य संग्रह

प्राप्त करता है, शरीर को स्थिर बनाता है और फिर मन को शुभ में नियोजित करता है। इसके लिये ध्यान मुद्रा का स्वरूप और विधि भी समझनी चाहिये। ध्यान मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है।

> अन्तश्चेतो बहिश्चक्षु रधः स्थाप्य सुखासनम्।
> समत्वं च शरीरस्य ध्यान मुद्रेति कथ्यते।[६]

चित्त को अन्तर्मुखी बनाकर, दृष्टि को नीचे की ओर नासाग्र पर स्थापित करके सुखासन मे बैठना तथा शरीर को सीधा रखना—'ध्यान मुद्रा' कहलाती है। शरीर-दोषों की शुद्धि और आसन की स्थिरता, यह ध्यान मुद्रा से प्राप्त हो सकती है।

ध्यान को स्थिर करने के लिये अनेक प्रकार के आलम्बन (सहारा) भी आवश्यक होते हैं। जैसे—सप्त कमल दल, सिद्ध चक्र, पार्थिवी वायवी आदि धारणाएँ—ये सब ध्येय पर स्थिर होने के लिये बहुत ही सहायक सिद्ध होती हैं। इनके साथ ध्येय भी स्पष्ट हो जाना चाहिये। और वह ध्येय प्रायः प्रथम स्थिति समान ही रहता है—स्वरूप दर्शन, ईश्वर और आगे चल कर वही ध्येय निर्विकल्प दशा में पहुँच जाता है।

एक आचार्य ने ध्यान के आठ अंगो का वर्णन करते हुये बताया है—ध्यान साधना मे गति करने के इच्छुक साधक को पहले ध्यान के इन अंगों की सम्पूर्ण और विधिवत् जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये—[७]

१. ध्याता—इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला,
२. ध्यान—इष्ट विषय में लीनता,
३. फल—संवर-निर्जरा आदि के रूप में,
४. ध्येय—इष्ट (जिसका ध्यान करना हो),
५. यस्य - ध्यान का स्वामी,
६. यत्र—ध्यान करने का क्षेत्र-स्थान,

---

६. गोरक्षा शतक, ६५।

७. ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुः कामेन योगिता॥ —तत्वानुशासन ३७

७. यदा—ध्यान का समय,

८. यथा—ध्यान की योग्य-विधि।

इस प्रकार 'ध्यान' जो व्यावहारिक क्षेत्र में मन की एकाग्रता के अर्थ में प्रचलित है, वह अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में एक बहुत व्यापक साधना और आत्म-शक्तियों को प्रवुद्ध कर स्वरूप दशा को प्राप्त करने का एक अमोघ मार्ग माना गया है। ध्यान करने वाला ध्याता क्रमशः स्वयं ध्येय स्वरूप को प्राप्त ध्याता ही ध्येय बन जाता है। इस दशा में ध्याता जो पहले 'दासोऽहं' की पुकार लगाता था। अब 'सोऽहं' की ध्वनि करने लगता है, प्रभु-स्वरूप में या आत्म-स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

योगी लोग शिव को अपनी आत्मा के अन्दर देखते हैं, पत्थर या मिट्टी की मूर्त्तियों के अन्दर नहीं, और जो लोग उस ईश्वर को अपने अन्दर नहीं देख पाते वे उसे तीर्थों में ढूँढते फिरते हैं। —शिवपुराण

आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चाताप की भट्टी सुलगती है और उस पश्चाताप की भट्टी में सब दोषों को जलाने के बाद साधक परम वीतराग भाव को प्राप्त करता है। —भगवान महावीर

आत्मस्वरूप में लगा हुआ चित्त वाह्य विषयों की इच्छा नहीं करता, जैसे कि दूध में से निकला घी फिर दुग्ध भाव को प्राप्त नहीं होता।

—शंकराचार्य

आत्मा से बाहर मत भटको, अपने ही केन्द्र में स्थित रहो।

—स्वामी रामतीर्थ

परिशीलन :

योग : महत्त्व और अर्थ

© उपाध्याय श्री अमर मुनि

योग का महत्त्व :

विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्त एवं अपरिमित शक्तियों का प्रकाश-पुञ्ज है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख-शान्ति और अनन्त शक्ति का अस्तित्व अन्तर्निहित है। समस्त शक्तियों का महास्रोत उसके अन्दर ही निहित है। वह अपने आप में ज्ञानवान है, ज्योतिर्मय है, शक्ति-सम्पन्न है और महान् है। वह स्वयं ही अपना विकासक है और स्वयं ही विनाशक (Destroyer) है। इतनी विराट शक्ति का अधिपति होने पर भी वह अनेक बार इतस्ततः भटक जाता है, पथ-भ्रष्ट हो जाता है, संसार-सागर में गोते खाता रहता है, अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता है, अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसका क्या कारण है ? वह अपनी शक्तियों को क्यों नहीं प्रकट कर पाता है ?

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जब हम इसकी गहराई में उतरते है और जीवन के हर पहलू का सूक्ष्मता से अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में योग—स्थिरता का अभाव ही मनुष्य की असफलता का मूल कारण है। मानव के मन में, विचारों में एवं जीवन में एकाग्रता, स्थिरता एवं तन्मयता नहीं होने के कारण मनुष्य को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नहीं होता, पूरा विश्वास नहीं होता। उसके मन में, उसकी बुद्धि में सदा-सर्वदा सन्देह बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और एक निष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ़ नहीं पाता। यही कारण है कि वह इतस्ततः भटक जाता है, ठोकरें खाता फिरता है और पतन के महागर्त में भी जा गिरता है। उसकी शक्तियों का प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। अतः अनन्त शक्तियों को अनावृत करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुँचने के

लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिन्तन में एकाग्रता एवं स्थिरता लाने का नाम ही 'योग' है।[1]

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति में समस्त विचारकों, तत्त्व-चिन्तकों एवं मननशील ऋषि-मुनियों ने योग-साधना के महत्व को स्वीकार किया है। योग के सभी पहलुओं पर गहराई से सोचा-विचारा है, चिन्तन-मनन किया है। प्रस्तुत लेख में हम भी इस बात पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि योग का वास्तविक अर्थ क्या रहा है? योग-साधना एवं उसकी परम्परा क्या है? योग के सम्बन्ध में भारतीय विचारक क्या सोचते हैं? और उनका कैसा योगदान रहा है?

'योग' का अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से बना है। संस्कृत व्याकरण में 'युज्' धातु दो है। एक का अर्थ है—जोड़ना, संयोजित करना।[2] और दूसरे का अर्थ है—समाधि, मनःस्थिरता।[3] भारतीय योग-दर्शन में 'योग' शब्द का उक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने योग का 'जोड़ने' अर्थ में प्रयोग किया है, तो कुछ चिन्तकों ने उसका 'समाधि' अर्थ में भी प्रयोग किया है। किस आचार्य ने उसका किस अर्थ में प्रयोग किया है, यह उसकी परिभाषा एवं व्याख्या से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने 'चित्त-वृत्ति के निरोध' को योग कहा है।[4] बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ 'समाधि' किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों में उन सब साधनों को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म मल का नाश होता है और उसका मोक्ष के साथ संयोग होता है।[5] उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की यही

१. The word 'Yoga' literally means 'Union'.
—*Indian Philosophy*, (Dr. C. D. Sharma)

२. युजृपी योगे, गण ७, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

३. युजिच समाधौ, गण ४, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —पातंजल योग-सूत्र, पा० १, सू० २.

५. मोक्खेण जोयणाओ जोगो। —योगविंशिका, गाथा १.

व्याख्या की है।[६] यशोविजय जी ने कहीं-कहीं पञ्च-समिति और त्रि-गुप्ति को भी श्रेष्ठ योग कहा है। आचार्य हरिभद्र के विचार से योग का अर्थ है—धर्म-व्यापार। आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को संयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[७] क्योंकि, यह धर्म-व्यापार या आध्यात्मिक साधना आत्मा को मोक्ष के साथ संयोजित करती है।

योग के रूप में—एकरूपता

वैदिक विचारधारा में 'योग' शब्द का समाधि अर्थ में प्रयोग हुआ और जैन परम्परा में इसका संयोग—जोड़ने अर्थ में प्रयोग हुआ है। गणित शास्त्र में भी योग का अर्थ—जोड़ना, मिलाना किया है। मनोविज्ञान (Psychology) में 'योग' शब्द के स्थान में 'अवधान' एवं ध्यान (Attention) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन की वृत्तियों को एकाग्र करने के लिए मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) ने अवधान या ध्यान के महत्व को स्वीकार किया है। और ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोड़ा जाए। क्योंकि मन को एकाग्र बनाने की क्रिया का नाम ध्यान है और वह तभी हो सकता है, जब कि मन किसी एक पदार्थ के साथ संबद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने चिन्तन के अतिरिक्त पता ही नहीं चलेगा कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा में 'सक्रिय ध्यान' (Active Attention) कहते हैं।

जैन और वैदिक परंपरा के अर्थ में भिन्नता ही नहीं, एकरूपता भी निहित है। जब हम 'चित्त-वृत्ति निरोध' और 'मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार' शब्दों के अर्थ का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करते है तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है, दोनों में पर्याप्त दूरी दिखाई देती है। परन्तु, जब हम दोनों परंपराओं का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो उनमें भिन्नता की जगह एकरूपता का भी दर्शन होता है।

---

६. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। —द्वात्रिंशिका.

७. अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम॥ —योगबिन्दु, ३१.

'चित्त-वृत्ति का निरोध करना' एक क्रिया है, साधना है। इसका अर्थ है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। परन्तु, यह एकान्ततः निषेध-परक अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है। रोकने के साथ करने का भी संबंध जुड़ा हुआ है। अतः 'चित्त-वृत्ति निरोध' का वास्तविक अर्थ यह है कि साधक अपनी संसराभिमुख चित्त-वृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाए। अपनी मनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपंचों एवं विषय-वासनाओं से हटाकर मोक्षाभिमुखी बनाए। मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। जैन विचारक मोक्ष के साथ संबंध कराने वाली क्रिया को, साधना को ही 'योग' कहते हैं।

जैन-आगम में 'संवर' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जैनों का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। जैन विचारकों के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय विचारक ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। 'संवर' शब्द आध्यात्मिक साधना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आस्रव का निरोध करने का नाम संवर है।[८] महर्षि पतंजलि ने योग-सूत्र में चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है। इस तरह संवर और योग—दोनों के अर्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक में निरोध के विशेषण के रूप में आस्रव का उल्लेख किया है और दूसरे में चित्त-वृत्ति का।

जैनागम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग को आस्रव कहा है।[९] इसमें भी मिथ्यात्व, कषाय एवं योग को प्रमुख माना है। अविरति और प्रमाद—कषाय के ही विस्तार मात्र हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैनागम में उल्लिखित आस्रव में जो 'योग' शब्द आता है, वह योग परंपरा सम्मत चित्त-वृत्ति के स्थान में है। जैनागम में मन, वचन और कायिक प्रवृत्ति को योग कहा है। इसमें मानसिक प्रवृत्ति तीनों का केन्द्र है। क्योंकि कर्म का बन्ध वचन और काया की प्रवृत्ति से नहीं, बल्कि परिणामों से होता है।[१०] इस तरह योग-सूत्र में जिसे चित्त-वृत्ति कहा है, जैन परंपरा में उसे आस्रव रूप योग कहा है।

---

८. निरुद्धासवे (संवरो), उत्तराध्ययन, २९, ११; आस्रव-निरोधः संवरः, तत्त्वार्थ सूत्र, ९, १।

९. पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाओ, कसाया, जोगा।
—समवायांग, समवाय ५.

१०. परिणामे बन्ध।

जैन परंपरा में योग-आस्रव दो प्रकार का माना है—१. सकषाय योग-आस्रव और २: अकषाय योग-आस्रव। योग-सूत्र में चित्त-वृत्ति के भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद किए हैं। जैनागम में कषाय के चार भेद किये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। और योग-सूत्र में क्लिष्ट चित्त-वृत्ति को भी चार प्रकार का माना है—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जैन परपरा सर्वप्रथम सकषाय योग के निरोध को और उसके पश्चात् अकषाय योग के निरोध को स्वीकार करती है। यही बात योग-सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के विषय में कही गई है। महर्षि पतंजलि भी पहले क्लिष्ट चित्त-वृत्ति का निरोध करके फिर क्रमश अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के निरोध की बात कहते है।

इस तरह जब हम जैन परंपरा और योग-सूत्र में उल्लिखित योग के अर्थ पर विचार करते हैं, तो दोनो में भिन्नता नहीं, एकरूपता परिलक्षित होती है। अतः समग्र भारतीय चिन्तन की दृष्टि से योग का यह अर्थ समझना चाहिए—"समस्त आत्म-शक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, सब आत्म-गुणों को अनावृत्त करने वाली आत्माभिमुखी साधना।" एक पाश्चात्य विचारक ने भी शिक्षा की यही व्याख्या की है।[११]

---

११. Education is the harmonious develepment of all faculties. —*Lord Avebrine.*

शास्त्रीय विवेचन :

आगम साहित्य में ध्यान का स्वरूप

❀ श्री रमेश मुनि, शास्त्री

'ध्यान' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'ध्यायते वस्तु अनेनेति ध्यानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का चिन्तन किया जाता हैं वह ध्यान है। ध्येय पदार्थ के विषय में अक्षुण्ण रूप से तैल-धारा की तरह जो चित्तवृत्ति का प्रवाह है उसे ध्यान कहते हैं। स्थानाङ्ग सूत्र (स्थापनक ४, उद्देशक १, सूत्र ६) में ध्यान के चार प्रकार दर्शाये हैं।[1] १—आर्त्तध्यान, २—रौद्रध्यान, ३—धर्मध्यान, ४—शुक्लध्यान। उनका स्वरूप विवेचन इस प्रकार है—

१. आर्तध्यान—ऋत शब्द का वाच्यार्थ है—दुःख ! जिस ध्यान के होने में दुःख का उद्वेग या तीव्रता निमित्त है। वह ध्यान आर्तध्यान है। आर्तध्यान के चार भेद हैं।[2]

१—अमनोज्ञसंप्रयोग सम्प्रयुक्त—अनिष्ट शब्दादिक का संप्रयोग सम्बन्ध। इस सम्बन्ध से युक्त जो पुरुष, ऐसे पुरुष को दूर करने के लिये जो मन में एक प्रकार की निश्चलता आती है वही तद्विप्रयोग स्मृति समन्वहार है। इससे इस तरह का ध्यान होता है।

२—मनोज्ञ संप्रयोग सम्प्रयुक्त—मनोज्ञ शब्दादिक का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्ता करते रहना।

३—आतङ्क सम्प्रयोग सम्प्रयुक्त—वात, पित्त, कफ जनित रोग से युक्त हुआ प्राणी रोग को दूर करने के लिये पुनः पुनः विचार करता है कि यह रोग किस उपाय से शान्त होगा, इस तरह की जो विचार लहरें हृदय सागर में उछालें मारने लगती हैं वह।

४—काम शब्द से शब्द और रूप भोग शब्द से गन्ध, रस और

स्पर्श इनका ग्रहण होता है। इन काम और भोगों के सम्बन्ध से युक्त मनुष्य का उनसे संयोग निमित्त पुनः पुनः चिन्तवन करना।

आर्तध्यान के चार लक्षण इस प्रकार हैं[३]—क्रन्दनता, शोचनता, तेपनता और परिदेवनता! हा मातः, हा पितः, हा पुत्रः इत्यादि रूप से जो चीत्कार है वह क्रन्दनता है। शोचनता—शोक करना। तेपनता—अश्रुओं का बहाना। परिदेवनता—रोते-रोते सम्भाषण करना। ये लक्षण इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग और रोगजनित शोक से युक्त मनुष्य को होते है।

२—**रौद्रध्यान**—जो ध्यान क्रूर परिणामों के निमित्त से होता है वह ध्यान रौद्रध्यान है। यह ध्यान हिंसा आदि क्रूर परिणामों के निमित्त से होता है। जिस प्रकार पीड़ा आर्तध्यान का मुख्य आधार है, इसी तरह रौद्रध्यान का मुख्य आधार क्रूरता है और इसी क्रूरता को उत्पन्न करने वाले हिंसा, चोरी, विषय और संरक्षण—ये चार कारण हैं, इसलिये रौद्रध्यान के चार भेद होते हैं[४]।

१. **हिंसानुबन्धी**—इस ध्यान में प्राणियों को पीड़ा देने में सतत विचार होता है या हिंसा का अनुबन्ध सम्बन्ध जिस ध्यान में होता है, वह।

२. **मृषानुबन्धी**—असभ्य, असद्भूत आदि वचन विशेषों द्वारा असत्यानुबन्धी जो चिन्तन है वह

३. **स्तेनानुबन्धी**—स्तेन शब्द का अर्थ है—चोर! चोर का जो कर्म है वह स्तेय है। इसका अनुबन्ध वाला जो चिन्तन है वह। दूसरे शब्दों में तीव्र क्रोध, तीव्रमान, तीव्र माया और तीव्र लोभ इनसे आकुल हुए मनुष्य का चोर कर्म करने का अनुबन्धशील परिणाम है वह।

४. **संरक्षणानुबन्धी**—जिस ध्यान में विषय साधन भूत धन के संरक्षण करने का अनुबन्धशील चिन्तन रहता है वह।

रौद्रध्यान के चार लक्षण इस प्रकार है[५]—

१. **आसन्न दोष**—हिंसा आदि पापों में से किसी एक में प्रवृत्ति की बहुलता का होना।

२. **बहुदोष**—हिंसादिक सकल पापों में प्रवृत्ति होना।

३. अज्ञान दोष—हिंसादिकों में जो प्रवृत्ति होती है वह।

४. आमरणान्त दोष—असमुत्पन्न पश्चाताप वालो का मरण पर्यन्त हिंसादिको में प्रवृत्ति का होते रहना, कभी भी हिंसादिकों से निवृत्त न रहना।

३—धर्म ध्यान—श्रुत और चारित्र धर्म से सहित जो ध्यान है वह धर्म ध्यान है। धर्म ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—[६]

१. आज्ञा विचय—इस ध्यान में सर्वज्ञ प्रवचन रूप आज्ञा विचारी जाती है। किसी भी पदार्थ का विचार करते समय ऐसा मनन करना कि इस सम्बन्ध मे जिनराज की आज्ञा है वह प्रमाण।

२. अपाय विचय—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से मुक्त कैसे हो इस प्रकार के विचार मे मनोयोग देना।

३. विपाक विचय—कौन सा विपाक किस-किस कर्म का फल है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक है, इस प्रकार का विचार।

४. संस्थान विचय—लोक आदि का स्वरूप विचार करने मे मनोयोग देना।

धर्म ध्यान के चार लक्षण इस प्रकार हैं[७]—

१. आज्ञारुचि—सूत्र, अर्थ इन दोनो में श्रद्धा रखना।

२. निसर्ग रुचि—सूत्र अर्थ आदि में स्वभावतः जो रुचि होती है, वह।

३. सूत्र रुचि—आगम मे जो रुचि होती है, वह।

४. अगाढ़ रुचि—साधु के उपदेश में जो रुचि होती है, वह।

धर्म ध्यान के चार आलम्बन इस प्रकार हैं[८]—

१. वाचना—शिष्य के लिए कर्म निर्जरार्थ सूत्रोपदेश आदि देना।

२. पृच्छना—अध्ययन के किये हुये सूत्रो मे शङ्कित स्थल को गुरु से पूछना और शङ्का समाधान करना।

३. परिवर्तना—पूर्व पठित सूत्र विस्मृत न हो जाए इस कारण से सूत्र का पुनः पुनः अभ्यास करना।

४. अनुप्रेक्षा—सूत्रार्थ का बारम्बार विचार करते रहना।

अनुप्रेक्षा के चार भेद इस प्रकार हैं—एकानुप्रेक्षा—आत्मा एक है। अनित्यानुप्रेक्षा—इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब पर्याय दृष्टि से अनित्य है इस प्रकार की भावना करना। अशरणानुप्रेक्षा—इस विराट् विश्व में मेरे आत्मा का कोई भी सरक्षक नहीं है। इस प्रकार विचार करना। संसारानुप्रेक्षा—ऐसा कोई भी पर्याय अवशेष नहीं रहा है जहाँ आत्मा का जन्म-मरण नहीं हुआ हो इस प्रकार विचार करना।

४. **शुक्ल ध्यान**—शुक्ल ध्यान की परिभाषा इस प्रकार है—शुक्लं शोधयति अष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं शोकं वा क्लमयति अपनयति शुक्लम्। जो ध्यान आठ प्रकार के कर्ममल की शुद्धि कर देता है वह ध्यान शुक्ल ध्यान है। शुक्ल ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं[१]—

१. **पृथक्त्व वितर्क सविचार**—इस में श्रुतज्ञान का आलम्बन लेकर विविध दृष्टियों से विचार किया जाता है। इसमें अर्थ व्यञ्जन तथा संक्रमण होता रहता है। जीव श्रुतज्ञान के आधार से किसी एक द्रव्य-रूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप अर्थ पर, किसी एक पर्याय रूप अर्थ पर से दूसरे पर्याय रूप अर्थ पर अथवा एक पर्याय रूप अर्थ पर से किसी एक द्रव्य रूप अर्थ पर ज्ञान धारा को संक्रमण करके चिन्तन की दिशा में प्रवृत्त होता है। कभी यह जीव मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों में से किसी एक योग का आलम्बन लेता है। फिर उसे छोड़कर अन्य योग का आलम्बन लेता है।

२. **एकत्व वितर्काविचार**—इस ध्यान में पूर्वगत श्रुत के आधार से उत्पाद, व्यय आदि किसी एक पर्याय का अथवा द्रव्य का विचार किया जाता है। विचार करते समय द्रव्य, पर्याय शब्द योग इनमें से एक का आलम्बन किये रहता है। जीव इस ध्यान के बल से घातिक कर्मों की शेष प्रकृतियों का विनाश करके केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

३. **सूक्ष्म क्रिया निवर्ति**—यह ध्यान निर्वाण गमन काल में मन, वचन योग का निरोध हो जाने पर और काय योग का अर्ध निरोध होने पर केवलो जीव को होता है। इस ध्यान में कायवर्गणाओं के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का अति सूक्ष्म परिस्पन्द अवशेष रहता है इस कारण इस ध्यान का नाम सूक्ष्म क्रियानिवर्ति है।

४ **समुच्छन्न क्रिया प्रतिपाति**—इस ध्यान का उदय होने पर साता-

वेदनीय कर्म का आस्रव रुक जाता है और अन्त में शेष कर्म क्षीण होने पर अजर-अमर पद को प्राप्त करता है।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण इस प्रकार हैं—

१. अव्यथम्—देवाधिकृत जो उपसर्ग है वही व्यथा है, इस व्यथा का अभाव हो जाना।

२. असम्मोह—देवादिकृत मायाजनित मूढ़ता का अथवा सूक्ष्म-विषयक मूढ़ता का अभाव हो जाना।

३. विवेक—जैसे हंस पानी से दूध को पृथक् करता है वैसे बुद्धि द्वारा देह से आत्मा को एवं आत्मा से सर्व संयोगों को पृथक् कर रखना।

४. व्युत्सर्ग—समस्त विषयों से निसङ्ग हो जाने के कारण देह और उपाधियों का त्याग करना।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन इस प्रकार हैं—क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मृदुता। शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं—अनन्त वर्तिता, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा।

१. अनन्तर्वतिता - जीव के भवभ्रमण का पुनः पुनः विचार करना। *यह जीव अनादि है और यह विराट् विश्व दुस्तर सरोवर जैसा* है, यह जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में अनादि समय से चक्कर लगाता है। इस प्रकार विचार करना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा—अनेक प्रकार के जो परिणाम हैं वे विपरिणाम है। इन विपरिणाम वाले पदार्थों की विविध अवस्थाएँ पदार्थों में प्रतिपल हो रही हैं, इस प्रकार विचार करना।

३. अशुभानुप्रेक्षा—जो शुभ नहीं है वह अशुभ है, यह अशुभ शब्द अशुभता का वाचक है इस की जो अनुप्रेक्षा है वह अशुभानुप्रेक्षा है।

४, अपायानुप्रेक्षा—मनयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन योग रूप आस्रवों के अपगमन की जो भावना है वह—अपायानुप्रेक्षा है।

ऊपर की पंक्तियों में जैनागम साहित्य की दृष्टि से ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षिप्त में चिन्तन किया गया है। निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य

और अन्य आगमेतर ग्रन्थो में इस विषय पर विविध दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। अनेक आचार्यो ने महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र रचना कर ध्यान के विराट् रूप को प्रदर्शित किया है। जैनेतर विज्ञों ने भी इस सम्बन्ध में अपनी दृष्टि से लिखा है, पर समयाभाव और साधनाभाव से उन सभी पर लिखना सम्भव नहीं है।

---

१. चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे ॥

२. अमुणुन्नसंपओगसंपउत्ते, मणुन्नसंपओगसंपउत्ते, आयंक सपओगसंपउत्ते, परिजुसियकामभोगसंपओगसंपउत्ते ॥

३. कंदनया, सोयणया, तिप्पणयां, परिदेवणया

४. हिंसानुबंधि, मोसाणुबंधि, तेणाणुबंधि, सारक्खणाणुबंधि।

५. ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे।

६. आणाविचए अवायविचए, विवागविचए संठाणविचए।

७. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता।
तं जहा आणारुई निस्सग्गरुई, सुत्तरुई ओगाढ़रुई ॥

८. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता तं जहा—
वायणा, पडिपुच्छणा पडियट्टणा, अणुप्पेहा ॥

९. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णत्ते, तं जहा—पुहुत्त —वियक्कस-वियार, एगत्तवियक्कअवियार, सुहुमकिरिय अणियट्टी, समुच्छिन्नकिरिय अप्पडिवाई।

—स्थानाङ्ग सूत्र–स्थानक ४, उद्देशक–१, सूत्र–९

परिदृष्टि :

वैदिक-परम्परा में ध्यान का स्वरूप

● डा० छविनाथ त्रिपाठी, एम० ए०, पी०. डी०

ऋषियों ने ध्यान-योग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा का साक्षात्कार किया, जो कि अकेले ही काल से लेकर आत्मा-पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है।[1] परमात्मा की सत्ता को स्वीकार न करने वाले व्यक्ति भी सामान्य कार्यों की सिद्धि के लिए ध्यान का महत्त्व समझते हैं। किसी भी कार्य के कारण को समझने के लिए ही नहीं, अपितु अपनी किसी भी क्रिया को उत्तम रीति से सम्पन्न कर उसे सफलता तक पहुँचाने के लिए भी ध्यान का विशेष महत्त्व दिखाई पड़ता है। 'ध्यान से यह काम करो' जैसे वाक्य सर्वत्र सुने जा सकते हैं। अतः जीवन के सामान्य क्रिया कलाप से लेकर साधना के चरम उत्कर्ष, समाधि तक इसका क्षेत्र फैला हुआ है। निर्विकल्पक समाधि की प्राप्ति योग-साधना की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है और इसके ठीक पूर्व की स्थिति को 'ध्यान' शब्द से अभिहित किया गया है। समाधि तक पहुँचने के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा की सिद्धि के उपरान्त ध्यान की सिद्धि अपेक्षित है। धीरे-धीरे अन्तरिन्द्रिय वृत्ति-प्रवाह को अद्वितीय वस्तु की ओर प्रवृत्त कर देना ही ध्यान है।[2] स्पष्ट है कि ध्यान के लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है, यह आलम्बन एक ही होना चाहिए। द्वितीय की स्थिति वहाँ नहीं होती। यह 'एक' क्या हो ? इसका उत्तर एक मात्र यही हो सकता है कि वह 'एक' ही 'अभीष्ट' है। यह अभीष्ट सामान्य-जीवन का सामान्य-अभीष्ट भी हो सकता है और विशिष्ट साधक आदि के जीवन का विशिष्ट-अभीष्ट भी। इस अभीष्ट को केन्द्र मान कर मन को उसमें अधिष्ठित कर देना ही

---

१. श्वेताश्वर उप० १।३

२. तत्राद्वितीय वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रिय वृत्ति प्रवाहो ध्यानम्। वेदान्त सार, पृष्ठ ६०।

ध्यान है। इस ध्यान में इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होती हैं। चित्त-वृत्तियाँ मन में और मन 'अभीष्ट' में केन्द्रित होता है। यही कारण है कि इन्द्रिय-विशेष को किसी बाह्य-आलम्बन में केन्द्रित करना साधना का ध्यान नहीं, अपितु ध्यानाभास है। ध्यान एक मानसिक कार्य-व्यापार है, इन्द्रिय-व्यापार नहीं। मूर्ति पूजक मन, चक्षु और मूर्ति के संयोग से जिस ध्यान का अभ्यास करता है वह ध्यानाभ्यास से ध्यान तक पहुँचने का प्रयास मात्र है। ध्यान का आलम्बन भी मानसिक होना चाहिए। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद समाधि के ही नहीं, ध्यान के भी विघ्न है। ध्यान के लिए आलम्बन की मानस-प्रतिष्ठा प्राथमिक कार्य है और उसे अद्वितीय बनाकर मनोनिवेश, ध्यान का वास्तविक स्वरूप है। आलम्बन के विषय में मतभेद हो सकता है, ध्यान के वास्तविक स्वरूप के विषय में नहीं।

वैदिक-साहित्य में ध्यान का विस्तृत विवेचन मिलता है। ध्यान के प्रसंग में सर्वाधिक प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है। यह तीनों वेदों में उपलब्ध होता है।[३] सायण ने इसका अर्थ किया है कि 'जो सविता हम लोगों की बुद्धि को प्रेरित करता है, सम्पूर्ण श्रुतियों में प्रसिद्ध उस द्योतमान जगत्स्रष्टा परमेश्वर के संभजनीय तेज का हम लोग ध्यान करते हैं।' विश्व के रचयिता सविता के श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को (सत्कर्म में) प्रेरित करे।[४] 'वरेण्यं धीमहि' में ध्यान और उसके आलम्बन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वरेण्य की मानस-प्रतिष्ठा प्राथमिक कार्य है और इस प्रतिष्ठा द्वारा हमारी बुद्धि को उसमें केन्द्रित होने की प्रेरणा स्वतः प्राप्त होती है। इस मन्त्र का विवरण अनेक स्थलों पर अन्यत्र भी उपलब्ध है।[५] सविता के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही इस मन्त्र को सावित्री भी कहा गया है। मनुस्मृति तो सावित्री की उपेक्षा करने वाले को आर्य धर्म से च्युत मानती है।[६]

---

३. तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।
ऋक् ३।६२।१०, साम १३।३।३, यजुः ३।३५,३०।२,३६।३।

४. वैदिक साहित्य, पृ० ३७४।

५. तैत्तरीयारण्यक १।११।२, छान्दोग्य ३।१२।१, मनु० २।८२, गीता १०।३५ आदि।

६. सावित्री पतिता ह्येते भवन्त्यार्य विगर्हिताः। मनु०।

सविता के साथ ध्यान का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सृष्टि के विकास के सम्बन्ध में वैदिक-विचारों को ध्यान में रखा जाय तो हिरण्य गर्भ से सर्वप्रथम सविता (सूर्य) की ही उत्पत्ति हुई।[७] अव्यक्त से जिस व्यक्त की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई वह सविता ही है; उसी से सृष्टि का विकास हुआ, अतः वरेण्य तो सविता ही है।[८] सविता तेजोमय है; अतः तेज या ज्योति ही ध्यान का विषय है। सविता के तेज का ही एक स्फुलिंग आत्म-ज्योति के रूप में प्रतिष्ठित है, अतः मानव की सर्वोत्कृष्ट कामना एक ओर तो सविता के दर्शनों के लिए उत्सुक रहती है और दूसरी ओर अपने में ही अन्तर्निहित आत्म-ज्योति को अन्तर्मुखी वृत्तियों द्वारा देखने की ओर झुकती है।[९] मानव का सर्वोत्तम अभीष्ट यह आत्म-ज्योति ही है, इसीलिए वह इसे ध्यान का विषय बनाता है। वैदिक मन्त्र हों अथवा उपनिषदों के कथन, जब भी वे आत्म-ज्योति का उल्लेख करते हैं, तभी 'देखना' क्रिया का प्रयोग करते हैं, क्योंकि ध्यान का विषय वही है।[१०] इसी के ध्यान से मानव आप्तकाम बनता है।[११] आत्मा के वास्तविक स्वरूप-ग्रहण के लिए समाधि अपेक्षित है और वह समाधि ध्यान द्वारा ही प्राप्य है।[१२] आत्म-ज्योति का दर्शन इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति का विषय नहीं है; वह वर्णन का भी विषय नहीं है, वह तो केवल ध्यान द्वारा अनुभूति का विषय ही बन सकता है।[१३]

ज्ञेय और ध्येय :

सभी उपनिषदों के मत से आत्मा ही ज्ञेय है। ज्ञान से सम्पूर्ण बन्धन

---

७. ऋक् १०।१२१ सूक्त।

८. ऋक् १०।११४।७।

९. ज्योगेव दृशेम सूर्यम्। अथर्व १।३१।४; तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। ईशा० १६।

१०. अपश्य महं महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु। ऋक् १०,७९।१ परं पुरुष-मभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। प्रश्नोप० ५।५।

११. तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः। श्वे० १।११ तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा। बृहदा० १।४।७।

१२. तस्यैव कल्पनाहीन स्वरूप ग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्यान निष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते। विष्णु पुराण ६।६।९२।

१३. न तत्र चक्षुर्गच्छति। केन १।३।

छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। क्लेशों के क्षीण होने से जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु कैवल्य की प्राप्ति तो उसका ध्यान करने से ही होती है।[१४] अतः स्पष्ट है कि ज्ञेय और ध्येय के एक होने पर भी कोरे ज्ञान से लक्ष्य-सिद्धि सम्भव नहीं है, वह लक्ष्य की ओर प्राथमिक पग मात्र है। ब्रह्म स्वरूपी आत्म-ज्योति के दर्शन के लिए ध्यान का अभ्यास ही मुख्य साधन है।[१५] तात्त्विक दृष्टि से चैतन्यात्मा तेजोमय होने के कारण ब्रह्म स्वरूपी है।[१६]

ध्यान की विधि :

वैदिक साहित्य में श्वेताश्वर उपनिषद ने ध्यान की विधि का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन ध्यान के वैदिक-स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। इसमें क्रम-व्यवस्था का सुन्दर दर्शन होता है—

१. सविता की प्रार्थना :

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सविता और सावित्री का घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः ध्यान आरम्भ करने से पूर्व सविता की प्रार्थना करनी चाहिए। इस प्रार्थना में कहा गया है कि सविता, देवता, ज्ञान में प्रवृत्त हुए मेरे मन को बाह्य-विषयों के प्रकाशन से रोक कर अन्तर्मुखी करें और देवताओं की प्रकाशित करने वाली शक्ति हमारी इन्द्रियों में स्थापित करें।[१७] ध्यान के लिए सविता की अनुज्ञा आवश्यक है। अन्यथा मन की प्रवृत्ति धार्मिक होते हुए भी यज्ञादि कर्मों में लग जाती है; ध्यानोन्मुख नहीं होती।[१८]

२. संकल्प :

ध्यान कर्म के लिए हम प्रयत्न करेंगे, यह सुदृढ़ संकल्प करना चाहिए।[१९] विश्वास या श्रद्धा हृदय की दृढ़-भावना से प्राप्त होती है;

---

१४. श्वेता० १।११

१५. ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्। श्वे० १।१४।
ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। श्वे० १।३।

१६. प्रशान्तो व्योमवद् व्यापी चैतन्यात्मा सकृत्प्रभः। ब्रह्म पुराण श्वेता० १।१०,१।१६।

१७ श्वेता० २।१

१८. श्वेता० २।७

१९. श्वेता० २।२

श्रद्धा के पीछे संकल्प ही होता है ।[२०] संकल्प कल्याणकारी होना चाहिए ।[२१] आत्म-ज्योति के दर्शन का सकल्प परम कल्याणकारी है ।

३. अन्तर्मुखता और अन्तर्मुखी स्तुति :

इन्द्रियों की शक्तियाँ मन में केन्द्रित हों और मन वृहज्ज्योति के दर्शन की ओर अग्रसर हो, इस प्रकार की मानस-स्तुति सविता की, की जानी चाहिए । दिव्य अमृत पुत्र उस स्तुति को सुनें ।[२२]

४. आसन–विधि :

वक्षस्थल, ग्रीवा और सिर को उन्नत कर शरीर को सीधा रखें। मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट करें ।[२३]

५. मन–निग्रह का साधन प्राणायाम :

मन तो दुर्निग्रह होता है । उसे आत्म-ज्योति की ओर लगाने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है । मन को आत्म-ज्योति के साथ जोड़ना ही योग है । मन के निग्रह का मुख्य साधन प्राणायाम है । प्राण और अपान का संयोग ही प्राणायाम है । रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा उसे सम्पन्न किया जाता है । अ, उ और म क्रमशः इन्हीं के बोधक हैं, जो प्रणव कहलाते हैं । संयत होकर प्राणायाम करना चाहिए, जिससे मन को वश मे करके आत्म-दिशा की ओर अग्रसर किया जा सके ।[२४]

६. ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान का चयन :

ध्यान के लिए स्थान और वातावरण की उपयुक्तता अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है । मन और इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली बाधाओं से बचाव ही इस उपयुक्तता का मुख्य उद्देश्य है । भूमि समतल, पवित्र हो, शर्करा-अग्नि और बालू से रहित हो, शोर न हो, गीली जमीन न हो, सर्व साधारण का आश्रय या निवास-स्थल न हो, मन के अनुकूल हो, नेत्र-पीड़क न हो, वायु के झोंके न आते हों और शान्त, एकान्त गुहा या गुहा सदृश स्थल हो । ऐसे उपयुक्त स्थान पर मनोनिवेश करे ।[२५]

---

२०. शतपथ १२।७ ३।११ ऋक् १०।१५१ सूक्त ।

२१. तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु । यजुः ३४,१ ।

२२. श्वेता० २।२-५

२३. श्वेता० २।८　　२४. श्वेता० २।६　　२५. श्वेता० २।१०

७. ध्यान-योग के अभ्यास में प्राप्त अनुभव :

आत्म-ज्योति की ओर अग्रसर मन को कभी कुहरा, कभी धूप, कभी सूर्य, कभी वायु, कभी अग्नि कभी खद्योत, कभी विद्युत कभी स्फटिक मणि दिखाई पडते हैं। कभी चन्द्रमा के रूप दिखाई पड़ते है। ये पूर्व लक्षण है, जिनसे ज्ञात होता है कि मन ठीक दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। वस्तुतः सूक्ष्म पंचभूतों की अभिव्यक्ति तथा पचभूतमय योग गुणों का अनुभव होने पर योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है। यह शरीर, रोग, वृद्धावस्था और अकाल मृत्यु से युक्त होता है।[२६]

८. ध्यान-योग से प्राप्त सिद्धियाँ :

ध्यान-योग की प्रथम सिद्धि तो शारीरिक-स्वास्थ्य है। शरीर हल्का, नीरोग, विषयासक्ति-रहित, कान्तिमान और सुगन्धि युक्त बन जाता है। मल की न्यूनता हो जाती है और स्वर में माधुर्य आ जाता है।[२७] दूसरी सिद्धि है वीत-शोक बन जाना, तीसरी सिद्धि है सभी प्रकार के पाशों (बन्ध) से मुक्ति, चौथी सिद्धि है आत्म-स्वरूप की प्राप्ति, पांचवी सिद्धि है आत्म-विस्तार। ज्योति स्तत्त्व आत्मा एवं स्रष्टा-सविता के ब्रह्माण्ड व्यापी तेज की एकात्मता के कारण आत्मा की गति भी ब्रह्माण्ड व्यापिनी बन जाती है और आत्मा का स्वरूप परमात्मा बन जाता है।[२८]

वैदिक साहित्य के उक्त विचारो को योग-सूत्र मे क्रमिक रूप दिया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ही यम कहे गये है।[२९] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ही नियम है। यम – नियम आत्म-संस्कार के साधन हैं।[३०] आसन को ध्यान के लिये उपयुक्त शरीर-स्थिति कहा जा सकता है। प्राणायाम से नाड़ी शोधन एवं शारीरिक दोष की निवृत्ति होती है। प्रत्याहार से इन्द्रियों का

---

२६. श्वेता० २।११-१२

२७. श्वेता० २।१३

२८. श्वेता० २।१४-१५, ३।१ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। श्वे० ६।१४।

२९. योग सूत्र २।३०,३२।

३०. न्या. सू. ४।२।४६।

विषय- संसर्ग रुकता है और वे अन्तर्मुखी होती हैं। धारणा से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इन साधनाओं को पार करने के बाद ही ध्यान की साधना का अवसर उपस्थित होता है। ध्यान से आत्मा के अनीश्वर गुण की निवृत्ति हो जाती है। यह समाधि की सिद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन है। समाधि में होने वाले आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि इस ध्यान के बिना असंभव है। ध्यान ही अपने भीतर मन और आत्मा के संयोग का विधायक है जिससे आत्म-साक्षात्कार होता है।[३१] तत्त्वज्ञान, अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि का मुख्य साधन ध्यान है। आत्मोन्मुख ध्यान का उच्चतम बिन्दु ही समाधि है। विज्ञान और केवलत्व की उपलब्धि का उत्कृष्ट साधन भी यह ध्यान ही है।

सविता और सावित्री मन्त्र के जिस सम्बन्ध का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में किया गया है; वह एक विशिष्ट दृष्टिकोण का बोधक हो सकता है। वैदिक काल में ही सविता और सावित्री मन्त्र से भिन्न पथ के पथिकों ने अपने ध्यान का 'अभीष्ट' इनसे भिन्न बना लिया था। उपासना-स्वातन्त्र्य की स्वीकृति स्पष्ट रूप से दिखाई पडती है। इस प्रसग में शैव-ध्यान का उल्लेख किया जा सकता है। मैत्रायणी, काठक आदि में सावित्री मन्त्र के अनुकरण पर शैव-मन्त्रों का निर्माण कर शैव-ध्यान की प्रतिष्ठा की गई है।[३२] ध्यान के लिए अभीष्ट की भिन्नता होते हुए भी ध्यान-पद्धति प्रायः समान है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में ध्यान के महत्त्व और उसकी विधि के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है। अभीष्ट-लय-स्थिति जीवन्मुक्ति का प्रतीक है।[३३] और यह मुक्तावस्था ध्यान द्वारा ही प्राप्य है।

---

३१. आत्मनि आत्म मनसोः संयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम्। वैशेषिक ९।१।११।

३२. द्रष्टव्य-मैत्रायणी २।९।१ काठक १७।११ आदि में—'महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।''''गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्। आदि।

३३. लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः। श्वे० १।७।
मोक्षो ब्रह्मलयस्थितिः। श्वे० शांकर भाष्य–पृ० १२५।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव हि। गीता।

मनोवैज्ञानिक :

चिन्तन की प्रक्रिया में ध्यान की भूमिकाएँ

● डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

मन की एक ऐसी स्थिति भी लक्षित होती है जहाँ कि अनुभूति की संवेदना में धर्म और मनोविज्ञान की भूमिका एक ही होती है। मन की विविध संकल्प-विकल्पात्मक अवस्थितियों में प्रतिपल भावों में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन की प्रक्रिया सहज होने पर भी स्वाभाविक नहीं होती, क्योंकि केवल बाह्य जगत् ही नहीं, आन्तरिक जगत् भी भावों के बनने-बिगड़ने में किसी सूक्ष्म यन्त्र की भाँति मौलिक कार्य करता है। और इसलिए हमारे प्रतिक्षण के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, दीनता-हीनता और गर्व तथा उन्माद के भाव मन की उस सामान्य भूमिका के अन्तर्गत प्रसुप्त रूप में अवस्थित रहते हैं, जिसे "अवचेतन मन" कहा जाता है। अवचेतन मन से चेतन मन की ओर बढ़ना ध्यान की प्रथम भूमिका है। अवचेतन मन में हमारी वृत्तियाँ सोई हुई रहती है, किन्तु उन्ही वृत्तियों के जागृत एवं क्रियाशील हो जाने पर यह कहा जाता है कि मन अवचेतन से चेतन की ओर लौट रहा है। वर्तमान युग में इस प्रक्रिया की साधना के लिए तरह-तरह के मार्ग अपनाये गये हैं, जो मूलतः मनोविज्ञान को लेकर चलते है, किन्तु जिन्हें योग-साधना का नाम दिया जाता है। आज योग-साधना का मूल उद्देश्य ही अवदमित भावनाओं को आविर्भूत कर मानसिक-शारीरिक व्याधियों से मुक्ति प्राप्त करना हो गया है।

यथार्थ में योग और ध्यान ये दो भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। यद्यपि महर्षि पतंजलि ने "अष्टांग योगमार्ग" में धारणा, ध्यान और समाधि का उल्लेख किया है, किन्तु सामान्य रूप से योग-साधना करने वाले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार को सिद्धि के बिना आसन, प्राणायाम और ध्यान के अभिनय मात्र को योग-साधना समझ बैठे है, जो एक बहुत

बड़ा श्रम है। क्योंकि "यम" कहते ही पाँच महाव्रतों की सार्वभौमिक साधना स्पष्ट हो जाती है, जिसमें सर्वप्रथम अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वदेशिक व्रतों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः अध्यात्म की ओर बढ़ने के लिए यह प्रथम तथा अनिवार्य भूमिका थी, जिसमें व्रतों का महत्व अनिवार्य रूप से श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओं को मान्य था। योग शब्द का अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति अर्थात् आत्मतत्व की प्राप्ति। किन्तु ध्यान चिन्तन की वस्तुन्मुखी एकनिष्ठ प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत मन को एकाग्र करने का उपाय किया जाता है। मन को एकाग्र करने के लिए किसी भी श्रद्धेय और प्राप्य वस्तु का ध्यान किया जाता है। ध्यान करने वाला जब उस एकाकार की दशा में पहुँच जाता है तब ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता तब उसे ध्यान कहते हैं।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग का विश्लेषण करते हुए उसके पाँच प्रकारों का विवेचन किया है। योग के पाँच प्रकार हैं—अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग और वृत्तिसंक्षययोग। इन में से ध्यान-योग की चरम स्थिति निश्चल, निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति आत्मज्योति में सतत तन्मय व तादात्म्य वृत्ति जो केवल ज्ञानरूप है, कही गयी है। ध्यान से मानसिक शक्तियों का प्रवाह केन्द्रीयभूत होकर अनन्त ऊर्जा के संचित करने में विशेष योग मिलता है। इस से अधोगामी प्रवृत्तियाँ ऊर्ध्वी-कृत हो अभ्युदय प्रकट होता है। यह ध्यान की प्रथम भूमिका है।

जैन धर्म मे चतुर्मुखी मानसिक वृत्तियाँ वर्णित हैं। यद्यपि वे ध्यान शब्द से उल्लिखित हैं, किन्तु वास्तव में वे मानसिक वृत्तियों के प्रवाह की द्योतक हैं। वे चार हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन को ध्यान इसलिए कहते हैं, क्योंकि इन में मन की विशेष वृत्तियों का चिन्तन-प्रवाह चलता है। सामान्य रूप से सभी प्राणियों में ये वृत्ति-प्रवाह लक्षित होते हे। आर्तध्यान का अर्थ है—संक्लेश-विक्लेश परिणाम, जिस दशा मे मनुष्य शोक-चिन्ता में डूब कर तरह-तरह के दीन-हीन व संक्षोभ उत्पन्न करने वाले भावों मे उतराता रहता है। जुआ-सट्टा, नृशंस अत्याचार, प्राणियों के वध करने, चोरी-डाका आदि के कार्यों में सतत यही ध्यान चलता रहता है। आर्त कहते हैं-पीड़ा या दुःख को। दुःख से होने वाले ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभ ध्यान माने गये हैं। रुद्र का अर्थ है-क्रूर। जिसमें क्रूरता का ध्यान या

क्रिया होती है उसे रौद्र कहा जाता है। रौद्रध्यान प्रायः प्रतिक्रियात्मक होता है। किसी बुरे संकल्प की क्रिया से प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न दुःसंकल्प अथवा तीव्र बुरे भावों को रौद्रध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में जिस मन स्थिति में पापजन्य विचार उत्पन्न होते हैं वह रौद्रध्यान की दशा है। किन्तु जब चित्तवृत्ति मुख्य रूप से आत्मोन्मुखी हो जाती है और आत्म-दर्शन ही जीव का प्रमुख लक्ष्य बन जाता है तब धर्मध्यान की अवस्था होती है। इस से परिणामों में निर्मलता और शान्ति प्राप्त होने लगती है। यह ध्यान धर्म से युक्त होता है, जो शान्ति और सुखदायक है। शुद्ध आत्मदर्शन हो जाने पर जो विशुद्ध आत्मवृत्ति प्रकट होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान पवित्र तथा निर्मल होता है। इस स्थिति में मन में किसी प्रकार का रागादिक का रंग नहीं रह जाता और आत्मा स्वच्छ, निर्मल रूप में प्रकट हो जाती है। इस प्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों शुभ ध्यान हैं। आगम में किसी वस्तु में अन्तर्मुहूर्त के लिए मानसज्ञान में लवलीन होने को ध्यान कहा गया है। मानसिक ज्ञान किसी वस्तु अथवा पर्याय में एक अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्र रहता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कथन है—एक वस्तु में चिन्ता के निरोध को ध्यान कहते हैं, जो अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिर रहता है। ध्यान इस से अधिक समय तक एक बार में नहीं टिक सकता। किसी भी वस्तु या द्रव्य का ध्यान 'ध्यानं ध्यायते चिन्त्यते इति ध्यानम्' मानसज्ञानमेव—मानसिक ज्ञान ही होता है।

मानसिक वृत्तियों को उन्मुख और पराङ् मुख करने की शक्ति ध्यान से प्राप्त होती है। ध्यान की दूसरी भूमिका में प्रमादी, चंचल, असंयमी और उद्वेगजनक चित्त-वृत्तियों को अनुशासित करने का प्रमुख कार्य साधक के सामने विद्यमान रहता है। इसलिए आध्यात्मिक साधना मे संयम और नियन्त्रण की भूमिका आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी मानी जाती है। आत्मानुशासन की यह भूमिका मन को केन्द्रित करने में बहुत सहायक सिद्ध होती है। चित्त की पूर्ण एकाग्रता के अनन्तर लय और गति पर नियन्त्रण हो जाता है। साधक ज्यों-ज्यों चिन्तन पूर्वक चित्त की वृत्तियों में लय और गति को विलीन करता जाता है त्यों-त्यों आत्मोन्मुखी होकर शान्त और निश्चल होता जाता है।

'मैं हूँ'—यह अस्मिता मन को कई प्रकार से भटकाती है। जब तक मन में भटकाव और चंचलता बनी रहती है तब तक जीव आत्मा के दर्शन

नहीं कर पाता। आत्मा के दर्शन कर आत्मोपलब्धि प्राप्त करना ही ध्यान और योग-साधना का लक्ष्य है। अतएव ध्यान की तीसरी भूमिका में साधक को वास्तविक निश्चय हो जाता है कि इस ध्यान-साधना एवं तपस्या से शुद्ध आत्मतत्व को प्राप्त करना है। अतएव सतत आत्मचिन्तन कर वह आत्म-साधना में लवलीन रहता है। इसे आगम की भाषा में पिंडस्थध्यान कहा गया है। इस ध्यान के अभ्यास के लिए पाँच प्रकार के उपाय बताये गए हैं। पहला उपाय नाभिस्थित प्राणवायु को नियन्त्रित करना है। इस से मन के भटकाव की प्रक्रिया शिथिल हो जाती है और मन प्राणों में विलीन होने लगता है। दूसरा उपाय हृदय के आकार वाले कमल पर ध्यान केन्द्रित कर आत्मोन्मुखी होना है। ध्यान की इस चिन्तन-प्रक्रिया में मन्त्र का जाप करते हुए बीजाक्षरों का अस्फुट ध्वनि में उच्चार करना है, जिससे प्राणशक्ति ऊर्जस्वित हो अधोगामी वृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करती है। इस प्रक्रिया से मनोवेग शमित होकर स्थिर और निश्चल होने लगता है, जिससे मन की चंचलता शनैः शनैः विरमित हो जाती है। इसी प्रकार "ओम्, अर्हम्" आदि अक्षरों की विभिन्न रचना कोणों पर चित्त को एकाग्र कर गति और लय का विसर्जन किया जाता है। इस प्रक्रिया का चरम उत्कर्ष तब परिलक्षित होता है जब मन संकल्प-विकल्पों से रहित शुद्ध, निरंजन, निर्विकार, परम चैतन्य, अखण्ड, आनन्दघन, ज्ञानस्वरूप ज्योति का दर्शन करने लगता है और परम आनन्द की निश्चल अनुभूति में तन्मय हो जाता है।

इस प्रकार साकार और निराकार दोनों ही ध्यान की पद्धतियाँ एक ही प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुभूयमान होती हैं, किन्तु वास्तव में ध्यान प्रायः किसी साकार वस्तु का ही किया जाता है। निराकार तथा अमूर्त विषय ध्यान का नही, किन्तु चिन्तन का विषय होता है। परन्तु परम ज्योतिर्मय अवस्था में ध्यान का कोई अवलम्बन नही रह जाता। वह संसार की समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र एवं मुक्त दशा मे पहुँच जाता है।

ध्यान की चतुर्थ भूमिका में पहुँच जाने पर ही वह अवस्था प्रकट होने लगती है, जिसे परमहंस दशा कहते हैं। इसमें न केवल इन्द्रियो में प्रसन्नता प्रकट हो जाती है, वरन् चित्त की भी शुद्धि हो जाती है। साधक स्वस्थ और प्रसन्न लक्षित होता है। उसके अन्तर-बाहर मे स्वच्छता और

निर्मलता प्रकट हो जाती है। यह वही अवस्था कही जाती है, जहाँ पर ध्यान और योग समान भूमिका में परिलक्षित होते है। क्योंकि "योगेन चित्तस्य" योग के द्वारा चित्त की शुद्धि होती है। ध्यान की इस भूमिका में भी साधक की चित्त की शुद्धि हो जाती है और वह शुद्ध, बुद्ध, निरंजन स्वरूप की अनुभूति करने लगता है।

पाँचवी भूमिका विदेह अवस्था या निर्विकल्प समाधि की दशा है। ध्यान की यह चरम स्थिति है। यह स्थिति अवक्तव्य है। जो परमानन्द दशा को प्राप्त हो जाता है वह उस दशा को शब्दों में कह नहीं सकता। शब्द समाधि-दशा का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ रहते है। अत. वह 'नेति नेति' अथवा 'स्यात् वक्तव्य, स्यादवक्तव्य' कही जाती है। इसे ही आगम में केवल ज्ञान की स्थिति के रूप में वर्णित किया गया है, जिसमें क्लेश और दुःखों का क्षय हो जाता है। मात्र सच्चिदानन्द ज्ञानमय दशा सतत प्रवर्तमान रहती है। इस प्रकार निश्चल और निष्कम्प दीपशिखा की भाँति आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से उक्त पाँच भूमिकाओं का उल्लेख किया जा सकता है। चिन्तन की प्रक्रिया में इसके अनेक सोपान हो सकते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन शब्दों का नही, केवल अनुभूति का विषय है।

एकबार एक अध्यापक ने ब्लैक बोर्ड पर चाक से एक रेखा खींच दी और विद्यार्थियो से कहा—"इसे बिना मिटाये छोटा कर दो।"

विद्यार्थियों के मस्तिष्क मे यह बात बैठ ही नही रही थी कि बिना मिटाये रेखा छोटी कैसे हो सकती है ? इतने में बालक तीर्थराम (जो बाद में स्वामी रामतीर्थ हुए) उठा — अध्यापक की मेज पर से चाक उठायी और उस रेखा के पास एक बड़ी रेखा खींच दी।"सब ने देखा कि पहले वाली रेखा अपने आप छोटी हो गयी है।"

किसी को मिटाकर स्वय महान् नही बना जाता, निज कर्मों. सद्गुणों, भावों एवं निश्चय को बड़ा बनाने से अन्य अपने आप छोटे हो जाते है। अथवा—

सारी विषय—वासनाओं के ऊपर एक बडी वासना प्रभु-विषयक जोड़ दो—संसार वासना अपने आप छोटी हो जायेगी।

विश्लेषण :

जीव की उत्कृष्ट साधना—ध्यान

© श्री रतन कुमार जैन 'रत्नेश'

साधक जीवन में ध्यान एक उत्कृष्ट प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मानव-मन शुद्ध-बुद्ध और विवेकशील बन कर निर्मल हो जाता है, लेकिन यह आसान बात नहीं है। इसमें कई वर्ष गुजारने पड़ते हैं। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना बड़ा कठिन काम है। सर्व प्रथम अपने मन के साथ युद्ध आरम्भ करना पड़ता है। मन को नियन्त्रण में लाने के लिये अपनी इन्द्रियों पर काबू पाना होता है।

जितना बड़ा संसार हम अपनी आँखों से बाहर देखते हैं उससे भी बड़ा संसार हम अपने अन्तर में समाये हुए रहते हैं। यह बात बहुत कम लोग जानते हैं, लेकिन इसे जानना कठिन नहीं है। इसकी प्रक्रिया होती है—बाह्य से अन्दर की ओर प्रवेश करना। बाह्य विविधताओं को देखना बन्द करके केवल अन्दर स्थित 'आत्मा' को देखना आरम्भ किया नहीं कि यह संसार दिखाई देना शुरू हो जाता है। ऐसा करते हुए भले ही हमारी आँखें खुली हों, कान खुले हों, पर वे बाह्य दृश्यों को ग्रहण नहीं करेंगे। इसी का नाम ध्यान है। इसके बल पर ही हमारे आध्यात्मिक ऋषि-महात्मा जङ्गलों में वर्षों तक खड़े रहते थे और ध्यान साधना में तल्लीन रहा करते थे। उन्हें न जङ्गली जानवरों का डर होता था और न वे किसी बाह्य परिषह से ही भयभीत होते थे। भगवान महावीर और बाहुबली की साधना ऐसी ही थी। इस साधना से प्रतिकूल को भी अनुकूल बना लेने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। फलस्वरूप विष अमृत हो जाता है, सर्प माला बन जाता है और शरीर ऐसा बन जाता है कि उसके स्पर्श से ही असाध्य रोग मिट जाते हैं। यह साधक चाहे तो अग्नि को शीतल कर सकता है और चाहे तो अग्नि को प्रज्वलित भी कर सकता है। यह सब इस साधना का ही चमत्कार होता है।

निर्विकल्प अवस्था ही साधक की अन्तिम सीढ़ी है। इसीलिये ध्यान को साधक की उत्कृष्ट साधना कहा गया है। जब तक मस्तिष्क विचारों में भरा रहता है, वह भौतिक रहता है और बाह्य जगत में ही लीन होता है। इस स्थिति से जब विरत हुआ जाता है तो आत्मा जागरूक तो रहता है, पर वह सक्रियता और निष्क्रियता दोनों से परे हो जाता है। यही आत्मा की शुद्ध अवस्था होती है, जहाँ संकल्प-विकल्पों का तांता टूट जाता है और आत्मा अपने निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा का चित्त के साथ सम्बन्ध टूट जाना इस स्थिति को प्राप्त करना है। तब वह आत्मा को आत्मा से देखने लग जाता है। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु य पश्यति स पश्यति।'

आप कहेंगे, यह कैसे हो सकता है? अभ्यास से ही यह सम्भव हो सकता है। इसीलिये साधक को एकान्त में साधना करने का कहा जाता है; जहाँ मन विचलित न हो और आत्मा आत्मस्थ हो सके—निज स्वरूप को देख सके। इस अभ्यास के लिये न तो बाह्य साधनों की आवश्यकता होती है और न यन्त्र-तन्त्र की ही। यह तो ध्यान की ही प्रक्रिया है—जिसके साधन हैं—कषाय विजय, इन्द्रिय-दमन, मानसिक नियमन, समत्व की बुद्धि और इनके द्वारा एकाग्रता की उपलब्धि।

मानव-मन आकांक्षाओं से भरा रहता है। वह दूसरों को परास्त कर स्वयं विजयी होना चाहता है, परन्तु ऐसी विजय सच्ची विजय नहीं कही जाती है जो कि दूसरों के पराभव पर खड़ी होती है। इसी से कषायों की जागृति, इन्द्रियों की स्वच्छन्दता और मन की उच्छ्रंखलता बढ़ने लगती है, जो आत्मा के मूल स्वभाव 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' को भुला ही देती है। अतः सर्व प्रथम व्यक्ति को अपने विचारों में समानता लानी चाहिये और संकल्प-विकल्पों को कम करना चाहिये। तब वह अपनी वासनाओं के प्रति उदासीन बनेगा और कषायाग्नि को शान्त कर साम्य भावना की ओर अग्रसर होगा। साम्य भाव और ध्यान दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, जो आत्मा की निर्विकल्प अवस्था को उत्पन्न करते हैं। यही समाधि या ऊर्ध्वीकरण की भूमिका कही जाती है।

निर्विकल्प अवस्था को पाने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। बिना अभ्यास के यह सम्भव नहीं होता। वैराग्य और अभ्यास दोनों को बढ़ाना होगा। वैराग्य से वासनाओं को क्षीण करना होगा और अभ्यास

से जप-तप नियम और प्राणायाम को बढ़ाना होगा। तभी मन के विकार नष्ट होकर वह शांत बनेगा और आत्मा अपने स्वभाव में स्थित होगी। व्यग्रता, असहिष्णुता आदि मानसिक विकार भी एकाग्रता में बाधक होते हैं। जिन्हें शांत करने के लिये स्वाध्याय और जप-तप का अवलम्बन लेना पड़ता है। इन सब मनोवृत्तियों पर अंकुश लाने के लिये सात्विक आहार, शुद्ध विचार, आसन और प्राणायाम भी अनिवार्य हैं। शरीर को टिकाने के लिए भोजन की आवश्यकता अपरिहार्य है, परन्तु वह इतना नहीं होना चाहिये कि वह अन्य इन्द्रियों को भी उच्छृंखल और अनियन्त्रित बना दे। आहार को नियन्त्रण में रखने के लिये ही आसन तथा प्राणायाम की आवश्यकता होती है।

सारांश यह कि विचार रहित अवस्था को प्राप्त करने के लिये सात्विक आहार, शुद्ध विचार, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, जप-तप और आसन-प्राणायाम की साधना का विकास करना आवश्यक होता है।

जैसे २ जीवन में यह ध्यान-साधना बढ़ती जाती है वैसे २ आत्मा के अन्तः पटल खुलते जाते हैं और उसमें समाया हुआ विराट संसार हमें दिखाई देने लग जाता है। तब उसमें बाह्य सब सिमट कर 'स्व' में समाविष्ट हो जाता है, अपनापन मिटकर समत्व में लीन हो जाता है। यही ध्यान साधना की चरम सिद्धि कही जाती है।

लाहौर छोड़ने के पश्चात् स्वामी रामतीर्थ एक दिन मस्ती की दशा में ऋषिकेश से आगे गङ्गा के किनारे घूम रहे थे। एक योगी उस समय उन्हें मिला। स्वामी राम ने उससे पूछा, "बाबा ! कितने वर्ष से आप सन्यासी हैं?" योगी ने कहा, "कोई चालीस वर्ष हो गये!" स्वामी राम बोले, "इतने वर्ष में आपने क्या कुछ प्राप्त किया?" योगी ने बड़े अभिमान से कहा, "इस गङ्गा को देखते हो, मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चलकर दूसरे पार जा सकता हूँ जैसे कोई शुष्क भूमि पर चलता है।" स्वामी राम ने कहा, 'उस पार से वापस भी आ सकते हैं आप?" योगी ने कहा, "हाँ वापस भी आ सकता हूँ।" स्वामी राम बोले, "इसके अतिरिक्त कुछ और?" योगी ने कहा, "यह क्या छोटी बात है?" स्वामी राम ने हंसते हुए कहा, "बहुत छोटी बात है बाबा! चालीस वर्ष आपने खो दिये। नदी में नौका भी चलती है। दो आने उधर जाने के लगते हैं, दो आने इधर के। चालीस वर्ष में आपने वह प्राप्त किया जो केवल चार आने खर्च करके किसी भी व्यक्ति को मिल सकता है। तुम अमृत के सागर में गये अवश्य परन्तु वहाँ से मोती के स्थान पर कंकर उठा लाये।"

तुलनात्मक :

भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन में ध्यान का स्वरूप

● कुसुमलता जैन, एम. ए., रिसर्च स्कॉलर

भारतीय दर्शनों में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक परम्परा में ध्यान का निरूपण मूलतः योग दर्शन में हुआ है। योग के आदि-प्रवर्तक महर्षि पातञ्जलि (ई पू द्वितीय शती.) माने जाते हैं। पातञ्जलि कृत 'योगसूत्र' में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा गया है—'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः।' अष्टाङ्ग योग का सातवाँ अंग ध्यान है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार चित्तवृत्ति के निरोध के बहिरंग साधन हैं। अन्तिम तीन ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। समाधि दो प्रकार की है—सम्प्रज्ञात, जिसमें ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है और असम्प्रज्ञात जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का ऐकात्म्य हो जाता है।[1] पातञ्जलि के इस योग को राजयोग की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

'अग्निपुराण' मे ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान-प्रयोजन चारों को जान कर योग साधना करने का आदेश दिया गया है—

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम् ।
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत तत्त्ववित् ।।[2]

ध्यान यज्ञ सर्व दोषों से रहित शुद्ध यज्ञ है[3], अतः यज्ञ आदि कर्मों

---

१. विशेष के लिए देखिए—पातञ्जल योग दर्शन। गीता प्रेस, गोरखपुर।

२. अग्निपुराण, अध्याय २७४, श्लोक ७।

३. वही : श्लोक १३ उत्तरार्द्ध—ध्यान यज्ञ. परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः ।।

तथा अशुद्ध और अनित्य बाह्य साधनो को त्याग कर मोक्षप्रदायी ध्यान-यज्ञ करना ही उपादेय है।

ध्यानयज्ञः परस्तस्मादपवर्गफलप्रदः।
तस्मादशुद्धं सन्त्यज्य ह्यनित्यं बाह्यसाधनम् ॥
... ...
यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य योगमत्यर्थमभ्यसेत् ॥[४]

मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ ने हठयोग की साधना का प्रवर्त्तन किया है। इन्हे नाथ-योगी भी कहा गया है। इस प्राचीन भारतीय साधना पद्धति मे कुण्डलिनी शक्ति को जागृत किया जाता है। हठयोग के ग्रन्थो मे इस योग की प्रक्रियाओं के विस्तृत वर्णन है।

बौद्धो ने अष्टाङ्ग योग के स्थान पर षडंगयोग को मान्यता दी है। ये छ अङ्ग इस प्रकार हैं—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। बौद्धों के एक सम्प्रदाय विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एकमात्र सत्य है, अतः चित्त की 'एकाग्रता' के लिए 'झाण' साधना विहित है। बौद्धों की यह ध्यान साधना हठयोग की पद्धति के समान है।

प्राकृत तथा सस्कृत दोनों ही भाषाओं के जैन साहित्य मे ध्यान का विशद विवेचन किया गया है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने के कारण जैन धर्म मे इसका अत्यधिक महत्त्व है। महावीर स्वामी के निर्वाणोपरान्त मुनियों के सम्मेलन बुलाकर भगवान् महावीर के उपदेशों का संकलन किया गया। महावीर-निर्वाण के लगभग ६८० वर्ष पश्चात् देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी मे जो मुनि सम्मेलन बुलाया गया, उसमें ४५-४६ ग्रन्थों का संकलन हुआ।[५] ये ही ग्रन्थ अद्यावधि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित एवं मान्य हैं।

अर्द्धमागधी में संकलित इन आगम ग्रन्थों में विशेषतः ठाणांग मे आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारों ध्यानों और उनके भेदोपभेदों का

---

४. वही : श्लोक १४—१५ उत्तरार्द्ध।

५. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल जैन, पृ० ५५।

निरूपण किया गया है।[६] इन आगम-ग्रन्थों पर चूर्णी, निर्युक्ति, भाष्य और टीकारूप चतुर्विध व्याख्या साहित्य की सर्जना हुई है। इनमें निर्युक्तियों में और उसमें भी विशेषतः 'आवश्यक निर्युक्ति' में ध्यान के लक्षण और भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।[७]

उक्त आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त ध्यान अथवा योग पर अनेकानेक दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्यों ने अपनी लेखनी चलाई है तथा ध्यान का आगम सम्मत विस्तृत निरूपण किया है।

आगम ग्रन्थों के व्याख्याकार जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण[८] ने ध्यान-शतक नामक ग्रन्थ की रचना की है।

आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड में उल्लेख है कि बाह्य तप से स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है, शाश्वत सुख की प्राप्ति तो ध्यान से ही सम्भव है। ध्यानावस्था में आस्रवों का निरोध होकर सञ्चित कर्मों का नाश होने लगता है। कषाय और लोक व्यवहार से मुक्त तथा विरक्त होने पर ही आत्म ध्यान में प्रवृत्ति सम्भव है। सांसारिक कार्यों के प्रति सुपुप्ति होने पर ही आत्मजागृति सम्भव है। रत्नत्रय युक्त मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है। शुद्ध आत्म चिन्तन, जिसमें ध्याता अपने आप में लीन हो जाता है। यह निश्चयात्मक ध्यानावस्था है। दूसरे प्रकार का ध्यान वह है जिसमें ध्याता अपनी अक्षमता के कारण आत्मा का पुरुषाकार रूप में ध्यान करता है। ध्यान के महत्त्व के विषय में आचार्य श्री का कथन है कि ध्यानाभ्यास के बिना बहुत से शास्त्रों का पठन और नानाविध आचारों का पालन व्यर्थ है।[९] इस प्रकार इस ग्रन्थ में जैन मान्यतानुसार ध्यानविषयक प्राचीन विचार प्राप्त होते हैं। पातंजल योग में वर्णित यमादि आठ अंगों में से प्राणायाम के अतिरिक्त शेष सातों का जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है।

---

६. ठाणाग : अध्याय ४, उ० १।

७. आवश्यक निर्युक्ति : कायोत्सर्ग अध्ययन : गा० १४६२—८६।

८. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य, जीयकप्पसुत्त, विशेषणवती, बृहत्संग्रहणी आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की भी रचना की है।

९. मोक्षप्राभृतः गा० २३—१००।

भावपाहुड में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी का कथन है कि चिरकाल से मनुष्य ने आर्त और रौद्र ध्यान किया। अब धर्म्य और शुक्ल ध्यान करना चाहिए।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥

जैन परम्परा में सर्व मान्य मोक्षशास्त्र में कहा है एकाग्रचिन्तानिरोध ही ध्यान हैं। उत्तम संहनन वाले के ध्यान की उत्कृष्टि स्थिति काल एक अन्तर्मुहूर्तमात्र है।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतमुहूर्तात्।[10]

उक्त सूत्र ग्रन्थ के अनुसार ध्यान के चार भेद हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल—'आर्त्त रौद्रधर्म्यशुक्लानि।'[11]

मन के प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति मनोनुकूल की अप्राप्ति तथा दुःखों की वेदना से जो संक्लेश भाव उत्पन्न होते हैं, वह सब आर्त्त ध्यान है। यह आर्त्त ध्यान चौथे से छठे गुणस्थानवर्ती को हो सकता है—

'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।'[12]

हिंसा, अनृत, स्तेय, विषयासक्ति तथा परिग्रह इन पाँच भावों से जो भाव उत्पन्न होते हैं, वह रौद्र ध्यान हैं। रौद्र ध्यान भी चौथे तथा पाँचवे गुणस्थानवर्ती को हो सकता है।

'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।'[13]

आर्त्त तथा रौद्र ध्यान अशुभ-कर्म-बन्धन तथा संसार के निमित्त ही हैं, अतः त्याज्य हैं। धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष-हेतु हैं—

'परे मोक्षहेतू।'[14]

इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों से मन को हटा कर उसे शुभ चिन्तन

---

१०. मोक्षशास्त्र : आचार्य उमा स्वामी ९/२९।
११. वही : ९/२८'
१२. वही : ९/३४।
१३. वही : ९/३५।
१४. वही : ९/२९।

में लगाना धर्म्यध्यान है। यह चिन्तन चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय।

'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।'[१५]

शास्त्रोक्त तत्त्वों का चिन्तन करना और उन्हें समझने का प्रयत्न करना आज्ञाविचय है। धर्म्यध्यान के मार्ग में जो बाधाएँ आयें, उन्हें दूर कर धर्म में ध्यान लगाना अपाय-विचय है। कर्म किस प्रकार फल देते हैं, जीवन में घटित घटनायें किस किस कर्मोदय का परिणाम हैं, इस प्रकार कर्म की परिणति के सम्बंध में विचार करना विपाक-विचय है। लोक का स्वरूप कैसा है, तीनों लोकों की रचना किस प्रकार की है: उनमें जीवों की क्या गति है, इस प्रकार का चिन्तन संस्थान-विचय है।

इस चतुर्विध धर्म्यध्यान से ध्याता को दृष्टि निर्मल होती है और वह शुक्ल ध्यान में प्रवृत्त हो सकता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-विचार, एकत्व-वितर्क-वितर्क-अविचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवर्ति।

'पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।'[१६]

षट् द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों का मन, वचन, काय इन तीनों योगों द्वारा चिन्तन करना पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क का अर्थ है श्रुत अर्थात् आगम-वितर्क: श्रुतम्।'[१७] तत्त्वज्ञान के लिए योगों का संक्रमण विचार है। 'वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः।'[१८] अतः द्रव्य से पर्याय तथा पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्र वचन से दूसरे शास्त्रवचन एवं एक योग से दूसरे योग का अवलम्बन लेकर ध्यान की धारा चलना पृथक्त्व वितर्क विचार है। आलम्बन-भूत द्रव्य, उसकी पर्याय तथा योग का संक्रमण न होकर एक ही द्रव्य तथा पर्याय का एक ही योग के द्वारा ध्यान किया जाता है तो वह ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार है। जब ध्यान में योग का संक्रमण नहीं होता तथा श्रुति वचन का भी अवलम्बन नही लिया जाता, किन्तु केवल कुछ सूक्ष्म काय-

---

१५. मोक्षशास्त्र : अध्याय ६, सूत्र ३६।
१६. वही : अध्याय ६, सूत्र ३६।
१७. वही : अध्याय ६, सूत्र ४३।
१८. वही : अध्याय ६, सूत्र ४६।

योग मात्र का अवलम्बन रहता है' तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान होता है। जब न वितर्क रहता है और न विचार और न योग का अवलम्बन रहता है; तब व्युपरतक्रियानिर्वति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान रहता है। अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान केवली के होते हैं। अन्तिम शुक्ल ध्यान केवली अरहन्त भगवान की चरम अवस्था में होता है। जैन परम्परा में ध्यान के यही भेदोपभेद सर्वमान्य है।

योग विषयक जैन साहित्य के प्रणेता के रूप में आचार्य हरिभद्रसूरि का नाम उल्लेखनीय है। ये आठवीं शताब्दी के प्रभावशाली आचार्य हैं। 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा 'प्रबन्धकोश' में इन्हें १४४४ ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है। योग और दर्शन जैसे क्लिष्ट ग्रन्थों के साथ इन्होंने सरस काव्य ग्रन्थो की भी सर्जना की है। इनकी योग विषयक स्वतन्त्र तीन रचनायें है। 'योगशतक' प्राकृत में है। 'योगबिन्दु' तथा 'योगदृष्टिसमुच्चय' संस्कृत कृतियाँ हैं।

'योगशतक' में कुल १०१ गाथायें हैं। इसमें योग के अधिकारी तथा ध्यानरूप योगावस्था का सामान्य निरूपण है।

'योगबिन्दु' में ५२७ पद्यों मे जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहाँ 'मोक्ष-प्रापक-व्यापार' को योग कहा गया है। मोक्ष ही योग का लक्ष्य है। योग के अधिकारी चार प्रकार के बताये गये है। प्रसंगानुसार सांख्य, बौद्ध और वेदान्त आदि दर्शनों का भी विवेचन है। पातजल योग तथा बौद्ध-सम्मत योग भूमिकाओ के साथ की गई जैन योग की तुलना महत्वपूर्ण है। आपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है।

आचार्य हरिभद्र कृत 'षोडशक' के १४ व प्रकरण में योग साधना में विघ्न करने वाले आठ चित्त-दोषों का निरूपण किया गया है। ये चित्त दोष हैं—खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुग और आसंग। १६ वें प्रकरण में इनके विरोधी आठ चित्त गुणों का वर्णन है—अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमासा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति। इस योग साधना से स्वानुभूति रूप चरम आनन्द की प्राप्ति होती है।

इन रचनाओं द्वारा हरिभद्रसूरि ने अपने विशेष चिन्तन, नवीन वर्गीकरण और मौलिक पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के

योगात्मक विचारों को कुछ नये रूप मे प्रस्तुत किया है तथा वैदिक और बौद्ध परम्पराओं से उनका साम्य प्रदर्शित किया है।

ध्यानयोग का विस्तृत वर्णन 'ज्ञानार्णव' में प्राप्त होता है। इसके रचयिता आचार्य शुभचन्द्र हैं। ध्यान के आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान विषयो का वर्णन किया गया है। ध्यान के निरूपण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत संज्ञाओं के प्रयोग मौलिक है। जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप समझने के लिए उक्त कृति पर्याप्त है। आचार्य श्री ने प्राणायाम का भी पर्याप्त निरूपण किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि मे साधक नही अपितु बाधक कह कर उसके अभ्यास का निषेध किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र (ई० १२ शती०) द्वारा लिखित 'योगशास्त्र' में लगभग १००० संस्कृत श्लोक हैं। ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेदों के साथ धर्म्य और शुक्ल ध्यान के भेदों का वर्णन किया गया है। यह समस्त प्रकरण आचार्य शुभचन्द्र-प्रणीत ज्ञानार्णव से कहीं शब्दशः कही किंचित् परिवर्तन अथवा संकोच विस्तार से ग्रहण किया गया है। यहाँ भी प्राणायाम का विस्तारपूर्वक ३०० श्लोकों में निरूपण करके उसे ज्ञानार्णव की भाँति मोक्षप्राप्ति में बाधक सिद्ध किया गया है।

सिद्धान्त-चक्रवर्ती श्रीमन्नेमिचन्द्र द्वारा रचित 'द्रव्यसंग्रह' में १० गाथाओ (गा० ४७-५७) में ध्यान का निरूपण किया गया है। यहाँ कहा गया है कि ध्यान ही मोक्ष का साक्षात् हेतु है अतः ध्यान के लिए चित्त को स्थिर रखना और राग, द्वेष तथा मोह को त्यागना आवश्यक है।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धिए।।

पूज्यपाद कृत 'इष्टोपदेश' में उन भावनाओं का वर्णन है, जिनके द्वारा साधक मन को आत्मध्यान में प्रवृत्त कर सकता है। आत्मध्यान मे प्रवृत्त होने पर ध्याता समस्त जगत् को इन्द्रजाल के रूप में देखता है। एकान्तवास चाहता है। कहकर तुरन्त भूल जाता है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, देखता हुआ भी नहीं देखता—यहाँ तक कि उसे अपने शरीर का भी ध्यान नही रहता। यह अवस्था वेदान्त

दर्शन के जीवन्मुक्त के समान है। पूज्यपाद की दूसरी रचना 'समाधिशतक' है। इसमें अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप वर्णित है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य के मोक्षपाहुड का अनुसरण किया गया है।

इनके अतिरिक्त ध्यानविषयक 'ध्यानसार' और 'योगप्रदीप' नामक दो अन्य संस्कृत पद्यबद्ध रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

रामसिंह मुनि ने ११ वीं शताब्दी में अपभ्रंश ग्रन्थ 'पाहुडदोहा' की रचना की है। इस पर शैव तथा सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव है। यहाँ देह को देवालय, आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय वृत्तियों को शक्ति रूप से संबोधित किया गया है। अन्तिम दो दोहों में सूफी सम्प्रदाय के समान देह और आत्मा तथा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी-प्रेमी के रूप में वर्णन है।

मुक्ति के लिए ध्यान आवश्यक है, अतः जैन दर्शन के समस्त मुनि-आचार-ग्रन्थों में ध्यान का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस लेख की लघु-सीमा में उन सबका उल्लेख संभव नहीं है। अस्तु, केवल उन्हीं ग्रन्थों का इस लघु-लेख में उल्लेख है जो सभी जैन सम्प्रदायों में मान्य हैं।

ता जोगी चित लावो मेरे वाला।
संजम डोरी शील लंगोटी, घुल घुल गांठ लगावे।
ध्यान गुदड़िया गल विच डाले, आसन दृढ़ जमावे मोरे वाला ॥१॥
अलखनाथ का चेला होकर, मोह का कान फड़ावे।
धर्म शुक्ल दोऊ मुद्रा डाले, कहत पार नहीं पावे मोरे वाला ॥२॥
क्षमा को सींगि गले लगावे, करुणा नाद बजावे।
ज्ञान गुफा में दीपक जोके, चेतन अलख जगावे मोरे वाला ॥३॥
अष्ट कर्म काठ की धूनी, ध्यान की अगनि जलावे।
उत्तम क्षमा जान भस्मी को, शुद्ध मन अंग लगावे मोरे वाला ॥४॥
इस विधि जोगी बैठ सिंहासन, मुक्ति पुरी को धावे।
बीस आभूषण धार गुरु ऐसे, फेरे न जग में आवे मोरे वाला ॥५॥

—जगतराम

बिम्ब : प्रतिबिम्ब

ध्यान और हम

● डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, एम. ए., पी-एच. डी.

जीवन को सुखी और समृद्ध बनाना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को सब प्रकार से समुन्नत बनाने के लिये प्रयत्नशील भी है। प्रश्न है कि क्या उसका प्रयास सफल हो रहा है और मनुष्य सुखी और समृद्ध हो पा रहा है?

असल में सुखी और समृद्ध होने का प्रश्न आज स्पष्ट नहीं है। ऐन्द्रिक सुख-सुविधायें उपलब्ध होना ही लोग समृद्धि मान बैठे हैं और इसीलिये इस अवस्था में पहुँच कर वे यथार्थतः न तो सुखी ही हो पारहे हैं और नाही समृद्ध ही। सुख क्या है? जिसकी प्रत्येक प्राणी अपेक्षा रखता है। सुख अस्थायी वस्तु नहीं हो सकती, उसमें अनुभूति हुआ करती है, उपलब्धि नहीं। उपलब्धि के अर्थ है जो मुझमें व्याप्त नहीं है, समाप्त है— उसकी प्राप्ति। जो भी वस्तु बाहर से प्राप्त होती है, वह शाश्वत नहीं हुआ करती। उसका आगम प्रत्यागम भी रखता है, किन्तु सुख ऐसी चीज़ नहीं है। वह तो प्राप्त नहीं, व्याप्त हुआ करती है। सुख वस्तुतः आत्मा का गुण है, स्वभाव है। जब आत्मा अनन्त है, शाश्वत है तो उसके गुण-स्वभाव भी तो चिरन्तन हैं।

अब प्रश्न यह है कि सुख की अनुभूति कैसे हो? जो चीज़ अन्तर की है, उसे बहिर्साधनों से जाना नहीं जा सकता। बहिर्साधनों और सुविधाओं का परित्याग कर व्यक्ति जब नितान्त अकेला होता है तब उसकी यात्रा अन्तर्मुखी हो, तो निश्चित ही वह सुख की अनुभूति कर सकता है।

ऐसी अनुभूतियों में ध्यान का बड़ा महत्व है। ध्यान क्या है? मुझे लगता है कि जो अपने निकट है, उसमें होना ही वस्तुतः ध्यान है। अपने निकट के अतिरिक्त जो और बहुत कुछ है, वह वस्तुतः सब कुछ पड़ोस है। पड़ोस

वहिर्वस्तु है, उसके निकट होना भी वहि के निकट होना है। इसे यदि दार्शनिक शब्दावली में कहे तो कहा जा सकता है कि पड़ोस वास्तव में परिग्रह है। परिग्रही चित्त कभी ध्यान करने की स्थिति में नहीं हो सकता जिससे व्यक्ति आत्म-स्वभाव-सुख की अनुभूति कर सके।

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ध्यान है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने मन को गतिहीन कर दें, शून्य बनादें। संसार के सभी दर्शनों ने मन को वश में करने की बात कही है। मन को वश मे करने के अनेक साधन जुटाये गये हैं किन्तु मेरा मन कहता है कि साधनों को जुटाने से पूर्व यह जान लेना परम आवश्यक है कि आखिर मन है क्या ? मन को जानने के लिये मैं किसी दार्शनिक परिभाषा का प्रश्रय नही लेता, मुझे जो लगता है, उसे कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। मेरे दृष्टिकोण से विचारों की सूक्ष्म परिणति ही मन है। विचार वहि-आगम है, इसीलिये वह परिग्रह है। मन परिग्रही परिणाम है। परिग्रह 'जो है' (Existence) उस तक पहुँचने से स्पष्ट बाधा है। इस प्रकार यदि हम विचार शून्य हो जांय तो एक अवस्था हो सकती है जब मैं मेरा नितान्त अपरिग्रही होगा। फिर वह वही होगा 'जो है'। उसमें होना ही वस्तुतः ध्यान है।

आचार्य उमास्वाति ने ध्यान को चार भागों में विभाजित किया है, यथा—

"आर्तरौद्रधर्म शुक्लानि" [तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९ श्लोक २९।] अर्थात् आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आपने स्पष्ट करते हुए कहा है कि आर्त और रौद्र ये दो संसार के कारण होने से दुर्ध्यान है, हेय है, एतदर्थ त्याज्य हैं। "परे मोक्ष हेतु" शेष दो धर्म और शुक्ल नामक ध्यान वस्तुतः मोक्ष, मुक्ति का मुख्याधार हैं।

संसार हो चाहे असंसार, जन्जीर लोहे की हो किंवहुना स्वर्णिम। ध्यान को लौकिक दृष्टि से विचार करें तो कह सकते हैं कि ज्ञान धारा को अनेक विषयगामिनी बनाने से रोक कर एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है। अब यदि वह ज्ञान आर्त, रौद्र पर आवृत होगा तो ऐसे ध्यान का परिणाम संसार होगा और यदि वह ज्ञान धर्म और शुक्ल पर आधारित होगा तो वही आत्म-कल्याणकारी होगा जिसका अन्तिम रूप मोक्ष है।

ध्यान कैसे किया जावे ? यह तो वस्तुतः क्रिया विषयक प्रयोग है। अनेक प्रकार की क्रियाओं, प्रयोगों की चर्चा ग्रन्थों में हुई है किन्तु मुझे लगता है कि ध्यान का काम किसी भी क्रिया से प्रारम्भ चाहे हो जावे किन्तु उसकी प्राप्ति तो अक्रिया प्रधान है। विचार से सूक्ष्म और कोई क्रिया नहीं है। यदि विचार ही विसर्जित हो जावे तो फिर मन की मृत्यु हो जावेगी और मन की अनुपस्थिति मे किसी भी क्रिया का होना सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार मैं कह सकता हूँ कि हम अपने को छोडते जायें, पहिले शारीरिक दृष्टि से और तब फिर मानसिक दृष्टि से तभी ध्यान की स्थिति आरम्भ होती है।

ध्यान, ध्येय और ध्याता जब ये तीनों पृथक-पृथक बातें समाप्त हो जाती हैं तभी वस्तुतः जो है वह मुखर हो उठता है। यदि ध्यान का अस्तित्व है, तो वहाँ क्रिया है, इसी प्रकार यदि ध्येय है तो क्रिया और ध्याता है तो क्रिया उपस्थित रहती है। मुझे लगता है कि जब 'जो नही है' वह छूट जायगा, तभी वस्तुतः प्राणी अपनी ध्यान की अवस्था मे होगा।

आत्मानुभूति मे ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से सच्चा सुख और समृद्धि अनुभूत हुआ करती है।

एगे जिए जिया पंच, पञ्च जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तु जिणामहं ।:

एक मन को जीत लेने पर पांच इन्द्रियों को जीत लिया जाता है और पांच (इन्द्रियों) को जीत लेने पर दस (मन, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय) जीत लिये जाते हैं। इन दसों को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

—भगवान महावीर

मूल्यांकन :

ध्यान : एक जीवन-दृष्टि

श्री मिट्ठालाल मुरड़िया, "साहित्यरत्न"

ध्यान क्या है ? ध्यान वह प्रक्रिया है जिसमें साधक ही नहीं, साधारण से साधारण व्यक्ति भी स्थिति प्रज्ञ स्थिति में शान्त चित्त होकर आत्मलीन हो जाता है। उसकी बाहरी क्रियाएँ मर्यादित समय के लिए बन्द हो जाती हैं। हलन-चलन, दौड़-धूप और हानि-लाभ समाप्त हो जाते हैं। नयन बाहरी आलोक को अन्तर्निहित कर लेते हैं, माया-मोह के पर्दे ढीले हो जाते हैं, उन्माद के बन्धन कट जाते हैं, अहंकार हट जाता है, आलोक छा जाता है और सरलता और सात्विकता का विकास हो जाता है। धीरे-धीरे साधक ध्यान में इतना रम जाता है कि कौन आ रहा है ? कौन जा रहा है ? कौन क्या कर रहा है और किसका-किससे लेना है ? इस ओर साधक का ध्यान ही नहीं जाता।

निरन्तर कार्य करते जाना ही जीवन है. जिस जीवन में कर्मण्यता है, निष्ठा है, अनुशासन है, लगन और सरलता है, सचमुच वही उत्कृष्ट जीवन है। कभी-कभी जीवन की सभी क्रियायें उपादेय नहीं होती हैं, कुछ हेय और कुछ ग्राह्य होती हैं किन्तु साधना के क्षेत्र में की जाने वाली जीवन की सर्वांगीण क्रियायें न्यूनाधिक रूप में अवश्य ही फलदायक होती है। ध्यान के लिये यह देखना है कि साधक की तैयारी कैसी है ? साधक का स्वभाव, अनुभव और उसका शारीरिक सौष्ठव कैसा है ? साधक गृहस्थ है या त्यागी। ध्यान वह आत्मोन्नति के लिये करता है-या-आत्म-प्रवंचना के लिए-या-प्रदर्शन के लिये। सामान्य जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिये भी व्यक्ति कभी-कभी ऐसे दिखावे कर जन-जीवन को लूटते हैं, स्वर्ग का मोह बताकर अन्ध श्रद्धा और भक्ति के नाम पर उनका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।

अगर साधक का ध्यान माया-मोह, कंचन-कामिनी की मुक्ति के पश्चात् ही होता है तो समझना चाहिये कि साधक सामान्य जन-मानस के

धरातल से ऊपर उठकर साधना में इतना रम जाता है कि उससे वाह्य पदार्थों का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। कौन रागी है ? कौन विरागी है ? कौन कैसा है ? इसका उसे ध्यान नहीं होता है। वह तो सागर की तरह प्रशान्त होकर कला, सौन्दर्य और कल्याण में आत्मलीन हो जाता है। अब तक जिस परिस्थिति, स्वभाव और आचरण से जो कुछ हुआ है उससे उसका कोई सरोकार नही होता है। उसके जीवन में वैराग्य की एक स्रोतस्विनी प्रवाहित होने लगती है, इस स्रोतस्विनी में वह इतना डूब जाता है कि भूतकाल की सम्पूर्ण स्मृतियाँ समाप्त हो जाती हैं फिर साधक इतना हलका और स्वच्छ बन जाता है कि वह कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। भोगी, वैरागी बन जाता है। प्रगति के चरण चिन्ह इस दिशा में इतने व्यापक और व्यावहारिक हो जाते हैं कि कोई भी वाह्य आकर्षण और भौतिक उपादान उसके ध्यान को विभंग नहीं कर सकते हैं ? चाहे कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो।

पूर्ण साधनावस्था में साधक किसी की बात नहीं सुनता है। बाहर के किसी कोलाहल का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आसपास का वातावरण बड़ा शान्त, स्निग्ध, स्वस्थ और गम्भीर हो जाता है। उस समय केवल पक्षियों का कलरव, बहती हुई नदियों का कल-कल शब्द, भ्रमर-गुंजन, वीणा की सुरीली तान, मनोरम सगीत की स्वर लहरियाँ और अनहद शब्द की संगीत ध्वनियें ही ध्वनित होती हैं जो उसके ध्यान को गंभीर बनाती हैं। वहाँ धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब, पत्नी, परिवार, वैभव का सम्पूर्ण ध्यान छूट जाता है।

ध्यानावस्था में अनिष्ट विचार, अहितकारी स्मृतियें नितान्त विस्मरण करनी पड़ती हैं। उस अवस्था में अगर कोई स्मृति ध्यान भंग करने के लिए मानस-पटल पर बार-बार आती है तो साधक को पद-पद पर सचेष्ट होना पड़ता है क्योंकि ध्यानावस्था में की जाने वाली स्मृति से बार-बार राग पैदा होता है, ममत्व जागृत होता है, मोह बढ़ता है, लालसायें वृद्धि पाती हैं, और चित्त अनुशासनहीन होकर एकाग्रता में भीषण व्यवधान उपस्थित करता है। इसलिए ध्यान में मन पर अनुशासन की विशेष आवश्यकता होती है।

ध्यान का सीधा सम्बन्ध मन से है, मन का सीधा लगाव जीवन से है। जीवन को सार्थक, मंगलमय, उपादेय और उत्कृष्ट बनाने के लिये

मन की विचित्र दशाओं, हलचलों, तरंगों और गति पर प्रभावशाली कदम उठाने की आवश्यकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा मन बड़ा चंचल है, स्वच्छन्द है, कोई भी नियन्त्रण ध्यान, एकाग्रता और लगन इसे पसन्द नहीं है। साधारण सी आहट पाते ही हमारा मन यत्र-तत्र झाँकने लगता है। भीमकाय गजराज वश में किया जा सकता है, खूँखार शेर को बन्दी बनाया जा सकता है। परन्तु मन को वश में करना कठिन है। अगर मन स्थिर नहीं रह सकता है तो ध्यान हो ही नहीं सकता। एकाग्र ध्यान से उत्तम विचार और उत्तम विचारों से पवित्रता की वृद्धि होती है। ध्यान में पूर्णता लाने के लिये जीवन को अखंडित रूप से एकाग्र बनाने की आवश्यकता है। हमारे जीवन के क्रिया-कलापों, व्यवहारों और मनोदशाओं में हम सामान्यतः उतने उत्तम नहीं है क्योंकि हमारे पुण्य के साथ पाप, गुण के साथ दुर्गुण, धर्म के साथ अधर्म, प्रगति के साथ पतन और अहिंसा के साथ हिंसा लगी है।

ध्यान से हमारा मन बढ़ता है, चित्त मे उत्साह की वृद्धि होती है, उत्साह से सोचा कार्य पूर्ण होता है। जीवन की सभी साधनाओं का केन्द्र बिन्दु ध्यान ही है। चाहे किसी भी प्रणाली का साधक क्यों न हो, उसे ध्यान तो करना ही पड़ता है।

ध्यान साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है। ज्यों-ज्यों साधक साधना की मनोभूमि में अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका मनोबल बढ़ता जाता है। काम-क्रोध, मद-लोभ हटते जाते हैं, अनुराग मिटता जाता है। यह मेरा है ? यह तेरा है ? पारिवारिक जीवन के करीब-करीब पूरे रागात्मक सम्बन्ध छूटते जाते है, मोहात्मक बन्धन टूटते जाते हैं। ध्यानबल की विशिष्ट उपलब्धि में साधक निस्पृह और निस्वार्थी बन जाता है। उसकी रागात्मक, मोहात्मक, लोभात्मक और आसक्तिजनक लालसायें हवा हो जाती हैं। वह ध्यानावस्था में अन्तर के आत्म-प्रदेश में बड़ी तीव्र गति से गमन करने लगता है। वहाँ उसे आत्मा की आवाज पुकार-पुकार कर कहती है "दृढ़ बनो" "विकल्पों की वृद्धि न करो"। इस ध्वनि से उसे आनन्दानुभूति होती है, यही आनन्द उसे सुख पहुँचाता है फिर उसके अन्तर में एक आलोक का उद्भव होता है। उसकी कल्मषात्मक अनिष्ट प्रवृत्तियाँ सदा के लिए हट जाती हैं। इसी अवस्था में साधक का जीवन अहंकार और उन्माद से शून्य हो जाता है। ज्यों-ज्यों हमारे मानस की अहंवृत्ति

छूटती जाती हे, त्यों-त्यों हमारा ध्यान दृढ़ होता जाता है। ध्यान में साधक इतना एकाग्र हो जाता है कि उसे तन का कोई ख्याल नहीं होता है, शारीरिक पीड़ाओं का भी उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। भूख-प्यास कोई बाधा नही पहुँचाती है। न उसे रात का भय, न उसे दिन का डर रहता है। वह तो जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए ध्यान के अवलम्बन से साधना को उत्तमोत्तम बनाकर उस विराट सत्ता में लवलीन हो जाना चाहता हे।

ध्यान का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ध्यान से मन निर्मल बनता है, मन की निर्मलता से पवित्रता आती है। पवित्रता से ऊँचे विचार आते है, ऊँचे विचारों से संकीर्णताएँ टूटती है, फिर उदारता, उदारता से नम्रता, नम्रता से विवेक, विवेक से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से मङ्गलमय जीवन बनता है। फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति सहज हो जाती है।

साधक बाह्य आडम्बरों, प्रदर्शनों, प्रपंचों और पाखण्डों से घिरा रहता है। पद-पद पर उसे भयानक आशङ्काओ का भय रहता है फिर भी वह अपने अदम्य उत्साह और आन्तरिक प्रेरणाओं से दृढ़ होकर आगे बढ़ता है। यह सच है कि उपलब्ध सामग्रियों से साधक की कोई दिलचस्पी नही होती है किन्तु साधनों के अधिकाधिक उपयोग से एक दिन उसे घृणा हो जाती है। यही घृणा उसके जीवन को बदल देती है।

अगर जीवन को सफल बनाना है तो आशा और विश्वास पैदा करना चाहिए। साधना करने वाला साधक होता है उसी प्रकार मौन धारण करने वाला मुनि होता है। बुद्धि के अवलम्बन से हृदय की मनोभूमि पर बढ़ने वाला मुनि कहलाता है। मुनि ज्ञानी होता है, ज्ञानी, ध्यानी भी होते हैं, ध्यानी, कुछ न कुछ चिन्तन अवश्य ही करते है। चिन्तन पूर्ण ध्यान से न किसी से राग होता है न किसी से द्वेष। जब साधक सम्पूर्ण पदार्थों से मुक्ति ले लेता है तो साधना उसके जीवन का दृष्टिकोण बन जाती है। यही दृष्टि धार्मिक क्षेत्र में अनेकान्त है, चिन्तन के क्षेत्र में दर्शन है, व्यवहार के क्षेत्र में धर्म है, कर्म क्षेत्र में कुशलता है।

साधना के अतिरिक्त जीवन-व्यवहार में भी ध्यान का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति में पूर्ण ध्यान का विशिष्ट गुण नही होता है। मगर वह धीरे-धीरे इस दिशा में प्रगति की ओर अग्रसर हो जाता है।

आप ध्यान से देखेंगे तो सर्वप्रथम आपको ही दूज का चाँद दीखेगा, ध्यान रक्खा तो सब कुछ ठीक, जरा ध्यान चूके कि गुड़-गोबर । सभी ओर हो हल्ला मचाया जा रहा है कि ध्यान से चलो, ध्यान से देखो, ध्यान से पढ़ो । इस संसार में जितना ध्यान दिया जाय उतना ही श्रेष्ठ है । हमारा तो यह पक्का इरादा है कि हमारा ध्यान रूढ़ियों को खत्म करने, पाखण्ड का भण्डा फोड़ करने, अन्याय और अनर्थ के प्रति बगावत करने और जीवन को उत्कृष्ट बनाने का है ।

बहुत से व्यक्ति कम बोलते है, यह उनका उत्तम स्वभाव है । किन्तु कम बोलने का अभिप्राय यह नही है कि आवश्यकता के समय, अत्याचार और अन्याय के समय भी मौन ही बैठे रहें । कभी-कभी हम अनावश्यक बोलकर अपनी शक्ति क्षीण करते हैं । इससे तो कम बोलने वाले उत्तम स्वभाव के गम्भीर व्यक्ति ही माने जाने चाहिए । ऐसे व्यक्ति ध्यान का अभ्यास शीघ्र बढ़ा सकते हैं, ये आत्मीय गुणों से युक्त साधु स्वभाव के होते है । उनका विश्वास और निश्चय भी दृढ होता है । ये ध्यान द्वारा सद्गुणों की अवस्थाओं में रमते हैं, रमकर बढते हैं, बढ़कर जमते हैं, जमकर वृद्धि पाते है, वृद्धि पाकर विस्तार लेते हैं । यही विस्तार आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य हैं ।

ध्यान से शान्ति स्थापित होती है । ज्ञान के साथ जब नम्रता का मिश्रण हो जाता है तो ज्ञानी व्यक्ति-ध्यानी बन जाता है । अरविन्द घोष ने इस दिशा में आशातीत विकास किया था । उनके ध्यान का बड़ा विस्मयकारी प्रभाव पड़ा था । उनके ध्यान की विचार तरंगें आस पास के क्षेत्र को इतना आन्दोलित कर देती थी कि सर्वत्र वायुमंडल तरंगित हो जाता था । ध्यान का जीवन के साथ यही सामञ्जस्य है और यही जीवन दृष्टि है ।

विवेचन :

समाधि : एक अध्ययन

● साध्वी श्री जतनकुमारी

हमारी आँखें अतीत का इतिवृत्त पढते-पढते पथरा गई है; वर्तमान का प्रतिविम्ब निहारते-निहारते ऊव गई हैं और भविष्य के गर्भ में छिपी हुई गहराइयों की थाह लेते-लेते थक गई हैं। प्रकृति के कण-कण में जागरण का सङ्गीत सुनते-सुनते ये श्रवण बहरे हो गये हैं और मंजिल के नाम पर भटकाने वाले इन चौराहों मे चलते-चलते ये चरण भी पथ का अथ और अन्त न पाकर लड़खड़ा रहे है। धरती के वीभत्स, रौद्र एवं भीतिजनक वातावरण से संत्रस्त व ग्रस्त मस्तिष्क के डैने झुक रहे हैं। अब उसे निवृत्ति की पौष्टिक खुराक चाहिए। निवृत्ति के अभाव में शान्ति फलित नहीं होती। निवृत्ति ही शान्ति का उत्स है। निवृत्ति का तात्पर्य केवल रुकावट ही नहीं; वल्कि वह रिक्तता की ओर भी झुकता है। संकल्पों की वहुतायत से मन विक्षुव्ध वन जाता है और रिक्तता से हलकान का अनुभव होता हे। संकल्पों पर विजय पाये विना स्वस्थता नही होती और स्वस्थता के विना शान्ति नहीं मिलती। आरम-ग्रस्तता मिटाने के लिए अतएव एक विशिष्ट साधन है, जिसे समाधि, ध्यान आदि शव्दो मे अभिहित किया जाता है।

अन्तर्मुख साधक साधना में लीन होकर जव अपने समस्त प्रश्नों को समाहित कर लेता है या उस मार्ग को ओर अग्रसर हो जाता है; समाधि की सम्पूर्ण या आंशिक स्थिति स्वत. वन जाती है। प्रत्येक साधक इस ओर यत्न करता है और सम्प्राप्त अनुभवों को शव्दों का परिधान देकर आने वाली सन्तति के लिए आकर्षण का केन्द्र वना देता है। समाधि और ध्यान शव्द का जितना व्यवहार है, वही उसकी विविधता और गहनता का सूचक है। नाना आचार्यों, मनीषियों व साधकों ने एतद् विषयक अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए शव्द-जगत् का अतिशय आलोड़न किया है।

परिभाषा :

स्थानाङ्ग में समाधि शब्द का व्यवहार श्रुत, चारित्र[१], समाधान, समता रागादि के अभाव[२] अर्थ में हुआ है। सूत्रकृताङ्ग में समाधि को आध्यात्म रमण, सन्मार्ग का सम्यक् समाचरण[३], रत्नत्रयी की समुपासना, श्रद्धा का स्थिरीकरण, आर्जव धर्म की अर्चना, वाणी का संवरण, असत् की निवृत्ति, संवर धर्म में अनाकुलत्व[४], धर्म ध्यान में अभिरमण और व्यवस्था; आदि विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनका प्रयोज्य आत्मा की चरम स्थिति तक पहुँचने का है।

उत्तराध्ययन में स्वस्थता को तथा साधक की चर्या में आने वाले उपसर्गों की विभीषिका में अनाकुल रहने को समाधि कहा है। समवायांग में दुर्मनस्कता व विमनस्कता के अभाव को समाधि कहा है तो ज्ञातृधर्म-कथा में विशिष्ट कार्यों के सम्पादन से आचार्य के चित्त को सुप्रसन्न करना भी समाधि कहा है। आचारांग में बाह्य जगत् से अन्तर्जगत की ओर प्रवेश करना तथा चित्त-स्वस्थता व अनशन[५] अर्थ में समाधि शब्द व्यवहृत हुआ है। जिनदास-चूर्णि में प्रसन्नात्मा को समाहित कहा गया है। व्यवहार में नीरोगता[६] को तथा स्थानांग में प्रशम-प्रवाह में प्रवाहित होना और विशिष्ट श्रुतादि साधना में लीन रहना[७] समाधि का अर्थ किया गया है।

सूत्रकृताङ्ग में चित्त की एकाग्रता-रूप ध्यानावस्था को समाधि कहा है। दशवैकालिक-टीका में हरिभद्र ने आत्मा के हित, सुख और स्वास्थ्य[८] को समाधि कहा है तो अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणों के समाधान, स्थिरीकरण या स्थापना को समाधि की संज्ञा दी है। निरुद्ध

---

१. समाधिः श्रुतं चारित्रं च—४।१। वृत्ति पत्र १९५।

२. समाधानं समाधिः समता सामान्यतो रागाद्यभाव इत्यर्थः—१०।३। पत्र ४७४।

३. सन्मार्गं सम्यग् ज्ञानादिकमोक्षमार्गं समाधिं सम्यग्दर्शनादिकमोक्षपद्धति—

४. समाधिः अनाकुलत्व। १।१२।२।

५. गुर्वाहिनां कार्यकरण द्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने—श्रु० १—८।

६. नीरोगतायां—व्यवहार उ० १।

७. प्रशम नाहिताया ज्ञानादौ च—४।१।

८. समाधानं समाधिः परमार्थतः आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यं।
—हारिभद्रीय टीका—पत्र २५५।

चित्त तथा समाधान को भी समाधि[9] कहा गया है। आवश्यक[10] निर्युक्ति में चल अध्यवसाय को चित्त और स्थिर को ध्यान कहा गया है। ध्यान का पहला रूप चित्त निरोध और दूसरा रूप वाणी, शरीर और मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध है।

भाव प्राभृत में उत्तम ध्यान को समाधि कहा है। आचार्य समन्तभद्र ने समाधि, सातिशय, ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान[11] को एकार्थ माना है। वाग्भटालंकार में वाक्य में व्यवहृत होने वाले दश गुणों के वर्णन में 'समाधि' नामक गुण भी है, जिसका तात्पर्य अन्य गुण का अन्य में प्रवेश है। पण्डित आशाधर ने 'जिन सहस्र नाम' की स्वोपज्ञवृत्ति में ध्यान के चरम उत्कर्ष को ध्यान की अभिधा दी है। योगीन्द्र ने शुभ और शुद्ध में एकाग्र होने वाले ध्यान की ही अन्तिम परिणति को समाधि कहा है। आचार्य जिनसेन ने चित्त के स्थिर परिणाम को ध्यान और चंचल को अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना और चित्त कहा है। योग विंशिका मे इन्द्रियों के व्यापार के निरोध को ध्यान कहा है, केवल चित्त निरोध को ही नहीं। आचार्य पूज्यपाद ने निश्चल अग्निशिखावत् अवभासमान ज्ञान को ही ध्यान[12] कहा है। आचार्य रामसेन ने कहा—द्रव्य-पर्यायात्मक-वस्तु प्रमेय होती है। अनन्त धर्मात्मक-वस्तु के एक धर्म मे स्मृति का स्थिरीकरण और अन्य धर्मो में स्मृति-निरोध[13] ध्यान है। सर्वार्थ-सिद्धि मे विविध विषयों में भटकने वाले मन को एक अवलम्बन मे अवस्थित करने को ध्यान या एकाग्रता[14] कहा गया है।

कुछ काव्यो में भी समाधि का विवेचन किया गया है। वहाँ कहा गया है—द्वन्द्व का विलयीकरण और संकल्पों की शून्यावस्था समाधि है।

---

९. एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधि.—द्वा० द्वा० ११।

१०. गाढालंबणलग्गं चित्तं वुत्तं-निरेयणं। सेस न होइ झाणं, मउय मव्वत्त भमन्त वा। निरेजणं चित्तं झाणं, सएजणं चित्तं चित्तं॥ जं थिरमज्झवसाणं।

११. समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते।

१२. ज्ञानमेवाऽपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमान ध्यानमिति।—सर्वार्थ ९, २७।

१३. द्रव्यपर्याययोर्मध्ये, प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता निरोधो यस्तद् ध्यानं बभणुर्जिना—तत्त्वानु० ५८

१४. नानार्थावलम्बेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या अन्याशेष मुखेभ्यो व्यावर्त्य……(९, २७)

पानी और नमक की भाँति मन और आत्मा के समन्वयीकरण तथा समरसता[१५] को भी समाधि कहा गया है।

तत्वानुशासन में एक अवलम्बन में चित्त को स्थिर करना[१६] ध्यान कहा गया है। ज्ञान और ध्यान में विभेद बतलाते हुए वहाँ ज्ञान को व्यग्र और ध्यान को एकाग्र[१७] की संज्ञा दी गई है। ध्यान का विशेष विश्लेषण करते हुए वहाँ कहा गया है—*श्रुतज्ञान-राग-द्वेष रहित उपेक्षामय-यथार्थ, अत्यन्त स्थिर और निश्चय तप से षट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान*[१८] है। स्वरूपमात्र को अवभासित करने वाली समाधि[१९] भी ध्यान ही है। उदाहरणार्थ—जो ध्याता है, वह आत्मा—कर्त्ता है। जिसको ध्याता है, वह शुद्ध-स्वरूप आत्मा—कर्म है। जिसके द्वारा ध्याता है, वह ध्यान परिणति-रूप आत्मा—करण है। जिसके लिए ध्याता है, वह शुद्ध स्वरूप के विकास-प्रयोजन-रूप आत्मा—सम्प्रदान है। जिस हेतु से ध्याता है, वह सम्यग्-दर्शनादि-हेतु भूत आत्मा—अपादान और जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्ध-स्वरूप को ध्याता है, वह आधारभूत अन्तरात्मा—अधिकरण है। ध्यान को योग, समाधि तथा प्रसंख्यान भी कहा गया है।[२०] 'ख्या' धातु गणना, तत्वज्ञान, और ध्यान में प्रयुक्त होती है। कुछ टीका-

---

१५. यत् सर्वद्वन्द्वयोरैक्यं, जीवात्मापरमात्मनोः।
समस्त-नष्ट-संकल्पः, समाधिः सोऽभिधीयते॥
अम्बुसिन्धवयोरैक्यं, यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं, समाधिः सोऽभिधीयते॥
यदा संक्षीयते प्राणी, मानसं च प्रलीयते।
यदा समरसत्वं च, समाधिः सोऽभिधीयते॥

१६. एकाग्र-चिन्तारोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः तद्ध्यानम्।

१७. *एकाग्र ग्रहणं चाऽत्र वैयग्र्यविनिवृत्तये।*
व्यग्रं हि ज्ञानमेवं स्याद्, ध्यानमेकाग्रमुच्यते—तत्त्वा० ५९।

१८. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयी तस्माद्, ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥७४॥

१९. स्वरूपमात्रनिर्भासं, समाधिर्ध्यानमेवहि·······।

२०. युजेः समाधि-वचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यर्थान्तरम्॥
—तत्त्वा० वा० (६।१।१२)

कारों ने इसे 'विवेक-साक्षात्कार' 'सत्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहा है। यहाँ ध्यान का ही अर्थ अभीष्ट है। कुमारसम्भव के—"हर: प्रसंख्यानपरो बभूव" पद्य भी ध्यान एवं समाधि का ही द्योतक है।

श्री जिनसेनाचार्य ने महापुराण में धीरोध, स्वान्त निग्रह, अन्तः संलीनता को भी ध्यान का पर्यायवाची कहा है। आर्ष में भी इन शब्दों को ध्यान का पर्यायवाची माना[२१] है।

निरुक्तकार ने 'ध्यान' शब्द को करण, कर्त्ता, अधिकरण और भाव साधन-रूप में स्वीकार किया है। जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, वह ध्यान है अथवा जो ध्यान करता है, वह ध्यान है। जिसमें ध्यान किया जाता है अथवा ध्येय में परम स्थिर-बुद्धि का नाम ध्यान[२२] है। स्थिर मन भी ध्यान[२३] कहलाता है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से ध्येय वस्तु के अवलम्बन रूप जो ध्यान है, वह ध्याता से भिन्न नहीं होता[२४]।

ध्येय को ध्याता में ध्याया जाता है; अतः अधिकरण को ध्यान[२५] कहा गया है।

कोषकारों में हेमचन्द्राचार्य ने अर्थ अवभापरण मात्र को समाधि[२६] कहा है। जैनों की धनञ्जय नाममाला, सभाष्य, अनेकार्थ निघण्टु तथा एकाक्षरीय कोष में चैतसिक समाधान को समाधि[२७] कहा गया है।

---

२१. योगो ध्यानं समाधिश्च, धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तः संलीनता चेति, तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥

२२. ध्यायेत् येन तद् ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते॥ —तत्त्वा० ६७।

२३. श्रुतज्ञानेन मनसा, यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्विकम्॥ —तत्त्वा० ६८।

२४. ध्येयार्थलम्बनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिक-नयस्तस्माद् ध्यातैव ध्यानमुच्यते॥ —तत्त्वा० ७०।

२५. ध्यायति ध्यायते ध्येयं, यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यानं, कर्माधिकरणद्वयम्॥ —तत्त्वा० ७१।

२६. समाधिस्तु अर्थमात्रभापरण रूपकम्। —अभिधान चिन्तामणि, काण्ड १

२७. चेतश्च समाधानं, समाधिरिति गद्यते।१२।

सांख्य प्रवचन सूत्र में राग के उपहनन को ध्यान[२८] माना है। विशुद्धिमग्ग में कुशल चित्त की एकाग्रता[२९], समाधान और विक्षेपों के विलयीकरण[३०] को समाधि की अभिधा दी गई है। वहाँ समाधान को समाधि कहा है। समाधान का अर्थ किया गया है—एक आवलम्बन में चित्त—चैतसिक धर्मों का प्रतिष्ठित होना।[३१] बौद्ध साधना पद्धति मे समाधि ध्यान का केन्द्रीय स्थान है। भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि-लाभ करते समय चार ध्यानों की प्राप्ति की थी। मज्झिम निकाय मे इनको समाधि संज्ञा से अभिहित किया है। अंगुत्तर निकायट्ठ कथा में विघ्नों के विनाश से होने वाली चित्त की एकाग्रता को समाधि कहा है—समथो हि चित्तेकग्गता।

पातञ्जल योगदर्शन में ध्येयाकार विभास ध्यान ही जब ध्येय-स्वभावावेश से अपने ज्ञानात्मक-स्वभाव शून्य के समान होता है, तब उसे समाधि[३२] कहा है। टीकाकार ने कहा है—ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है। समाधि चित्त-स्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। उससे बढ़कर और चित्त-स्थैर्य नही हो सकता। आत्म-विस्मृति के समान ध्यान ही समाधि है।

कठोपनिषद् में कहा है—समाधि के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार होता है और उसके बिना वह नही होता है।[३३]

योग-दर्शन में ध्येय विषयक प्रत्यय की जो एकतानता अर्थात् अन्य-प्रत्यय के द्वारा अपरामृष्ट एक प्रवाह है, वही ध्यान है।[३४]

२८—रागोपहतिर्ध्यानम्—तृतीय परिच्छेद, पृ० २६।

२९—कुसलचित्तेकग्गता समाधि — तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७।

३०—अविक्खेपलक्खणो समाधि, विक्खेपविद्धंसनरसो, पृ० ५७।

३१—एकारम्मणे चित्तचेतसिकसमं च आधानम् (आचार्य बुद्धघोष-विशुद्धि मग्ग, कोसम्बीजी दीपिका के साथ तृतीय परिच्छेद)।

३२—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः—तृतीय पाद २।

३३—नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञाने-नैवमाप्नुयात् ॥

३४—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—तृतीय पाद—२।

निष्कर्ष

समाधि की विभिन्न परिभाषाओं व विश्लेषण से मुझे उसका हार्द समाधान ही अधिक उचित लगा। चूँकि मानस-सागर मे विभिन्न विचारों की वीचियाँ उछलती रहती है। उसका कभी प्रकर्ष और कभी अपकर्ष होता रहता है। तरङ्गों की वहुलता से संकीर्ण, संकुल एवं विक्षुब्ध सागर, सीमा से बाहर भी वह जाता है। यदि तत्काल उसे समाहित होने का अवसर उपलब्ध हो जाये तो सीमा में स्थिरीकरण हो सकता है। मानसिक भूमि में समुद्रभूत विचारो का समुचित समाधान के अभाव मे सन्तुलन बिगड़ जाता है। सन्तुलन के बिना समता नही सधती। समता के बिना प्रशम पल्लवित नही होता और प्रशम के बिना अनाबाध क्षेम—शिव नही फलता। अतः साध्य-सिद्धि में समाधान की अपेक्षा रहती है। समाधान से चित्त-स्वास्थ्य, चित्त-स्वास्थ्य से आध्यात्म के प्रति अभिरुचि, अभिरुचि से श्रद्धा का स्थिरीकरण, स्थिरीकरण से एकाग्रता, एकाग्रता से श्रुत परि-शीलन, श्रुत परिशीलन से आत्म-बोध, आत्म-बोध से निस्पृहता, निस्पृहता से अनुत्तर लाभ होता है।[३५]

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा, समाधि योग के अष्टांगों का अन्तिम निष्कर्ष नवनीत समाधि में मिलता है।

मनोविज्ञान और समाधि :

मनोविज्ञानिकों ने मानवीय क्रियाएँ दो प्रकार की मानी हैं : १—दृश्य और अदृश्य। दृश्य क्रियाओं का प्रतिबिम्ब चेतन मन मे पड़ता है और अदृश्य का अवचेतन मन में। इन्ही को मनोवृत्ति की अभिधा दी है। मनोवृत्ति के तीन पहलू है—१—ज्ञानात्मक, २—वेदनात्मक और ३—क्रियात्मक।

ज्ञानात्मक के पाँच प्रकार हैं : १—संवेदन, २—प्रत्यक्षीकरण, ३—स्मरण, ४—कल्पना और ५—विचार।

संवेदनात्मक के चार प्रकार हैं : १—सन्देश, २—उमग, ३—स्थायी भाव और ४—भावना-ग्रन्थी।

३५—निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाण विउलुत्तम ध्रुव।

क्रियात्मक मनोवृत्ति के पाँच प्रकार हैं : १—सहज क्रिया, २—मूल-वृत्ति, ३—आदत, ४—इच्छित क्रिया और ५—चरित्र।

समाधि से संवेदना शक्ति प्रबल होती है और सुपुप्त ज्ञान-ग्रन्थियों की अगाधता का प्रत्यक्षीकरण होता है; जिससे स्थायी भाव को उत्तेजना मिलती है तथा सहज क्रिया नामक अन्तर्मुख वृत्ति में रमण करने का परम पुनीत अवसर मिलता है।

मानव मस्तिष्क मे दो प्रकार की नाड़ियां है : १—ज्ञानवाही और २—क्रियावाही। दोनों परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी अस्तित्व की अपेक्षा भिन्नत्व रखती है तथा उनके केन्द्र-विन्दु पृथक् है। समाधि की समाराधना से ज्ञान केन्द्र में नया निखार आता है और क्रियाकेन्द्र में स्थायित्व। दोनों के समन्वयीकरण से बोधि-लाभ होता है।

समाधि से स्थायी रूप से स्थित वैषयिक संस्कारों में परिवर्तन किया जा सकता है। बहिरात्म भाव के शोधन से परमात्मा भाव का साक्षात्कार होता है। इसलिए ही मनोविज्ञान कहता है—वासनात्मक भावों के बहिष्कार के लिए समाधि एक अमोघ उपाय है।

मनुष्य में १४ प्रकार की मूल प्रवृत्तियां मानी गई है : १—खाद्य की खोज, २—भागना, ३—लड़ना, ४—उत्सुकता, ५—रचना, ६—सग्रह, ७—विकर्षण, ८—शरणागत होना, ९—कामेच्छा, १०—शिशु-रक्षा, ११—दूसरों की चाह, १२—आत्म-प्रकाशन, १३—विनीतता और १४—हंसना।

मानव की ये चिरन्तन प्रवृत्तियाँ है। केवल इनके माध्यम से संचालित जीवन असभ्य एवं पशुता का पूरक होता है। अतः इन प्रवृत्तियों में प्रत्यावर्तन करने के लिए मानव के सामने चार प्रकार की दिशाएँ निश्चित की गई हैं : १—दमन, २—विलयन, ३—मार्गान्तरीकरण और ४—शोधन।

मूल प्रवृत्तियो का अवरोधीकरण विचार या विवेक के द्वारा होता है। किसी बाह्य सत्ता द्वारा किया गया दमन जीवन के लिए अहितकर होता है। समाधि से प्रवृत्तियों का दमन स्वाभाविक होता है। अनुभवी आचार्यो का अभिमत है कि समाधि में विश्रुत शक्ति कार्य करती है,

वह आत्मा मे इस प्रकार का झटका देती है, जिससे आहार, भय, मैथुन और परिग्रहजन्य सज्ञाओ का सहज मे परिष्कार हो जाता है।

परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। उसके दो प्रकार है: १—निरोध, २—विरोध। निरोध का तात्पर्य है, बुरी प्रवृत्तियो को उत्तेजित होने का अवकाश न मिले।

विलियम जेम्स का कथन है कि यदि किसी भी वृत्ति को लम्बी अवधि तक प्रकाशित होने का समय न मिले तो वह वृत्ति स्वय विलीन हो जायगी।

विरोध—वर्तमान मे जो प्रवृत्ति चल रही है, उसके विपरीत वृत्ति का प्रवर्तन करना। ऐसा करने से दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियो के एक साथ उमडने से दोनो का बल घट जाता है। इस प्रकार दोनो के प्रकाशन की रीति मे अन्तर आता है, अथवा दोनो शान्त हो जाती हैं।

तीसरा मार्गान्तीकरण है असद् प्रवृति का सत्प्रवृत्ति मे परिवर्तन करना।

परिवर्तन का चौथा उपाय है शोध। जो प्रवृत्ति अपने अपरिवर्तनीय रूप मे निन्दनीय कृत्यो से व्यक्त होती है, वह शोधित रूप मे होने पर प्रशसनीय हो जाती है। वस्तुवृत्या मूल प्रवृत्ति के शोध का एक प्रकार मार्गान्तीकरण है।

समाधि से वहिरात्म भाव का विलय और आत्म भाव-लयानुभूति होती है।

तन्मे मन शिवसकल्प मस्तु —

मेरे मन के सकल्प शुभ एव कल्याणकारी हो।

—यजुर्वेद

सभी कामनाओ का मूल सकल्प ही होता है। सभी शुभ कार्य संकल्प से ही सिद्ध होते हैं तथा सभी व्यवहार सकल्प से ही उत्पन्न और सिद्ध होते हैं।

—मनुस्मृति

निरूपण :

जैन परम्परा में योग

● मुनि श्री नथमल

सत्य क्या है ? यह प्रश्न जितना छोटा है, उतना ही गूढ़ है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा सत्य-दर्शन के अनवरत प्रयत्न हुए हैं। पर उसकी अनुपलब्धि आज भी उपलब्धि से अधिक है। सत्य का अनुद्घाटित अंश जो दृश्य बनता है, वह अनेक अदृश्य सत्यों की संभावना उत्पन्न कर देता है। इसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। आत्मा है या नहीं ? पूर्वजन्म और पुनर्जन्म हैं या नहीं ? बन्धन और मुक्ति हैं या नहीं ? ये प्रश्न हजारों वर्षों पूर्व[1] जैसे थे वैसे ही आज हैं। यह अदृश्य की चर्चा है। दृश्य जो है, पौद्गलिक जगत् जो है, वह भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। एक परमाणु के अनन्त स्कन्ध हैं। संघात और भेद के द्वारा उनके अनन्त पर्याय होते हैं। संयोग-वियोग के द्वारा उनमें अनन्त शक्तियां उत्पन्न होती हैं। मनुष्य उनकी कुछेक पर्यायों व शक्तियों को जान पाता है। देश-काल की दूरी में ज्ञात शक्तियां विस्मृति के गहरे गर्त में चली जाती हैं और अज्ञात शक्तियाँ ज्ञात बन जाती हैं। सत्य शोध का उपक्रम सतत गतिशील रहता है। नहीं कहा जा सकता—सत्य की शोध नहीं हुई और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य की शोध पूर्ण हो गई। भगवान् महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। जो सबको जानता है वही एक को जानता है।[2] उपनिषद् की भाषा में जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सर्वज्ञात हो जाता है।[3]

ध्रुव समस्या यह है कि जो आत्मा अदृश्य है, अमूर्त है, वह कैसे

---

१. को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो—उत्तराध्ययन ५।६।
ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके, नायमस्तीति चैके एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वर्णामेष वरस्तृतीयः। (कठोपनिषद्)

२. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

३. आत्मनि विज्ञाते सर्वमिद विज्ञातं भवति—बृहदारण्यक २।४।६.

जाना जावे ? भगवान् महावीर की वाणी में आत्मविद् वह है जिसे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श भलीभांति ज्ञात होते हैं।[४] आत्मोपलब्धि का साधन है चित्त-स्थैर्य। महर्षि पतंजलि ने विषयवती प्रवृत्ति को चित्त-स्थैर्य का साधन कहा है।[५] इन्द्रियों के जो विषय हैं उन्हें सब लोग जानते हैं, पर साधना की भाषा में जानने का अर्थ होता है, (ज्ञेय का) ज्ञान और (हेय का) परित्याग। किसी भी वस्तु का उत्पादन या त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभाँति जान लिया जाए। चक्षु का विषय रूप है। रूप कैसे देख पाता है ? उसका क्रम क्या है ? रूप का स्थान कहाँ है ? प्रकाश कहाँ से आता है ? कैसे आता है ? आदि प्रश्नों पर विचार करते-करते चित्त स्थिर होता है, तब चित्त-वृत्ति रूप-विषय वाली कहलाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी चित्त को स्थिर किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है, दर्शन के आवरण क्षीण होते हैं—अन्धकार में देखने व दूर श्रवण आदि की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

मूल—प्रश्न है शक्तियों का स्रोत क्या है ? इसका समाधान पाने के लिये भारतीय मुनियों ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा, और बहिर दर्शन की अपेक्षा अन्तरदर्शन को अधिक महत्व दिया। तर्क और बहिर दर्शन जहाँ समाप्त होते हैं, वहाँ अन्तरदर्शन का प्रारंभ होता है। जहाँ शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, वहाँ अन्तरदर्शन प्रवृत्त होता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विरत होती हैं, वहाँ अन्तरदर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तरदर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिन्हे यह प्राप्त हुआ, उनकी भाषा में सत्य है आत्मा।

तत्ववाद की परिधि में इस विषय में जो है, वह सब सत्य है। असत्य वही है, जो नहीं है। सत् या अस्तित्व की उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। स्वत्व की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। पदार्थोपलब्धि का साधन ज्ञान और

---

४. जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं—आचारांग १।३।१.

५. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी—पातंजल योग-दर्शन १।३५.

आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आचार्य इसे मोक्ष-मार्ग, पतंजलि-योग और बौद्धाचार्य विशुद्धि मार्ग कहते हैं। शब्दार्थ में तीनों कुछ भिन्न हैं, फलितार्थ में अभिन्न। चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्ष मार्ग उपलब्ध है, न आत्मलीनता ही होती है और न विशुद्धि मार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनता है तभी ये सब बनते हैं। पतंजलि की भाषा में चित्त-वृत्तियों का जो पूर्ण निरोध होता है, वह योग है।[६] जैनों की भाषा में शरीर, वाणी, और मन की प्रवृत्तियों का जो पूर्ण निरोध है, सर्व संवर है, वह योग है।[७]

योग शास्त्र :

शास्त्र वह होता है, जो शासन करे और जिसमें त्राण-शक्ति हो।[८] योग, शरीर, वाणी और मन पर शासन करता हैं तथा वह आत्मा को विजातीय तत्व से त्राण देता है, इसलिये वह शास्त्र है। सांख्यों की परंपरा में जैसे पतंजलि ने योग-दर्शन लिखा वैसे जैन परम्परा में उमास्वाति ने मोक्षमार्ग लिखा। योग शब्द जैन आगमो में व्यवहृत है—समाधि-योग, ध्यान-योग, भावना-योग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। उत्तरवर्ती जैन आचार्यो ने समाधितंत्र, ध्यानशतक, सुधारस आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु योग शब्द को प्रधान मानकर लिखने वालों में आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र और यशोविजयजी हैं। हरिभद्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—योगविंशिका, योगविन्दु, योगदृष्टि समुच्चय और योगशतक।

हेमचन्द्र का योग-शास्त्र सुन्दर कृति है। यशोविजयजी ने पतंजलि योग-दर्शन की जैन दृष्टि से परीक्षा की है और वे योगविंशिका आदि के व्याख्याकार भी हैं। आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव योग शब्द परक नहीं है पर उसकी पद्धति योग-शास्त्र की है। नागसेन का तत्वानुशासन और पूज्यपाद का समाधितन्त्र व इष्टोपदेश इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

योग की व्याख्या—उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

---

६. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः—योगदर्शन १।२।

७. उत्तराध्ययन २६।

८. शासन सामर्थ्येन तु, संत्राण बलेन चानवद्येन; युक्तं यत्तच्छास्त्रम्—प्रशमरतिः १८८।

सम्यग्चरित्र को मोक्ष मार्ग कहा है।[९] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[१०] हरिभद्र सूरि के अभिमत में धर्म मात्र योग है। योग वह है जो मोक्ष से योग सम्बन्ध करावे। धर्म मोक्ष का साधन है, इसलिये धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है, वह सब योग है।[११] यह निश्चय दृष्टि से है। किन्तु व्यवहार दृष्टि या तांत्रिक संकेत के अनुसार योग-स्थान, आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने योग के ५ प्रकार बतलाये हैं।[१२]

१. स्थान—कायोत्सर्ग, पर्यंक, पद्मासन आदि आसन।
२. ऊर्ण-वर्ण—शब्द का उच्चारण, मंत्र, जप आदि।
३. अर्थ—नेत्र आदि का वाच्यार्थ।
४. आलम्बन—रूपी द्रव्य में मन को केन्द्रित करना।
५, रहित—निरालम्ब या निर्विकल्प-चिन्मात्र समाधि रूप।

इनमें से दो प्रकारों को कर्मयोग और शेष तीन प्रकारों को ज्ञान-योग कहा है।[१३]

पतंजलि के अनुसार योग है[१४]:—
१. यम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[१५]
२. नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।[१६]
३. आसन—सुख पूर्वक स्थिर होकर बैठना।[१७]
४. प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद।[१८]

---

९. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र १।१।१।
१०. मोक्षोपायो योगो, ज्ञान-श्रद्धान्-चरणात्मकः—अभिधान चिन्तामणि —१ ७७।
११. योग विंशिका १ व्याख्या।
१२. ट्ठाणुन्नत्थालंबण—रहिओ तं तम्मिं पंचहा एसो—योगविंशिका २।
१३. दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ— योगविंशिका २।
१४. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहरधारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानि—योगदर्शन २।२९
१५. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः— योगदर्शन २।३०।
१६. शौचसंतोषतप.स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि—योगदर्शन २।३२.
१७. स्थिरसुखमासनम्—योगदर्शन २।४६।
१८. तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वायोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः—योगदर्शन २।४।

५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाना अन्तर्मुखी करना।[१९]

६. धारणा—चित्त को किसी ध्येय में बांधना-स्थिर करना।[२०]

७. ध्यान—चित्त का एक विषय में स्थिर होना।[२१]

८. समाधि—वही ध्यान जब अर्थमात्र का प्रतिभास हो जाए, स्वरूप शून्य हो जाए।[२२]

जैन परम्परा में योग की अष्टांग व्यवस्था नहीं है। हरिभद्र सूरि ने जो पंचांग व्यवस्था की है, वह नवीन है। प्राचीन व्यवस्था द्वादशांग है। उसे तप कहा गया है। उसके बारह अंग हैं।

१. अनशन—उपवास आदि तप।
२. ऊनोदरी—कम खाना, मिताहार।
३. भिक्षाचरिका—जीवन-निर्वाह के साधनों का संयम।
४. रस-परित्याग—सरस आहार का परित्याग, अस्वाद।
५. कायक्लेश—आसन।
६. संलीनता—इन्द्रियों को अपने विषयों से हटा अन्तर्मुखी करना।
७. प्रायश्चित—पूर्व कृत दोष विशुद्धि करना।
८. विनय—नम्रता।
९. वैयावृत्य—दूसरों के लिए कुछ करना।
१०. स्वाध्याय—पठन।
११. ध्यान—चित्त वृत्तियों को स्थिर करना।
१२. व्युत्सर्ग—शरीर की प्रवृत्ति को रोकना।

इनमें प्रथम छः को बाह्य और शेष छः को आभ्यन्तर तप कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने पूर्ववर्ती पांच योगांगों को बहिरंग साधन कहा है।[२४]

---

१९. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः—योगदर्शन २।५४।

२०. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा—योगदर्शन ३।१।

२१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—योगदर्शन ३।२।

२२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः— योगदर्शन ३।३।

२३. अणसण ८० पायच्छित्त—३० उ०, ३०।

२४. उक्तानि पंच बहिरंगाणि साधनानि—व्यासभाष्य ३।१।

धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं।[२५] निर्बीज समाधि के लिये इन्हें भी वहिरंग माना है।[२६] अनशन, ऊनोदरी भिक्षाचरिया और रस-परित्याग। इनका सम्बन्ध भोजन से है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन का विवेक प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। योगी के लिये उसकी और अधिक अपेक्षा है। जो व्यक्ति काल-क्षेत्र, मात्रा, स्वात्म्य-हित या पथ्य, गरिष्ठ, लघु और अपने पाचन बल को देखकर भोजन करता है, उसे औषधि से क्या ?[२७] औषध उसे लेनी होती है जो अमित और अहित खावे। यह स्वास्थ्य दृष्टि है। योगसाधना में शरीर की अपेक्षा मन को प्रधानता दी गई है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये भोजन पर जितना विचार किया गया है, उतना ही भोजन न करने पर किया है। जैनेतर योगशास्त्री इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। घेरण्ड ने योगी के लिये उपवास का निषेध किया है।[२८]

उन्होंने लिखा है कि योगी कठिन और वासी भोजन न करे जैनाचार्यों[२९] ने साधन के लिये दीर्घ तप का विधान किया है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी थे। उन्होंने दीर्घ तप किया, दो उपवास से लेकर छः मास तक के उपवास किये।[३०] दीर्घकालीन उपवास से रासायनिक परिवर्तन होता है, संकल्प-सिद्धि सहज सुलभ होती है, यह तत्व उन्हें ज्ञात था। उपवास का अर्थ आहार त्याग ही नहीं है। उसका अर्थ है विषय और विकार के त्याग की संयुक्त आराधना। गीता के अनुसार—"निराहार व्यक्ति विषयों से निवृत्ति पा लेता है। उससे रस नहीं छूटता, किन्तु रस-रहित परमतत्व का साक्षात् पा वह रस से भी मुक्त हो जाता है।"[३१] उप-

---

२५. त्रयमंतरंग पूर्वेभ्यः — योगदर्शन ३।७।

२६. तदपिवहिरंगनिर्वीजस्य—योगदर्शन ३।८।

२७ कालं क्षेत्रं, मात्रा, स्वात्म्यं द्रव्य गुरु लाघवं स्वबलम् ज्ञात्वा यो भ्यवहार्यं भुङ्क्ते कि भेषजैस्तस्य—प्रशमरतिः १३७

२८. प्रातःस्नानोपवासादि, कायक्लेश विधि विना। एकाहारं निराहारं, यामन्ति च न कारयेत्—घेरण्ड संहिता ५।३०।

२९. कठिनं दुरितं पूति उष्णं पर्युषितं तथा अतिशीतं चाति चोग्रं, भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्—घेरण्ड संहिता ५।२९।

३०. आवश्यक निर्युक्ति पत्र २९९–३००।

३१. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते—गीता २,५९।

वास का प्रयोजन शरीर-शोषण नहीं, किन्तु लक्ष्यपूर्ति है। शरीर का शोषण होना उसका प्रासंगिक परिणाम है। महात्मा बुद्ध ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये संकल्प किया—"इस आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले सूख जाये, चमड़ी, हड्डि और मांस भले विनष्ट हो जाए", किन्तु सुदुर्लभ बोधि को प्राप्त किये बिना यह शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा।[३२] भगवान् महावीर ने संकल्प किया कि मैं सब प्रकार के कष्टों को तब तक सहन करूँगा, जब तक केवल ज्ञान की उपलब्धि न हो जाये। संकल्प की पूर्ति के लिये उपवास, शरीर-शोषण या विषय-वर्जन आवश्यक है। प्राणायाम के साथ उपवास का सम्बन्ध कम है। उपवास का निषेध भी प्राणायाम के प्रकरण में किया गया है और इसके आरम्भ में दूध-घी तथा दो बार भोजन करने का विधान किया गया है।[३३]

जैन आचार्य प्राणायाम को महत्व नहीं देते। उनके अभिमत में वह चित्त-निरोध और इन्द्रिय-विजय का निश्चित उपाय नहीं है।[३४] जैन प्रक्रिया के अनुसार विजातीय द्रव्य का रेचन और अन्तर भाव में स्थिर होना कुम्भक है। चित्त की एकाग्रता के लिये यही प्राणायाम है। योग वाशिष्ठ में हठ से चित्त की विजय को अनुपादेय माना गया है। ऊनोदरी या मिताहार के विषय में सब योगदर्शन एक मत हैं।[३५] रस-परित्याग का अर्थ है विकृति बढ़ाने वाले रसों का वर्जन या अस्वाद-वृत्ति। योगसाधना और स्वाद वृत्ति में उतना ही विरोध है, जितना विरोध अहिंसा और भय

---

३२. इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वागस्थिमासं प्रलयंच यातु। स्वलिष्यति-बुद्धचरित, अप्राप्य बोधि बहुकल्प दुर्लभां नैवासनात् कायचित्।

३३. एवं विधि विधानेन, प्राणायामं समाचरेत्। आरंभे प्रथमं कुर्यात्, क्षीराज्यं नित्य भोजनम्। मध्यान्हे चैव सायान्हे, भोजनद्वयमाचरेत—घेरण्ड संहिता ५।३१।

३४. न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रिय जये च निश्चित उपायोपि 'असासं ण णिसंमइ'-आव० नि० निर्युक्ति इत्याद्यागमेन योग समाधान विघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धित्वात्—पातंजल योगदर्शन—यशोविजयजी

३५. मियासणे, दशवैकालिक ८।
मिताहारं विना यस्तु, योगारंभ तु कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य, किञ्चिद् योगो न सिचति—घेरण्ड संहिता ५।१६।

में है । साधक नित्य रसों का सेवन न करे मनोज्ञ आहार करे, उसमें आसक्त नहीं हो, उसकी स्मृति न करे, उसमें मति का नियोग करे ।[३६]

कायक्लेश—कायक्लेश के चार प्रकार हैं:—[३७]

१. आसन—

२. आतापना—सूर्य की रश्मियों का ताप लेना, शीत को सहन करना—निर्वस्त्र रहना ।

३. विभूषा—वर्जन ।

४. परिकर्म—शरीर की साज-सज्जा का वर्जन । आसन दो प्रकार के होते हैं-शरीरासन और ध्यानासन । पंतजलि ने आसन को 'स्थिर सुख' कहा है ।[३८] ध्यानासन के लिये दो अपेक्षाएँ हैं—(१) शरीर स्थिर रहे और (२) सुखपूर्वक बैठा जा सके । जैन परम्परा में वीरासन आदि कठोर और पद्मासन आदि सुखासन—इन दोनों को सुखावह कहा गया है ।[३९]

इन दोनों का ध्यान के लिये प्रयोग होता था । आगमों में निम्न-लिखित आसनों का विशेष उल्लेख मिलता है ।[४०]

१. स्थान स्थिति—(कायोत्सर्ग)—दोनों भुजाओं को फैलाकर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिला या वितस्ति । जितना अन्तर रख सरल खड़ा रखना ।

२. स्थान—स्थिर, शान्त बैठना ।

३. उकड़ूँ—पैर और पुत दोनों भूमि से लगे रहें वैसे बैठना । घेरण्ड संहिता के अनुसार—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर की ओर उठा, उन पर गुदा रख बैठना ।

४. पद्मासन—बायी जाँघ पर दायाँ पैर और दायीं जाँघ पर बायाँ पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रख नाभि के नीचे रखना ।

---

३६. प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार ५.
३७. औपपातिक, तपोधिकार.
३८. स्थिरसुखमासनम्, योगदर्शन. २।४६.
३९. ठाणां०, उ० ३।०२७.
४०. औपपातिक, तपोधिकार.

५. वीरासन—बायाँ पैर दाईं सांथल पर दायाँ पैर बाईं सांथल पर रखना, दोनों हाथों को नाभि के पास रखना, अथवा सिंहासन पर बैठ, पैर नीचे भूमि पर टिका रखे हों और सिंहासन निकाल लिया जाये, वह आसन (अथवा) एक पैर से दोनों अण्डकोषों को दबा, दूसरे पैर को दूसरी जाँघ पर रख सरल भाव से बैठना।

६. गोदोहिका—गाय के दुहने जैसी स्थिति में बैठना।

७. पर्यकासन—दोनों जांघों के अधोभाग को पैरों पर टिका, दोनों हाथों को नाभि के सामने दक्षिणोत्तर रख बैठना।

इनमें से पद्मासन आदि आसन चित्त की स्थिरता के लिये हैं और वीरासन आदि धैर्य की प्राप्ति के लिये।

संलीनता--संलीनता के चार प्रकार हैं[४२]:—

१. इन्द्रिय-संलीनता—इन्द्रिय के विषयों से बचना।

२. कषाय-संलीनता—क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना।

३. योग-संलीनता—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति से बचना।

४. विविक्तशयन-आसन—एकान्त स्थान में सोना, बैठना। संलीनता की आंशिक तुलना पंतजलि के प्रत्याहार से होती है। योगी के लिये उपशान्त वृत्ति और स्थिरता आवश्यक होती है।

इनके चतुर्थ प्रकार में योगी कहाँ रहे, इसका निर्देश है। साधक के लिये श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल इन स्थानों में रहने का विधान है।[४३] तप के ये छहों प्रकार विषयों से बचने के साधन हैं। विकार आत्मा का आन्तरिक दोष है। विषय आत्मा का दोष नहीं है, वह विचार का निमित्त है। इसलिये उससे बचना आवश्यक होता है। निमित्तों से बचने के साधनों को बाह्य कहने का कारण यही है। प्रायश्चित आदि से आन्तरिक विकारों का शोधन होता है, इसीलिए उन्हें आन्तरिक कहा गया है।

---

४१. अंगुष्ठाभ्यां मवष्टभ्य, धरां गुल्फे च खे गतौ। तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेय मुत्कटासनम्—२।२७.

४२. औपपातिक, तपोधिकार.

४३. सुस्साणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ—उत्तराध्ययन, २.

प्रायश्चित भूल के अनुरूप होता है। इससे साधना का पथ प्रशस्त होता है। विनय का अर्थ है-संयम या शुद्धि के साधनों का अवलम्बन। उसके सात प्रकार हैं[४४] :—

१. ज्ञान का विनय।
२. दर्शन-सम्यग्दृष्टि का विनय।
३. चरित्र का विनय।
४. मन-विनय—मन का प्रशस्त प्रयोग।
५. वचन-विनय—वचन का प्रशस्त प्रयोग।
६. काय-विनय—सावधानी से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना।
७. लोकोपचार-विनय—गुरु की इच्छा का सम्मान करना, उनका अनुगमन करना, उनका कृतज्ञ रहना, आदि।

वैयावृत्य—साधक को सहयोग देना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय—स्वाध्याय और ध्यान दोनों परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति के अनन्य साधन हैं। योगी स्वाध्याय से विरत हो ध्यान और ध्यान से विरत हो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय और ध्यान की सम्पदा से परम-आत्मा प्रकाशित होती है।[४५]

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं—

१. वाचना—पढाना, २. प्रच्छना—प्रश्न करना, ३. परिवर्तना—याद किये हुए पाठ को दोहराना, ४. अनुप्रेक्षा—चिन्तन, ५. धर्म कथा—धर्मचर्चा, धर्म-वार्ता।

शिष्य ने पूछा—भंते ! स्वाध्याय का क्या फल है ?
भगवान ने कहा—स्वाध्याय से ज्ञानवरण क्षीण होता है।[४६]

ध्यान—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान का क्रम है। पतंजलि ने ध्यान का पूर्व तत्त्व धारणा माना है। इस तपोयोग में धारणा नाम का कोई

---

४४. औपपातिक तपोधिकार।

४५. स्वाध्यायद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्। ध्यान स्वाध्याय संपत्या, परमात्माप्रकाशते—समा०

४६. सज्झाएणं भंते जीवे किं जणेइ ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ—उत्तराध्ययन २९।१८

तत्त्व नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में 'एकाग्र मनः सन्निवेशना' जो है, उसकी तुलना धारणा से होती है। एकाग्र का अर्थ है कोई एक आलम्बन। उसमें मन को स्थापित करना, लगाना या बाँध देना—एकाग्रमनः सन्निवेशना है।

शिष्य ने पूछा—भंते! एकाग्रमन सन्निवेशना का क्या फल है? भगवान् ने कहा—एकाग्रमनः सन्निवेशना का फल है—चित्त-निरोध।[४७] यही ध्यान है। जो अध्यवसाय चल है, वह चित्त है और जो स्थिर है, वह ध्यान है। ध्यान का पहला रूप है चित्त-निरोध और दूसरा रूप है शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध।[४८] साधना की दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार है—(१) धर्म्य, (२) शुक्ल।

ये दोनो आत्मलक्षी हैं। शुक्ल ध्यान पूर्वधर (विशिष्ट ज्ञानी) मुनियों के होता है। उससे पहले धर्म्य-ध्यान ही होता है।

उसके चार प्रकार हैं[४९]—

१. आज्ञा-विचय—आगम के अनुसार सूक्ष्म पदार्थो का चिन्तन करना।

२. अपाय-विचय—हेय क्या है, इसका चिन्तन करना।

३. विपाक-विचय—हेय के परिणामों का चिन्तन करना।

४. संस्थान-विचय—लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपो का चिन्तन करना।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त-निरोध होताहै, चित्त की शुद्धि होती है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म्य ध्यान कहलाता है।

आज्ञा-विचय से वीतराग-भाव की प्राप्ति होती है। अपाय-विचय से राग-द्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दु:खों से मुक्ति मिलती

---

४७. एगग्ग मण सन्निवेसणाए णं भंते! जीवे किं जणेइ?
एगग्गमण सन्निवेसणाए ण चित्त निरोह-करेइ—उत्तराध्ययन २९।२५।

४८. एकाग्रचिन्ता योग निरोधो वा ध्यानम्—जैन सिद्धान्त दीपिका।

४९. स्थानांग ४।१।२४७।

है। विपाक-विचय से दुःख कैसे होता है ? क्यों होता है ? किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है ? इनकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान-विषय से मन अनासक्त बनता है। विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है, उसके विविध परिणाम-परिवर्तन जान लिए जाते हैं, तब मनुष्य का मन स्नेह, घृणा, हास्य, शोक आदि विकारों से विरत हो जाता है।

धर्म्य-ध्यान, चित्त-निरोध या चित्त-विशुद्धि का प्रारंभिक अभ्यास है। शुक्ल ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है। मन सहज ही चंचल है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर उसे प्रेरित करती हैं, इसलिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है। वह समूचे विश्व की परिक्रमा करने लग जाता है। ध्यान का कार्य है उस भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, त्यों-त्यों मन शान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है। शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध, पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाती है।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार है[५०]:—१. पृथक्त्व वितर्क—सविचारी, २. एकत्व वितर्क—अविचारी, ३. सूक्ष्म-क्रिय—अप्रतिपाती, ४. समुच्छिन्न-क्रिय – अनिवृत्ति।

पतंजलि ने समापत्ति के चार प्रकार बतलाए हैं—१. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा, ४. निर्विचारा।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। विचार का अर्थ है परिवर्तन। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले ध्यान करता है, किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर विचरण करता है तथा शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर एवं मन, वाणी और शरीर में से एक दूसरी प्रवृत्ति पर संक्रमण करता है, नाना दृष्टिकोणों से उस पर चिन्तन करता है। उसे पृथक्त्व-वितर्क सविचारी कहा जाता है।[५१]

---

५०. स्थानाङ्ग ४।१।२४७.

५१. स्थानाङ्ग वृत्ति ४।१।२४७, पत्र १९१.

पतंजलि ने शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण समापत्ति को सवितर्का माना है।[५२]

पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुति के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले उसके किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ और मन, वाणी तथा शरीर पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचारी कहलाता है। पहले में पृथक्त्व है, इसलिए वह सविचारी है। दूसरे में एकत्व है, इसलिए वह अविचारी है।

पहला सवात-गृह का प्रदीप है और दूसरा निर्वात-गृह का। पतंजलि ने शब्द, ज्ञान आदि विकल्पों से शून्य अर्थात् अर्थमात्र के साक्षात्कार को निर्वितर्का समापत्ति माना है।[५३] उनके अभिमत में सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल पदार्थ विषयक है, सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म पदार्थ विषयक हैं।[५४] जैन दृष्टि के अनुसार उक्त दोनों प्रकारों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ आलम्बन बनते हैं। पतंजलि में चारों समापत्तियों को सबीज मानते है।[५५] जैन दृष्टि के अनुसार ये मोह के उपशम से प्राप्त हों, तो सबीज और मोह के क्षय से प्राप्त हों, तो निर्बीज होती है।[५६]

पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी अर्थात् भेद-प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व-वितर्क-अविचारी अर्थात् अभेद प्रधान ध्यान प्राप्त होता है। इनके अभ्यास से मोह क्षीण होता है, उसके साथ-साथ ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय क्षीण हो जाते हैं। आत्मासर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति सम्पन्न बन जाता है। आयुष्य शेष रहता है, तब तक वह योगी जीता है। उसकी पूर्ति निकट होती है, तब उसके सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाती ध्यान होता है। इसमें पहले मन का, फिर वाणी का और फिर काया का निरोध होता है। श्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया बचती है।

---

५२. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः—योगदर्शन १।४२.

५३. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ मात्रनिर्भासानिर्वितर्का—योगदर्शन १।४३.

५४. एतयैव सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषया व्याख्याता—योगदर्शन १।४४.

५५. ता एव सबीजः समाधिः—योगदर्शन १।४६.

५६. पर्यायो०—

पश्चात् उसका भी निरोध हो जाता है, उसे समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति ध्यान कहा जाता है।

इनकी प्राप्ति होते ही मुनि पंच ह्रस्वाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण काल तक शरीरी रहता है, फिर मुक्त हो जाता है। पतजलि के शब्दों में शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेदों को संप्रज्ञात और अन्तिम दो भेदों को असंप्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है।[५७]

धर्म के चार लक्षण हैं—

१. आज्ञा-रुचि—राग-द्वेष, मोह के दूर होने से जो कुग्रह-मिथ्या आग्रह का अभाव होता है।

२. निसर्ग-रुचि—पूर्व शुद्धि से उत्पन्न सहज रुचि।

३. सूत्र-रुचि—सूत्र के अध्ययन से उत्पन्न रुचि।

४. अवगढ़ रुचि—तत्त्व के अवगाहन से उत्पन्न रुचि।

धर्म-ध्यान के चार आलम्बन हैं—१. वाचना—पढाना, २. प्रच्छना—पूछना, ३. परिवर्तना—दोहराना, ४. अनुप्रेक्षा—चिन्तन।

धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

१. एकत्वानुप्रेक्षा—'मैं अकेला हूँ' ऐसी भावना।

२. अनित्यानुप्रेक्षा—'सब संयोग अनित्य हैं' ऐसी भावना।

३. अशरणानुप्रेक्षा—'दूसरा कोई त्राण नहीं है' ऐसी भावना।

४. संसारानुप्रेक्षा—'जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है' ऐसी भावना।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण हैं :—

१. अव्यथ—व्यथा का अभाव, कष्ट सहन में अचल धैर्य।

२. असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ के विषय में मूढता न होना, माया जाल में न फँसना।

---

५७. समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते। सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थ ज्ञानतस्तथा
—योगबिन्दु ४१८.

असंप्रज्ञात एषोऽपि, समाधिर्गीयते परैः निरुद्धाशेषवृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः
—योगबिन्दु ४२०.

३. विवेक—देह और आत्मा का परिपक्व भेद, ज्ञान संयोग त्याग।
४. व्युत्सर्ग—शरीर और उपकरणों में निर्लिप्तता।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं :—१. क्षमा—सहन करना, २. मुक्ति—निर्लोलता, ३. मार्दव—निरभिमानता, ४. आर्जव—सरलता। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ है—

१. अनन्त-वृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि हैं, ऐसी भावना।
२. विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं, ऐसी भावना।
३. अशुभानुप्रेक्षा—संसार के सब संयोग अशुभ हैं, ऐसी भावना।
४. अपायानुप्रेक्षा[५८]—आस्रव बन्धन के हेतु हैं, ऐसी भावना।

धर्म्य-ध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षाओं से फलित होता है। शुक्ल-ध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण आदि से ज्ञात होता है। भावनाएँ १२ है—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशौच, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) धर्म, (११) लोक-संस्थान, और (१२) बोधि। चार भावनाएँ और है—(१) मैत्री, (२) प्र-मोद, (३) करुणा, (४) मध्यस्थ।

इनमें प्रथम चार भावनाएँ धर्म्य-ध्यान की अनुप्रेक्षाएँ हैं। अनन्त-वृत्ति-संसारानुप्रेक्षा का ही स्थिर अभ्यास है। विपरिणाम को लोक, अपायु को आस्रव और अशभ को अशौच भावना कहा जा सकता है।

व्युत्सर्ग—तपो-योग का १२ वाँ प्रकार व्युत्सर्ग है। इसका अर्थ है—देहाध्यास की मुक्ति, शरीर की स्थिरता।

धारणा के विषय में कोई मतभेद नहीं है। त्राटक भी योग का एक अंग है। इसमें चित्त और दृष्टि दोनों एकत्र स्थिर किये जाते हैं। जहाँ भगवान् महावीर की ध्यान-मुद्रा का उल्लेख हुआ है, वहाँ उन्हें एक पुद्गल निविष्ट दृष्टि और अनिमिष नयन कहा गया है।[५९] नासाग्र दृष्टि को

---

५८. स्थानांग ४।१।२४७.

५९. एकपोग्गल निविट्ठदिट्ठी, अणिमिस नयणे—भगवती ३।२।

भी बहुत महत्वपूर्ण माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने जिनमुद्रा की विशेषता बतलाते हुए लिखा है—' जिनेन्द्र ! आपकी और-और विशेषताओं को सीखना तो दूर रहा, पर अन्यतीर्थक देवों ने पर्यक-आसन, शिथिल-शरीर और नासाग्र दृष्टि वाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी ।"[६०] उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भृकुटी, कान, ललाट, नाभि, तालु और हृदय-कमल आदि धारणाओं की चर्चा मिलती है।[६१] भगवान महावीर ने साधना का जो क्रम प्रस्तुत किया, उसमें अनशन और ध्यान इन दोनों का समन्वय था। यह साधना क्रम न केवल कष्ट-सहन था और न कष्ट से पलायन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न था। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनों आवश्यक होते हैं। इस साधना क्रम में दोनों का सुमेल था। समय-परिवर्तन के साथ क्रम में परिवर्तन हो गया। ध्यान का स्थान गौण हो गया और अनशन साधना के सिंहासन पर जा बैठा। इसीलिए अन्य एक दर्शनी लोग जैन-साधना को केवल कष्टमय या अत्यन्त कठोर मानते हैं।

भगवान् महावीर का साधना काल बारह वर्ष और तेरह पक्ष का है। उसमें अनशन, आसन और ध्यान की स्पर्धा सी रही है। भगवान् ने इस अवधि में तीन सौ उनचास दिन भोजन-पानी ग्रहण किया और उकड़ूँ आसन, निषद्या-कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ कई सौ बार स्वीकार की।[६२]

बारह बार एक रात्रि की प्रतिमा स्वीकार की।[६३] भगवान् को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब वे ऊकड़ूँ आसन में बैठे थे, दो दिन का उपवास था[६४] और ध्यानान्तरिका में वर्तमान थे।[६५] भगवान् जब दृढ़भूमि के पेढाल ग्राम में विहार कर रहे थे, तब उन्होंने पोलाश नामक चैत्य में तीन दिन का उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा की। उनका शरीर

---

६०. वपुश्च पर्यंक शयं श्लथं च, दृशौ च न सा नियते स्थिरे च।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्रमुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥ अयोगव्यवच्छेदिका

६१. चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे, नाभौ तालुनि हृत्कञ्ज निकटे।
तत्रैकस्मिन् देशे चेत:, सद्ध्यानी धरतीत्यति शान्तम् ॥ वैराग्यमणिमाला ३४॥

६२. विन्निसए दिवसाणं—आवश्यक निर्युक्ति, ५३४।

६३. आवश्यक निर्युक्ति ५३१।

६४. आवश्यक निर्युक्ति ५२५।

६५. झाणंतरियाए वट्टमाणस्स—आ० नि० ५२४ वृत्ति पत्र २९८।

आगे की ओर कुछ झुका हुआ था। दृष्टि एक पुद्गल पर टिकी हुई थी। आँखें अनिमेष थीं। शरीर प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थीं। दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। इस मुद्रा में भगवान् ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की।[६६]

सानुलट्ठि ग्राम में भगवान ने भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमाएँ की। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चारों दिशाओं में चार-चार पहर कायोत्सर्ग किया जाए वह भद्रा प्रतिमा है। इसकी आराधना करने वाला पहले दिन पूर्वाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है, रात को दक्षिणाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। दूसरे दिन पश्चिम दिशाभिमुख और रात को उत्तराभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। भगवान् ने भद्रा के अनन्तर ही महाभद्र प्रतिमा प्रारंभ कर दी। उसमें चारों दिशाओं में एक दिन-रात कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान् ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके अनन्तर सर्वतोभद्रा का प्रारम्भ किया। इसमें दस दिन-रात लगे। चारों दिशाओं में चार दिन-रात, चारों विदिशाओं में चार दिन-रात और एक-एक दिन-रात ऊँची और नीची दिशा के अभिमुख हो कायोत्सर्ग किया। इस तरह सोलह दिन-रात तक भगवान् सतत-ध्यानरत और उपवासी रहे।[६७]

स्थानांग में इनके अतिरिक्त सुभद्रा प्रतिमा का उल्लेख मिलता है।[६८] उसका अर्थ आज ज्ञात नहीं है, वृत्तिकार अभयदेव सूरि को भी ज्ञात नहीं था।[६९] इनके अतिरिक्त समाधि प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोय प्रतिमा, महतीमोय-प्रतिमा, यवमध्या और वज्रमध्या आदि प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है।[७०] इनकी परम्परा लुप्त है और हृदय अज्ञात। जैन परम्परा में ध्यान-क्रम इस प्रकार है:—

---

६६. आवश्यक निर्युक्ति पत्र २८८।

६७. आवश्यक निर्युक्ति ४९५ वृत्ति पत्र २८८।

६८. चत्तारि पडिमाओ पं० तं०—'भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वतोभद्दा' ४।१।२५१।

६९. सुभद्राप्येवंभूतैव सम्भाव्यते, न च दृष्टेति न लिखिता—स्थानांगवृत्ति, ४।१।२५१।

७०. स्थानांग ४।१।२५१।

१. स्थान—कायोत्सर्ग, आसन आदि।
२. मौन—वाक् संयम।
३. ध्यान—एकाग्रता।

भगवान् प्रायः मौन रहते थे।[७१] आसनस्थ होकर ध्यान करते। वे ऊँची-नीची और तिरछी तीनों दिशाओं में स्थित पदार्थों को अपना ध्येय बनाते।[७२]

योगी के लिए निद्रा विजय भी आवश्यक है। भगवान ने साधना-काल में केवल १ मुहूर्त्त भर नींद ली।[७३]

भगवान प्रहर भर तिर्यम् भित्तिया-दृष्टि टिका कर ध्यान करते थे।[७४] भगवान के शिष्यों के लिए भी ध्यान 'कोष्ठोपगत' विशेषण प्रचुरता से प्रयुक्त हुआ है। इतनी बड़ी परम्परा कैसे लुप्तप्राय हो गई, यह एक अन्वेषणीय विषय है।

साधना की बाधाएँ:

(१) मोह, (२) क्षयोपशम का अभाव, (३) अस्वस्थता[७५], (४) स्तम्भ, (५) मिथ्यात्व, (६) अविरति, (७) प्रमाद, (८) कषाय, (९) शरीर, वाणी और मन की चंचलता, (१०) आलस्य[७६], (११) अविनय और (१२) विकृति-प्रतिबद्धता—रस लोलुपता।[७७] अश्रद्धा—ये योग-साधना या शिक्षा के विघ्न है।

---

७१. आचारांग १।९।१।६२, २।७६।
७२. अविक्काह से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं उड्ढं अहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिन्ने—आचारांग १।९।४।१०८।
७३. आवश्यक निर्युक्त पत्र २७०।
णिद्दं पि नो पगामाए सेवइ भगवं उट्ठाए। जगावइ य अप्पाणं, ईसिं साई य अपडिन्ने—आचारांग, १।९।२।६९।
७४. अह पोरिसिं तिरियं, भित्तिं चक्खुमासज्ज अन्तसो झायई—आचारांग, १।९।१।४६। वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न किया है, पर वह चिन्त्य है।
७५. स्थानांग, ४।२।२८३।
७६. उत्तराध्ययन, ११।३।
७७. स्थानांग, ३।

(१३) पतंजलि ने व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व इन चित्त विक्षेपों को योगान्तराय माना है।[७८]

ध्यान की भूमिकाएँ :

विस्तार दृष्टि से साधना के विघ्न अनेक हैं, किन्तु संक्षेप में उसका विघ्न एक है। वह है मोह। मोह का उदय होता है। ध्यानभंग हो जाता है, उसका उपशम, क्षय-उपशम और क्षय होता है, ध्यान प्रशस्त हो जाता है। ध्यान की प्रधान भूमिकाएँ ग्यारह है।[७९] १. सम्यग्दृष्टि, २. देशव्रती, ३. महाव्रती, ४. अप्रमत्त, ५. अपूर्वकरण, ६. अनिवृत्ति बादर, ७, सूक्ष्म-लोभ, ८. उपशान्त-मोह, ९. क्षीण-मोह, १०. सयोगी-केवली, ११. अयोगी-केवली।

प्रथम तीन भूमिकाओं में धर्म-ध्यान होता है। चतुर्थ भूमिका में धर्म-ध्यान होता है और अंशतः शुक्ल-ध्यान भी होता है।[८०] इस भूमिका से सूक्ष्म-लोभ की भूमिका तक शक्ल-ध्यान का प्रथम चरण प्राप्त होता है।

क्षीण-मोह वीतराग को शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होता है।[८१] दसवीं भूमिका के अन्त में शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण होता है। केवली के शरीर की स्थिरता होती है, वही ध्यान है।[८२] ग्यारहवीं भूमिका में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त होता है।[८३]

---

७८. योग-दर्शन, १।३०।

७९. समवायांग, १४।

८०. धर्म-ध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम्।।
रूपातीत तथा शुक्ल-मपि स्यादंशमात्रतः।। गुणस्थान क्रमारोह, ३५।।

८१. तत्राष्टमेगुणस्थाने, शुक्लसद्ध्यानमादियम्। ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्य संहननान्वितः।। ५१।।
भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महापतिः पूर्ववद् भाव संयुक्तो द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत।। गुण० क्रमा० ७४।

८२. छद्मस्थस्य यथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते। तथैव वपुषः स्थैर्यं, ध्यानं केवलिनो भवेत्।। गुण० क्र० १०१।।

८३. तत्रानिवृत्ति शब्दान्तं, समुच्छिन्न क्रियात्मकम् चतुर्थं भवति ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः।। गुण० क्रमारोह १०५।।

ध्यान का फल :

ध्यान का मुख्य फल है मोह विलय या परमात्व-भाव। उसका गौण फल है लब्धि। योगदर्शन में इन्हें विभूति कहा गया है। लब्धियाँ २८ हैं। उनके द्वारा वैसे कार्य होते हैं, जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। पर ध्यान का यह साध्य नहीं है। उसका साध्य है आत्मोपलब्धि। आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से वेष्टित है। हमारे पास ज्ञान के साधन हैं इन्द्रियाँ और मन। ये बहिर विषयों की जानकारी में चंचल रहते हैं। इनका बहिर दर्शन मिटे तब कहीं अन्तर-दर्शन का प्रारम्भ हो। वही है ध्यानावस्था। शुक्ल ध्यान में आरूढ़ योगी विश्व भर के जीवों के कर्म-बन्धन को तोड़ डालने में समर्थ होता है, यदि ऐसा हो सके।[८४] ध्यान की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है? मुनि के लिए विधान है कि वह दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करे और दूसरे पहर में ध्यान करे।

तीसरे पहर में आहार करे और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।[८५] इसी प्रकार रात के पहले पहर में स्वाध्याय दूसरे में ध्यान करे तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।[८६]

यह औत्सर्गिक विधि थी। काल-क्रम से इसमें परिवर्तन हुआ है। इसीलिए अतिशायी ज्ञान दर्शन की हानि हुई है। भगवान ने कहा है—जो मुनि (१) स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा करता है, (२) विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को सम्यग् भावित नहीं करता, (३) पूर्व-रात्र और अपर-रात्र में धर्म-जागरिका नहीं करता, (४) शुद्ध भिक्षा की गवेषणा नहीं करता उसे अतिशायी ज्ञान-दर्शन प्राप्त होते-होते रुक जाता है। इसके विपरीत जो मुनि (१) विकथा नहीं करता, (२) आत्मा को असम्यग्

---

८४. क्षपक श्रेणि परिगतः, स समर्थः सर्व कर्मिणां कर्म।
क्षपयितु मेको यदि कर्म-संक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥ प्रशमरतिः, २६४ ॥

८५. पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ, तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥ उत्त० २६।१२ ॥

८६. पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ तइयाए निद्द मोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥ उत्त० २६। १८ ॥

भावित नहीं करता (३) धम जागरिका करता है तथा (४) शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा करता है, उसे अतिशायी ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है।[८७]

पदार्थ विज्ञान आज बहुत विकसित है। आत्मा-ज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान बहुत ही अविकसित है। जो प्राप्त है उसके लिए प्रयत्न आवश्यक नहीं है, जो प्राप्तव्य है उसके लिए प्रयत्न अपेक्षित है। सत्य के साक्षात्कार के लिये आत्मा के शुद्ध रूप की अनुभूति परम आवश्यक है आत्मा की तीन दशाएँ हैं—(१) वहिर आत्मा, (२) अन्तर-आत्मा, (३) परमात्मा। देह और आत्मा को जो भिन्न नहीं मानता, वह वहिर आत्मा है। जिसे देह और आत्मा के भेद का ज्ञान है, वह अन्तर-आत्मा है। जो कर्म-मल से रहित है, वह परमात्मा है। परमात्मा उपेय है। वहिरात्मा हेय है। अन्तरात्मा उसका उपाय है। ध्याता, ध्यान और ध्येय सब कुछ आत्मा है। मोह की हानि, वाह्य चिन्ता की निवृत्ति के लिए एकाग्रता की सिद्धि के लिए आत्मा का ध्यान किया जाए। यह जीवन का सर्वोपरि सत्य है।

मनसा कल्प्यते बन्धो, मोक्षस्तेनैव कल्प्यते

जिस मन की शक्ति द्वारा कर्म का बंधन किया जा सकता है उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

यद् मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति।
यद् वाचा वदति तद् कर्मणा करोति।
यत् कर्मणाकरोति, तत्फलमुपपद्यते।।

मानव जैसा विचार करता है उसीप्रकार की वाणी बोलता है। जैसी वाणी बोलता है वैसी ही क्रियाएँ करता है और जैसी क्रियाएँ की जाती हैं वैसा ही उनका फल मिलता है।

---

८७. स्थानांग ४।२।२८४।

अनुभव गिरा :

मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभव

● श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

समग्र भारतीय अध्यात्म-साधना का चरम लक्ष्य पारमात्मिक भाव की उपलब्धि है। आर्यों की आत्मा में सम्पूर्ण आनन्दमूलक जो आस्था है, वह साधक को निरन्तर आगे बढने हेतु प्रेरित करती रहती है।

आत्मपरक समस्त वाङ्मय का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कर्म विघ्न और विकृति, ये आत्म स्वभाव नहीं हैं। जो आत्म-स्वभाव है वह इनसे परे, अनिर्वचनीय सम्पूर्ण अविनाशी आनन्द से ओतप्रोत है। वह आत्म-स्वभाव अभिन्न होते हुए भी सहज-अनायास व्यक्त नहीं होता। उसे पाने के लिये वैभाविक शक्तियों से संघर्ष कर उन्हे आत्यन्तिक रूप से समाप्त करना पड़ता है। तभी आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप सम्पूर्ण स्वभाव वैभव को प्राप्त कर पाता है।

ऐसी दृढ मान्यताओं के आधार पर आर्य साधकों की साधनाये खडी होती है तथा श्रद्धा और अनुभव के सहारे आगे बढती है। प्राचीन ऋषि महर्षि व लोकोत्तम महापुरुषों ने दीर्घ साधनाएँ करके सत्य का साक्षात्कार किया और उसकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जो कई धर्मों व पंथों के रूप में आज विद्यमान हैं।

लक्ष्य एक होते हुए भी प्रक्रियाओं में जो भिन्नता है वह देश, काल तथा अधिकारी व अनुभव की दृष्टि से समझना चाहिये।

उन विभिन्न प्रक्रियाओं को, जिनमें से कई प्रसिद्ध तथा कई गुप्त है, अपनाकर साधक जब साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है तो उसे कई तरह के अनुभव होते हैं। वे अनुभव बड़े विभिन्न तथा आश्चर्यपूर्ण है। सामान्यतया उनको दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) वे अनुभव जो अध्यात्मसाधना में सहायक बनकर साधक के उत्साह को बढ़ाते हैं।

(२) वे अनुभव जो साधक को आकर्षित करके चमत्कृत कर देते हैं। अपरिपक्व साधक उन चमत्कारों में उलझ कर साधना पथ से च्युत हो जाया करते हैं।

अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में जैन धर्मानुसार प्रत्येक साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिये चौदह भूमिकाएँ पार करनी होती हैं। जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं।

यों तो लक्ष्य पाने तक साधक में योग्यता तथा अनुभवों की दृष्टि से अनेक परिवर्तन होते हैं किन्तु जो परिवर्तन प्रमुख तथा ग्राह्य हैं उनकी दृष्टि से ही यह विभाग है।

जैनेन्द्र (आर्हत) साधना करने वाला एक सफल साधक प्रारम्भ से अन्त तक अपने अन्तर-बाह्य परिवर्तनों को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कर्म प्रकृतियों के क्षय और उपशम को समझता भी है और उनकी आत्म-दृष्ट्या विवेचना भी करता है।

इसके कई उदाहरण शास्त्रों में और अन्यत्र उपलब्ध होते हैं। तीर्थङ्कर अपने भोगावली (उदय में आने वाले) कर्म और उनकी स्थिति को पहले ही पहचान लेते हैं। फिर भी वे क्रमशः उदय में आने वाले कर्मों को भोग कर निर्जीर्ण करते हैं।

अनादि मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व में विचरण करने वाली आत्मा को अपूर्व आनन्द का साक्षात् अनुभव होता है, यद्यपि ऐसे अनुभव सूक्ष्म व अनुभवगम्य है परन्तु आत्मा से परे नहीं हैं। महान् आध्यात्मिक महर्षि आनन्दघन जी ने ऐसे ही अनुभव आनन्द का अनुभव प्रकट करते हुए कहा :—

'अब हम अमर भये न मरेंगे'

पार्थिव जीवन में अमरता की दिव्यज्योति कर्मक्षय परम्परा के अनुभव बिना प्रकट हो नहीं सकती।

साधक को उच्च भूमिका में जाने पर ही ऐसा अनुभव होता हो

ऐसी बात नहीं, साधारणतया सम्यक्त्व (सत्य) लाभ होते-होते भी उसे विलक्षण अनुभव होने लगता है। श्रीमद्रायचन्द्र ने कहा :—

दर्शन मोह व्यतीत थयी, उपज्यो बोध ज्यो
देहभिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो ......।

भेद विज्ञान का प्रारम्भिक अनुभव भी नवीन साधक के लिये अनुपम ही होता है।

धैर्यपूर्वक साधना में गतिमान होने पर अनुभवों का नया-नया खजाना खुलता रहता है। एक जगह उपासक आनन्द ने इन्द्रभूति गौतम को बताया कि मुझे विशिष्ट अवधिज्ञान है। किन्तु श्री इन्द्रभूति को विश्वास नही हुआ कि एक गृहस्थ श्रावक को भी इतना उच्च ज्ञानानुभव हो सकता है। अन्त में श्रमण भगवन्त महावीर ने आनन्द की बात का समर्थन किया तब कहीं श्री गौतम का सशय मिटा।

जैनेन्द्र पद्धति का साधक क्रमशः अवधि (समस्त रूपवान् पदार्थो को जान लेना), मनःपर्याय (मन के स्वरूप को प्रत्यक्ष देखना), केवलज्ञान (सार्वत्रिक सार्वकालिक समस्त अभिव्यक्तियों का सर्वथा साक्षात्कार होना) से महान् अनुभव पा लेता है। इनके अतिरिक्त तेजोलेश्या (अग्निमयी दृष्टि), आहारक शरीर सिद्धि (समाधान प्राप्ति का साधन विशिष्ट शरीर), वैक्रिय शरीर (विविध प्रकार की आकृतियाँ बनाने की क्षमता), जंघाचरण, विद्याचरण आदि गगनगामिनी विद्याएँ आदि कई प्रकार की लब्धियों को भी प्राप्त कर लेता है, जिनका प्रयोग संयम की विराधना (संयम से हानि) कहलाता है। मुनियो के अनेक ज्ञानानुभव तथा लब्धियो के प्रयोगों की बातें शास्त्रों और चरित्रों में उपलब्ध होती हैं।

महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्र में ऐसे कई अनुभवो की बात कही है, जो बड़े विचित्र लगते हैं।

(१) ऋतम्भराबुद्धि[१] (सुनी हुई और आनुमानिक सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक बताने वाली बुद्धि)।

---

१. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् (योगसूत्र)

(२) अध्यात्मप्रसाद[२] (निर्विचार समाधि में प्राप्त होने वाला अन्तर का अनुभव)।

स्वरूपावस्थान[३] (निर्बीज समाधि-ऋतंभरा के संस्कारों का भी मिट जाना) जैसे उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवों के साथ महर्षि ने कहा कि योगी लोगों को अन्तर्धान सिद्धि, अतिबल सिद्धि, संवित् सिद्धि, परशरीर प्रवेश, उत्क्रान्ति, गगन गमन, अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि-आदि अनेकानेक ऐसी सिद्धियाँ-ऋद्धियाँ भी प्राप्त हो जाया करती हैं जो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महर्षि पतंजलि ने भी ऋद्धियों और सिद्धियों को हेय ही माना है। उन्होंने कहा कि साध्य[४] के सिद्ध होने से पूर्व कई लालच आते हैं। न तो उनमें उलझना चाहिये और न उनका अभिमान ही करना चाहिये, अन्यथा पुनः महादुःख आ सकता है।

जैनेन्द्र साधना तथा योगसूत्रीय प्रक्रिया के अनुभव विचित्र अवश्य लगते हैं किन्तु रहस्यपूर्णता आध्यात्मिक अनुभवों की एक और ऐसी विशेषता है जो अत्यन्त अनिर्वचनीय तथा दुरूह है। रहस्यमय विचित्र अनुभव के बीज स्मृतियों में भी पाये जाते है। एक जगह उल्लेख है कि[५] चन्द्रमण्डल में आकर एक स्त्री ने दो को खाया, तदनन्तर तीसरा पैदा होता है वह अजर-अमर होता है।

एक जगह ऐसा कहा गया—नाभिदेश[६] में एक जलता हुआ सूर्य है और तालमूल में अमृतमय चन्द्रमा नित्य स्थित है। अधोमुख चन्द्र

---

२. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः (योगसूत्र)

३. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (योगसूत्र)

४. स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् (योगसूत्र)

५. एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमंडले।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां, स भवेदजरामरः॥

६. नाभिदेशे च सत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रः ग्रहणात्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्यं कारणं तत्र येन पीयूषमाप्यते॥

बर्षता है और ऊर्ध्वमुख सूर्य ग्रहण करता है। वहाँ पर जिसके द्वारा अमृत पाया जा सके उस कारण को जानना चाहिये।

तनिक सोचिये उपर्युक्त अनुभवपूर्ण निर्देश के सत्य–रहस्य को अनायास कौन पा सकता है ?

रहस्यमय राजयोग और हठयोग के अनेक अनुभवों का चित्रण हमें योगियों व सन्तों की अनुभव वाणियों में भी मिलता है। प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ का एक पद देखिये :—

देह में महादेव विराजे, गुपत गुणेसां सहलाणी।
सिव सगति देवी हाजर बोले—पायर पूजे नर कहा जाणी।।
पर बस फोड़ एक गंगा खल की चहुँ दिस पाणी पाणी।
उस परवत पर दोय मछली बैठी जिसमें नीर घण जाणी।।
चांच नई ज्यांके पांख नई वो भूल रई जल ताणीं।
सच वचनां सूं चढ़ी सिखर गढ़ बोले अनहद वाणी।
मछंद्रि परताप जती गोरख बोलिया छांड़ियां दूध ने पाणी।।
—(गोरखवाणी)

सन्त कबीरदास जी ने भी ऐसे अनुभवों का कई भजनों में वर्णन किया है। एक दोहे में ही जो अकल कला का खेल बना दिया वह कम आश्चर्यपूर्ण नहीं है। वह दोहा है—

धरता गगन के अन्तरे, चंद सूरज के मेल।
जो जोगी गुरु मुख लहे तउ अकल कला का खेल।।

ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदास जी, पलटूदास जी, सन्त रेदास जी ईसरदास जी, वालकदास जी, केसोदास जी आदि अनेक भक्तों, सन्तों ने पदों, भजनों व बाणियों में ऐसे रहस्यमय अद्‌भुत अनुभवों का चमत्कार पूर्ण वर्णन पाया जात. है।

अद्‌भुत अनुभवों को अपने ढंग से वाणी का रूप देने की एक लम्बी परम्परा रही है जो अब तक विद्यमान है। किन्तु आश्चर्य इस बात क है कि युग के इतने महान् परिवर्तनों में भी इनके रहस्य में कोई कमी नहं आई। वह ज्यों का त्यों विद्यमान है।

प्रसिद्ध योगीराज चतुरसिह जी के गुरु राजर्षि गुमानसिंह जी अधिक प्राचीन नही हैं किन्तु उनके ग्रन्थ 'मोक्ष भवन' में आध्यात्मिक अनुभवों का जो रहस्यपूर्ण[७] वर्णन है वह प्राचीन किसी योगी की वाणी से कम नहीं है।

अनुपम अनुभवों की इस अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि अध्यात्मचिंतन, मनन, ध्यान, योग और समाधि से व्यक्त होने वाला एक ऐसा अन्तर्जगत अवश्य है जिसे साधारण तथा स्थूलबुद्धि-व्यक्ति समझ ही नही सकता।

आश्चर्यपूर्ण विचित्र अनुभवों से परिपूर्ण उस अध्यात्म जगत और उसके सिद्धान्तों को हम एक साथ काल्पनिक तो कह ही नही सकते क्योंकि गहराई में जाकर छानबीन किए विना किसी बात के विषय में निर्णय देना अनधिकार चेष्टा है।

आजकल समाचार पत्रों में महर्षि महेश की ध्यान साधना की बड़ी चर्चा है जिससे पश्चिम के बीटल्स और कई विद्वान् प्रभावित होकर भारत में योग-साधना हेतु आ रहे है। आध्यात्मिक क्षेत्र की यह एक और चमत्कारपूर्ण विजय है जो सिद्ध करती है कि योगियों के अनुभवों में मात्र कल्पना नही है अपितु वास्तविकता है।

हम देखते है कि प्रत्येक जीवित शानदार परम्परा के मूल में कुछ सचोट सत्य होते हैं जिनके आधार पर वह फलती-फूलती है, मात्र कल्पना के ढेर पर खड़ी परम्पराएँ टिक नही पाती।

अध्यात्मानुभव की विशाल परम्परा जो अब तक टिकी है तो इसके मूल मे अवश्य सत्य है। अन्यथा वे सन्त-महात्मा, ऋषि-महर्षि, जो

---

७. त्रिकूट बीच आयकै सुरत्त चक्ख खोलयं, त्रवेण तीर जायके अनंदजुत्त डोलयं।
सुभाग द्वार देखके हुलस्य जीवको हुयं, भजो जुमत्त देवदत्त शंभ नित्त सोमय ॥
अनोख देस आय वे त्रिगूट मट्ठ सोगयं, अगम्य धाम देखके प्रचण्ड सुख भोगयं ॥
अखंड जोति है वहा जु दीप मालवो मयं।
अनेक वृक्ष जात जात पुष्प सौरभ देरयं, सुघन्न घन्न बाग मे फलादि जुत्त व्है रयं ॥
दियत्त नीर झोकदे परत्त नाह बून्द यं।
सुधा जु घूट पीवय हरक्क जुत्त व्है हमं, सिद्ध हुकंम पाय के अलक्क दार गोमर्म ॥

समस्त सुख-सुविधाओं को ठुकराकर समस्त कामनाओं को समाप्त कर आत्मशोधन मे प्रवृत्त होते हैं, कभी इनका प्ररूपण-निरूपण नही करते।

यह तो हम सोच ही नही सकते कि तनिक पाप का भी महान प्रायश्चित करने वाले संत मुनि महात्मा नितान्त कपोलकल्पित गप्पे चलाते रहे और बढ़ाते रहें। अतः मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभवों में सत्यता की पूर्ण चमक है। फिर भी आज का युग विज्ञान का युग है। हर क्षेत्र में अनुसन्धान चल रहे हैं। मनोविज्ञान की तरफ भी कई परीक्षण हुए और कुछ नये तथ्य सामने आये है। और भी परीक्षण किये जा रहे हैं।

क्या ही अच्छा हो आज के वैज्ञानिक इस अद्भुत अनुभवों के गुप्त खजाने को भी अपनी विज्ञान की चाबियों से खोलने का यत्न करे। यह एक महान प्रशंसनीय प्रयास होगा किन्तु क्या यह महान प्रयास निर्द्वन्द्व विशुद्ध अध्यात्म मुखी दृष्टि पाये बिना सफल हो सकेगा? यह एक ऐसा प्रश्न है जो समस्या रखने के साथ-साथ ही मस्तिष्क में उभर रहा है।

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं सहिध्याता प्रशस्यते

जिसका चित्त स्थिर और अडोल होता है वही पुरुष ध्यान का प्रशंसनीय अधिकारी है।

परिणामों बन्धो परिणामो मोक्षः

कुत्सित विचारों के कारण कर्मो का बंध होता है और शुद्ध विचारों के कारण कर्मों से मुक्ति मिलती है।

मन मनसा को मारकर, घट ही माहि फेर।
जब ही चाले पीठ दे, आंकस दे दे फेर ॥

मन को स्वाध्याय योग में लगाकर शुभ क्रियाओं में संलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं में रमाकर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल के चिन्तन में लगाकर बुद्धिमान व्यक्ति मन का निरोध करने का यत्न करें।

वर्गीकरणः

ध्यान के अङ्ग-उपांग

● वैद्य श्री अमरचन्द्र जैन

आत्मा का अन्तिम ध्येय-लक्ष्य विन्दु क्या है ? उसका अन्तिम ध्येय मोक्ष-प्राप्ति है। सम्पूर्ण कर्मो का क्षय ही मोक्ष की परिभाषा है।

"कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः"

शुभ-अशुभ कृत कर्मो का क्षय ही मोक्ष है। मोक्ष अन्तर्आत्मा का बोध हुए विना प्राप्त नही होता। आत्म-बोध प्राप्ति हेतु जैनागमों तथा महर्षियों ने अनेक उपाय तथा अङ्गों का विधान किया है।

चित्त की समता—एकाग्रता विना आत्म का भान होना अत्यन्त दुर्लभ है।

चित्त की समता—एकनिष्ठता तथा आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु ध्यान का विधान महर्षियों-आगमों ने विस्तार पूर्वक किया है।

ध्यान—किसी वस्तु या ध्येय के प्रति एकाग्रता होना ही ध्यान है। इसके चार प्रकार है—

(१) **पदस्थ ध्यान**—णमोकारमन्त्र, लोगस्स, णमोत्थुणं आदि स्तुतियों—प्रार्थनाओं तथा शास्त्रीय पाठों का स्वस्थ चित्त के साथ एकाग्रमन पूर्वक मौन रहकर, स्मरण करना, मनन चिन्तन और आगम-स्वाध्याय करना।

(२) **पिण्डस्थ ध्यान**—आत्मा के और शरीर के स्वरूप का भेद पूर्वक चिन्तन करना। उसकी स्वाभाविक अवस्था का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करना।

(३) **रूपस्थ ध्यान**—उत्पाद्, द्रव्य रूप पदार्थों का और उनके

गुण—पर्यायों का मनन करना। अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना।

(४) रूपातीत ध्यान—सिद्ध-परमात्मा के स्वरूप और उनके अनन्त-अनन्त ज्ञान एवं स्वाभाविक गुणों का सूक्ष्म रीति से चिन्तन-मनन और ध्यान करना।

ध्यान के स्थान

नासिका का अग्रभाग, हृदय, मुख, नेत्र, नाभि कमल, ललाट, कर्ण, तालु, भौं, जीभ और मस्तक ये ११ स्थान ध्यान अथवा धारणा के हैं। इसमें से एक पर एकाग्र चित्त से अभ्यास के द्वारा मन को स्थिर करना ध्यान है।

अपने लक्ष्य-ध्येय पर मन को स्थिर करना ही वीत राग भगवान् ने ध्यान कहा है। ध्यान के दो भेद हैं। एक शुभ और दूसरा अशुभ। ध्येय अशुभ होने से आर्त्त और रौद्र, ये अशुभ विचार उत्पन्न करते हैं। यह त्यजनीय है। धर्म और शुक्ल ध्यान शुभ और सेवनीय है। यही मोक्ष की सच्ची सोपान है।

'आर्तरौद्र धर्म शुक्लानि।
परे मोक्ष हेतु ॥'' (मोक्ष शास्त्र)

आर्त-रौद्र, धर्म और शुक्ल यह चार ध्यान हैं। उनमें से पर बाद के मोक्ष के कारण है। उक्त चारों ध्यानों में आर्त, रौद्र विषय-कषाय भव-भव में बन्धनकारी है। कर्मबन्ध के कारण है।
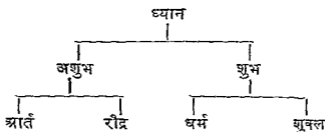
ध्यानों की व्याख्या :

१. आर्त्त ध्यान—आर्त्त का अर्थ है पीड़ा-दुःख। इस ध्यान से मन-चित्त की वृत्तियाँ दुःख तकलीफ-सङ्कट की ओर अग्रसर रहती है। यह ध्यान चार प्रकार का है—

(१) अनिष्ट-संयोग—अप्रिय वस्तु मिलने पर दुःख मानना, उसे दूर करने की सदैव चिन्ता फिकर बनी रहना।

(२) इष्ट-वियोग—प्रिय वस्तु के वियोग होने पर चिन्ता करना। उसे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा करना।

(३) रोग-चिन्ता—शारीरिक-मानसिक आदि व्याधि आने पर सदैव चिन्ता लगी रहना। उसके विषय में सोचते रहना। उसे दूर करने की व्याकुलता बनी रहना।

(४) निदान—भोगों की तीव्र अभिलाषा बनी रहना। विषय विकारों की प्राप्ति के लिए उत्साह संकल्प-विकल्प करना।

इस ध्यान में जीव आत्मा आक्रन्दन, रोग, शोक, रुदन, विलाप करता रहता है। इस ध्यान में मन को शान्ति प्राप्त नहीं होती अपितु जीव चौरासी की घूमन घेरी में घूमता रहता है।

२. रौद्र ध्यान—रौद्र का अर्थ ही भयङ्कर-डरावना होता है। यह ध्यान मानव जीवन का पतन करता है। यह अनेक कुत्सित भावनाओं का जनक है। यह ध्यान भी चार प्रकार का है—

(१) हिंसानुबन्धी—सदैव मन में हिंसा-मारने के भाव बने रहना। हिंसा करने वाले उपकरणों का संग्रह करना। हृदय को कठोर बनाना।

(२) अनृतानुबन्धी—असत्य भाषण करना, असत्य-झूठ बोलने की भावना बनी रहना, छल-कपट-धोखा-धड़ी करने का विचार करना।

(३) स्तेयानुबन्धी—चोरी करना, चोरी करने के विचार बने रहना।

(४) विषय संरक्षणानुबन्धी—व्यभिचार, विषय, कषाय सेवन में कठोरता बरतना, काम-क्रोध-मान आदि की भावना बनी रहना, विषयों में प्रवृत्ति होना।

इस ध्यान के चार लक्षणों का महर्षियों ने वर्णन किया है। (१) किसी पर दोषारोपण करना। (२) किसी पर बहु दोषारोपण करना। (३) अज्ञानता-मूर्खता रखना। (४) मृत्यु के समय पापों-दोषों का प्रायश्चित्त न करना।

इस ध्यान की स्थिति आगमकारों ने पाँचवे गुण स्थान तक बताई है। आगे के गुण स्थानों में इसका अभाव हो जाता है।

यह ध्यान भी इस जीव आत्मा को संसार अरण्य में घूमाता रहता है। जन्म-जन्मान्तर की घूमन घेरी की चक्की में पिसता रहता है।

३. **धर्म ध्यान**—यह ध्यान शुभ विचारों का प्रकाश पुञ्ज है। आत्म-उत्थान का राजमार्ग तथा जीव आत्मा को जगमगाने-उसमे धर्म की अनन्यतम सर्चलाईट पैदा करता है। यह ध्यान चार प्रकार का है—

(१) **आज्ञा विचय**—वीतराग-अरिहन्त प्रभु की क्या आज्ञा है? उनका विधि-निषेध रूप क्या है? इस प्रकार उनके कहे आदर्श सिद्धान्तों का मनो योग पूर्वक मनन करना। सम्यक् ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना करना, श्रावक के बारह व्रतों की ओर प्रवृत्ति करना। साधु के पाँच महाव्रत धारण कर छहकाया की रक्षा करना। प्रभु वीतराग की आज्ञा मे रंच मात्र भी प्रमाद न करना। इस ध्यान मे वीतराग वाणी का पालन करना और संरक्षण करना होता है।

अपाय विचय—अठारह पापो का परित्याग करना। पापो तथा दोषो का स्वरूप जानने के लिये और उनसे छुटकारा पाने के लिये चित्त को एकाग्र करना। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, विषय-कषाय आदि दोषो का परित्याग कर संवर धर्म की परिपालना करना। अपने अरिहन्त-सिद्ध स्वरूप का विचार करना।

इस ध्यान में आत्मा में निहित अनन्त-अनन्त शक्तियो ज्ञान-दर्शन चारित्र का विचार किया जाता है।

(३) **विपाक-विचय**—कर्मों के विपाक-उनके सुख-दुःख के स्वरूप का विचार करना। कौन-कौनसा कर्मफल किस-किस कर्मफल से सम्बन्धित है। कर्म के फल की शक्ति का एकाग्र मन से चिन्तन करना। आत्मा के विकास की दृष्टि से कर्मफल विपाक का निष्ठा पूर्वक चिन्तन करना।

इस ध्यान मे ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्मों के शुभ-अशुभ बन्धन-ह्रास-वृद्धि का विचार किया जाता है। भोगते समय कर्मफल मे रंच मात्र भी राग-द्वेष बुद्धि-विचार न लाना।

(४) **संस्थान विचय**—लोक के स्वरूप का विचार करने मे मनोयोग देना।

इस ध्यान में चौदह राजू प्रमाण लोक के स्वरूप, स्वर्ग, नरक-ऊँचा, नीचा, मध्यम त्रय लोकों का विचार किया जाता है। अनादि काल से यह जीव आत्मा इस लोक में भ्रमण करता आया है। सम्यक् ज्ञान चारित्र की निष्ठा पूर्वक एकाग्र मन से आराधना कर, यह जीवन का अन्तिम लक्ष्य बिन्दु मोक्ष प्राप्त कर सके। सिद्ध बुद्ध बन सके।

लोक में रहे हुए षट् द्रव्यों और उन द्रव्यों के गुण-पर्यायों का चिन्तवन भी इसी ध्यान के अन्तर्गत ही है।

धर्म ध्यान में प्रविष्ट होने के चतुर्लक्षण शास्त्रकारों ने बताये हैं—

(१) **आज्ञा रुचि** अरिहन्त भगवान् की आज्ञानुसार क्रिया करने की रुचि होना।

(२) **निसर्ग रुचि**—स्वभाव से ही और बिना किसी उपदेश से अन्तर्प्रेरणा-मनः प्रेरणा से ही सूत्र धर्म और चारित्र धर्म के अनुसार क्रिया करना।

(३) **सूत्र रुचि**—आगम शास्त्रों एवं सूत्र ग्रन्थों, श्रुत ज्ञान के पढ़ने तथा सुनने की रुचि होना।

(४) **उपदेश रुचि**—गुरु सत्सङ्गी पुरुषों के उपदेश से धर्म क्रिया, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में प्रवृत्ति होना। समभावना से आराधना की रुचि होना।

धर्म ध्यान के चार आलम्बन इस प्रकार हैं—

(१) **वायणा** (वाचना)—गुरु-ज्ञानी-गीतार्थ सन्तजनों के चरणों में बैठकर विनय पूर्वक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना।

(२) **पृच्छणा** (पूछना)—गुरुजनों से शास्त्रीय ज्ञान का प्रश्नोत्तर द्वारा शङ्का समाधान करना।

(३) **परियट्टणा** (परिवर्तना)—पढ़े हुए आत्मिक तथा शास्त्रीय ज्ञान को बार-बार चितारना। मनोयोग पूर्वक चिन्तन-मनन करना।

(४) **धम्म कहा** (धर्म कथा)—जीवन को उन्नत बनाने वाली धर्म कथाओं का पठन-पाठन करना तथा उनका प्रचार करना।

धर्म ध्यान की सिद्धि के लिये ।१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व इन चार भावनाओं का चिन्तन-मनन करना।

संसार की सभी वस्तुएं नाशवान। कोई किसी को शरण नहीं देने वाला। यह संसार विषाद दुःख-सुख का घर है। यह जीव आत्मा अकेला ही आया है अकेला ही जायेगा। धर्म ही एक सहायक है। ऐसा मनोयोग पूर्वक विचार करना उक्त चतुर्भावनाओं का उद्देश्य है।

४. शुक्ल ध्यान—यह ध्यान आत्मा की सिद्धि का मूल मन्त्र है। मोक्ष की अन्तिम सोपान है। वैराग्य बल से, धारावाही मनोयोग पूर्वक चिन्तवन से विषय-कषायों का सम्बन्ध सर्वथा पृथक हो जाता है। शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त लेश मात्र भी चलायमान नहीं होता। मेरु सम अटल रहता है। उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। अपने स्व-आत्मस्वरूप-सद् चित्त आनन्द को प्राप्त करता है। इसके चार भेद है।

(१) पृथकत्व वितर्क—इसमे अर्थ, व्यञ्जन और योग का विचार किया जाता है। एक शब्द को विचार कर दूसरे शब्द में प्रवृत्त होना शब्द संक्रमण है। एक योग को छोड़कर दूसरे योग में प्रवृत्त होना, काम योग से वचन योग मे, वचन योग से मनोयोग में प्रवृत्त होना योग संक्रमण है। एक पदार्थ को विचार कर उसे छोड़ दूसरे पदार्थ मे विचार का जाना अर्थ संक्रमण है।

इसमे श्रत ज्ञान का आधार लेकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से जड़-चेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त, उत्पाद् व्यय, पर्याय द्रव्यो का चिन्तन-मनन किया जाता है।

(२) एकत्व वितर्क—कोई शुक्ल ध्यानी मुनि-आत्मा तीनों योगों में से एक ही योग पर अटल रहकर चिन्तन-मनन करता है। पर्याय रूप-अर्थ अभेद बुद्धि द्वारा एकत्व विचार करता है। इसमें संक्रमण का अभाव होता है।

इस ध्यान मे मोहनीय कर्म का क्षय होने से चार घातिया कर्मो का सर्वथा क्षय हो जाता है। पूर्ण अतिशयों के सहित केवल ज्ञान-ब्रह्म ज्ञान प्रकट होता है। जीव आत्मा अरिहन्त पद प्राप्त करता है।

(३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती—यह ध्यान सयोगी केवली भगवान् को

होता है जो कि तेरहवें गुण स्थान के स्वामी होते हैं। वे सर्वज्ञ प्रभु जब मन-वच-काया सम्बन्धी स्थूल योगों को सूक्ष्म योग द्वारा रोक देते है तो सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान कहलाता है।

इस योग में शरीर की श्वास-उच्छ्वासों की सूक्ष्म क्रिया ही रह जाती है। उसमें से पतन होने की सम्भावना नहीं है।

(४) **समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति**—जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी वन्द हो जाती है और आत्म प्रदेश सर्वथा निष्कम्प हो जाते हैं तब यह समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह है कि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक कायिक क्रिया ही नहीं होती, सभी क्रियाओं का अभाव हो जाता है। यह स्थिति बाद में जाती ही नहीं। इसमें शेष नाम कर्म, गोत्र कर्म, वेदनीय कर्म आयुष कर्म नामक अघाति कर्म सर्वथा नष्ट होकर परम पद मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा सदैव के लिए अजर-अमर, सिद्ध, बुद्ध पद का अधिकारी बन जाता है। भव भ्रमण का सर्वथा अभाव हो जाता है।

पहिले के दो शुक्ल ध्यानों में श्रुत का अवलम्बन लेना होता है। अन्तिम के दो शुक्ल ध्यानों में श्रुत ज्ञान का आलम्बन नहीं होता। अतः यह दोनों अनालम्बन कहलाते हैं।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण

(१) **विवेक**—परिणाम विशुद्ध-पवित्रता रखना। संयम, तप, त्याग, नियम, व्रत, पच्चक्खान आदि में ढील न होने देना। उत्कृष्ट चारित्र धर्म का पालन करना।

(२) **व्युत्सर्ग**—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करना, राग-द्वेष क्षय करके सद्गुणों की सर्चलाईट पैदा करना।

(३) **अवस्थित**—आत्मा की अनन्त शक्ति का विकास करना, मन, वचन, काया तीनों को मेरू सम अडोल रखना।

(४) **अमोह**—सांसारिक बन्धनों का सर्वथा त्याग करना। उसमें मोह बुद्धि न रखना। मोह रूपी पाप कर्मों का नाश करना।

शुक्ल ध्यान के चार आधार :—

(१) **खंति**—शान्तिशील। समता भाव रखना। अपनी विचार धारा में कभी भी वैर-भाव न आने देना। मन को शान्त-दान्त बनाना।

(२) **मुत्ति**—मुक्ति-निर्लोभता। इन्द्रियों के विषयों में न फँसना, विषय भोग, तृष्णा, लोभ का त्याग करना।

(३) **अज्जव**—स्वभाव में सरलता लाना। निष्कपट वृत्ति धारण करना।

(४) **मद्दव**—विनयशील होना। निराभिमानता होना। रंच-मात्र भी अहकार की भावना न होना।

शुक्ल ध्यान में– यह शरीर अशुभ और अशुचियुक्त है। संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव आत्मा अनन्त-अनन्त पुद्‌गल परावर्तन कर चुका है। यह जगत् अस्थिर है, विनश्वर है इस प्रकार की भावनाओं का सदा चिन्तन करना चाहिये।

ध्यान के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य—

जैनागम मे शारीरिक सघटना छह प्रकार की कही गई है—

(१) वज्रऋषभ नाराच सहनन,
(२) ऋषभ नाराच संहनन,
(३) नाराच संहनन,
(४) अर्ध नाराच संहनन,
(५) कीलिका संहनन,
(६) सेवार्त संहनन।

इन छह संहनन मे प्रथम तीन ही उत्तम गिने गये है। और जो उत्तम संहनन वाला होगा वही ध्यान की भली-भाँति साधना कर सकता है।

शुक्ल ध्यान–अवस्था प्राप्ति हेतु चित्त की पूर्ण स्थिरता, आत्मा की अपरिमित-शक्ति, वज्र ऋषभ नाराच संहनन तथा अत्यन्त दृढ़ वैराग्य भाव होना चाहिए। इस पंच युग में इन साधनों का अभाव है एवं जब तक ये साधन प्राप्त न हों तब तक आगामी काल मे प्राप्त करने की इच्छा रखते हुये शुक्ल ध्यान की भावना चिन्तन करनी चाहिये।

छद्‌मस्थ के लिए ध्यान सम्बन्धी काल-मर्यादा अन्तर्मुहूर्त की ही कही गई है। क्योंकि शारीरिक एवं मानसिक बल परिमित होने के

कारण से अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक एक विषय पर मन की धारा को एकाग्र बनाये रखना कठिन है।

श्वास-उच्छ्वास को रोकना ध्यान नहीं अपितु मन की अन्तःकरण की वृत्ति को एक विषय पर एकाग्र करना ध्यान है।

ध्यान के आराधना काल में एक अखण्ड द्रव्य आधार रूप नहीं होता अपितु किसी एक द्रव्य की कोई न कोई एक पर्याय ही आधार रूप हुआ करती है। क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व रूप आश्रय उससे किसी न किसी गुण रूप पर्याय के रूप हुआ करता है। जिसमें मनोयोग पूर्वक एकाग्रता से चिन्तन-मनन करना होता है।

गुण स्थान की दृष्टि से तेरहवें और चौदहवे गुण स्थानों में मोह का अत्यन्त क्षय हो जाने से एवं केवल ज्ञान, केवल दर्शन के उत्पन्न होने से चित्त की अस्थिरता सर्वथा नष्ट हो जाती है। कोई विचारणीय वस्तु-विषय भी अविशेष नहीं रहता। आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है।

आध्यात्मिक गुणों के विकास-मोक्ष की प्राप्ति के लिए ध्यान की साधना ही प्रमुख तथा सर्वोत्तम साधन है।

हे प्राणी ! तू अपने चित्त को वश में कर। क्योंकि यही एक महान् हज है। अपने चित्त को वश में करना तो हजार हजों से भी बेहतर है।

●

काया कसूं कमांण ज्यूं, पंच तत्त करि बांण।
मारौं तो मन मृग कौं, नहीं तो मिथ्या जांण॥

—कबीर

●

रहस्य-साधना :

ध्यान का रहस्य

● श्री सूरजचन्द शाह सत्य प्रेमी (डाँगीजी)

जैसे नमस्कार मन्त्र में चौदह पूर्व के सम्पूर्ण ज्ञान का सारांश समाविष्ट है उसी प्रकार "चतुर्विंशति स्तव" में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का सम्पूर्ण रहस्य सन्निहित है। कायोत्सर्ग और ध्यान इसी पाठ के द्वारा किया जाता है जो बारह प्रकार के तपों मे सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकृत है।

"ज्ञानात ध्यानं विशिष्यते"

ज्ञान की अपेक्षा ध्यान में विशेपता बतलाई गई है। ध्यान के द्वारा ही ज्ञान की पुष्टि होती है और ज्ञान-ध्यान के दृढ़ अपरोक्ष अनुभव से सिद्धि प्राप्त होती है। आइये, अब विचार करे कि किस प्रकार इस दूसरे आवश्यक साधन में ध्यान का सार सर्वस्व है।

वस्तुत: ज्ञान-दर्शन तो उपयोग रूप होने से जीव में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। आचार्य उमास्वामी ने तो जीव का लक्षण ही 'उपयोग' किया है।

"उपयोगो लक्षणम्" (तत्वार्थ २)

परन्तु ध्यान सम्यक् हुए बिना ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग शुद्ध नही हो सकता। ध्यान से ही ज्ञान-दर्शन प्रकट होता है। आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान मे अधिकांश प्राणी फँसे हुए हैं, वे क्रमश: शुक्ल ध्यान और धर्म ध्यान से ही भान में आ सकते हैं। धर्म ध्यान से रौद्रध्यान नष्ट होता है और शुक्ल ध्यान से आर्त ध्यान निर्मूल हो जाता है। इस बात को तनिक विचार पूर्वक समझे।

तीर्थंकर प्रभु ने प्रत्येक ध्यान के चार प्रकार बतलाये हैं। आर्तध्यान से प्राणी निर्वलता के कारण कनिष्ठ बन जाता है और दु:ख के प्रसंग में रोने लग जाता है। यह नादानों का ध्यान है। रौद्रध्यान में प्राणी दुर्वलता

(दुष्ट बल वाले भी कमजोर ही हैं) के कारण दुष्ट बनकर दुःख के प्रसंग पर दूसरों को रुलाने की शैतानियत भरी प्रवृत्ति करता हैं। धर्म ध्यान में मनुष्य दुःखियों के दुःख को सहानुभूति पूर्वक दूर करने का प्रयत्न करना है यही श्रेष्ठता है जो इन्सानियत का शृंगार है। शुक्ल ध्यान में निरन्तर शान्त होने से हर हालत में हर जगह समान रूप से सर्वथा शान्त रहता है इसी को परमेष्ठ भगवान का ध्यान कहा जाता है।

इन चारों ध्यानों के चार-चार रूप हैं। इन पर मनन करने के लिये 'तत्व-तात्पर्य' की कुछ पीयूष दुहन छन्द-पंक्तियों पर दृष्टि पात करें।

(१)

हिंसा की आज्ञा नहीं, प्रथम धर्म का ध्यान।
असत्य का फल दुःख है, यह विपाक पहचान।।
यह विपाक पहचान, अपाय अदत्त है।
विषय भाव ही, भव संस्थान प्रसक्त है।।
धर्म ध्यान से रौद्र ध्यान सब छोड़ दें।
'सूर्यचन्द्र' मन आर्त-ध्यान से मोड़ दें।।

पहले हम यह विचार करे कि धर्म ध्यान के चार पायों से रौद्रध्यान के चार पायों को कैसे तोड़ सकते हैं।

आगमों का उल्लेख है कि रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं—हिंसानुबन्धी, असत्यानुबन्धी, अदत्तानुबन्धी और विषयानुबन्धी। रौद्रध्यानी व्यक्ति, हिंसा, झूठ, चोरी और विषय-सेवन का ध्यान बनाता है इसलिये धर्म ध्यान के चार प्रकारों से इन चार भेदों को निर्मूल कर देना चाहिये तभी शुक्ल ध्यान की पात्रता बनती है। धर्म ध्यान के चार प्रकार है—१. आज्ञा विचय, २. अपाय विचय, ३. विपाक विचाय और ४. संस्थान-विचय। अर्थात् भगवान् की आज्ञा है—इसका विचार कर—"नाइवाएज्ज किंचरो, "मा हिंस्यात् सर्व भूतानि," Thou Shall not kill,"

"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा"

इन महावाक्यों का स्मरण कर निश्चय कर लेना चाहिये कि जो मारता है वह मरता है। केवल सिद्ध ही अमर हैं। हमें "लोगस्स उज्जोयगरे" लोक के अग्रभाग पर पहुँचकर ज्योति से ज्योति ,मिलाना

चाहिये तभी अमर हो सकते हैं। इस प्रकार आज्ञा का विचार करके प्रथम धर्म ध्यान से प्रथम रौद्रध्यान हिंसानुबन्धी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे असत्यानबन्धी ध्यान वाले को कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं, ऐसा विपाक विचय करके असत्य का परित्याग कर देना चाहिये।

तीसरे अदत्तानुबन्धी रौद्रध्यान के लिये अपाय विचार करके यह निर्णय कर लेना चाहिये कि चोरी कोई उपाय नहीं है। दुःख दूर करने के लिये यह अपाय होने से अधिक दुःखदायी है और चौथे विषयानुबन्धी रौद्रध्यान को दूर करने के लिये संस्थान विचय धर्म ध्यान श्रेयस्कर है अर्थात् लोक-संस्थान का विचार करके यह निर्णय कर लेना चाहिये कि यह भोग ही हमारी शक्तियों को खा जाते हैं। हम सिगरेट नहीं पीते। सिगरेट ही हम को पी जाती है। इस प्रकार चार रौद्रध्यान चार धर्म ध्यान से दूर कर देने चाहिये।

अब आर्तध्यान को दूर करने के लिये शुक्ल ध्यान का विवेचन किया जाता है।

(२)

इष्ट वियोग न त्रास दे, कर पृथक्त्व सविचार।
क्या अनिष्ट का योग है—एक तत्व निर्धार॥
एक तत्व निर्धार, वेदना सूक्ष्म कर।
तज निदान को व्युपरत क्रिया निवृत्ति चार॥
'सूर्यचन्द्र' यों शुक्ल ध्यान से आर्त्त हर।
सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु फल सिद्धि वर॥

आर्तध्यान का प्रथम चरण है—इष्ट वस्तु के वियोग से दु:ख। जब हम यह विचार करते है कि सभी हम से पृथक् है—शरीर के अणु-अणु भी परस्पर पृथक् हैं—आत्म के प्रदेश भी पृथक्-पृथक् हैं यह निश्चय है तो किसी को राग के द्वारा इष्ट मानना जिसके न होने से हमें त्रास हो यह मूढता है—"चन्देसु निम्मलयरा" पद पर विचार करें कि चन्द्रमा सभी ग्रह नक्षत्र ताराओं से पृथक्-पृथक् होने से किसी ब्रह्माण्ड के विलीन होने पर उसे क्या दुःख है, उसी प्रकार हम सबसे पृथक्-पृथक् है इसलिये कौन वस्तु

हमें इष्ट हो जिसके वियोग से हम रोएँ। दूसरा आर्त्तध्यान है अनिष्ट योग, उसे एकत्व वितर्क अविचार से दूर कर देना चाहिये। कौनसी ऐसी वस्तु या पदार्थ है जो दर्शन की दृष्टि से हम से पृथक रह सकता है। केवल ज्ञान से सभी द्रव्य गुण पर्याय पृथक्-पृथक् समय-समय पर परिवर्तनशील हैं और केवल दर्शन से सभी द्रव्य गुण पर्यायों में महासामान्यात्मक अखण्ड एकत्व है। अब हम किस को अनिष्ट समझें, जिसके योग से दु:ख हो।

'आइच्चेसु अहिय पयासयरा'

सूर्य से भी अधिक प्रकाशक पद से यह दूसरा चरण स्मरण होना चाहिये। फिर धीरे धीरे गम्भीर सागर की लहरों के समान क्रियाएँ सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम होती जाती हैं और सम्पूर्ण वेदना दूर हो जाती है— 'सागरवर गम्भीरा' पद से उसका ध्यान करके तीसरे वेदना नामक आर्त्त-ध्यान को दूर कर देना चाहिये। इस प्रकार चौथा "सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु" पद से निदान नामक आर्तध्यान दूर हो जाता है। जब सिद्धि को व्याकुलता उत्कंठा जागृत होती है तो अनन्त स्वर्गीय साता कामनाएँ दूर हो जाती हैं और हमें अनन्त सुख शान्ति प्राप्त हो जाती है। यहीं ध्यान की सम्पन्नता हो जाती है।

जैसे सामायिक आवश्यक में हम साधू सरीखे हो जाते हैं—"समणो इव सावयो होइ जम्हा" माँ, बाप या इन्द्र-चक्रवर्ती आवें तो भी हम खड़े नहीं होते। उसी प्रकार ध्यान में हम सिद्धों से मिल जाते हैं, इसलिये तीर्थंकर आचार्य आवें तो भी खड़े नहीं होते। कोयला जब तक आग में होता है, तब तक आग का ही काम करता है उसी प्रकार जब तक हम ध्यान में होते हैं तब तक सिद्ध स्वरूप ही हैं। शुद्ध वीतराग का मन कपूर के समान होने से उसकी राख भी नहीं बचती पर हम फिर कोयला बन जाते हैं।

जिन शासन के ध्यान में श्वास-प्रश्वास रोकने की आवश्यकता नहीं होती। योग तो आस्रव प्रवृत्ति हैं, संवर नहीं। इसीलिये भगवान् ने ध्यान के पहले आगार बतलाये हैं। उसमें श्वासोच्छवास की भी छूट है—'हुज्ज में काउसग्गो' 'अभग्गो अविराहियो' कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता, विराधना नहीं होती—काया का उत्सर्ग हो जाता है—यही ध्यान गजसुकुमाल ने किया और सिद्धि प्राप्त की।

शुक्ल ध्यान

© श्री वसंतीलाल महात्मा एम० ए०, बी० एड०

जैन धर्म विश्व के समस्त धर्मों में सबसे सरल और बाह्याडम्बर से रहित धर्म है। उसका इस मत में दृढ़ विश्वास है कि यह विश्व अनादि है। न कोई इसका नियंता है और न कोई इसका कर्त्ता है। अतः उसकी यह दृढ़ मान्यता है कि आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है। मानव अपने कर्मो द्वारा ही अपनी आत्मा को उच्च से उच्च पद पर पहुँचा सकता है। परन्तु मानव को कर्म करने की प्रेरणा उसके ध्यान से (विचारों से) प्राप्त होती है क्योंकि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही वह कार्य रूप में परिणत कर बैठता है। इसीलिये संस्कृत में एक कहावत है—

यादृशी भावना, तादृशी भवति।

अर्थात् मानव अपनी भावना (ध्यान) के अनुरूप ही बन जाता है। जो व्यक्ति जिस बात का अधिक ध्यान करेगा वह उसे प्राप्त करके ही रहेगा। जितने भी महान वैज्ञानिक हुए हैं उनका समस्त ध्यान (चिंतन) अपने उद्देश्य प्राप्ति में रहा। अतः उन्होंने उसी के अनुरूप सफलता प्राप्त की। अतः मानव जीवन में ध्यान (चिंतन) का अत्यधिक महत्त्व है। जैन धर्म ने प्रत्येक भाव का बड़ा ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। इसी आधार पर जैन धर्म में ध्यान के चार भेद बताये गये हैं जो निम्नलिखित हैं :—

१. आर्त ध्यान २. रौद्र ध्यान ३. धर्म ध्यान, ४. शुक्ल ध्यान। इनमें सबसे निकृष्ट ध्यान आर्त ध्यान है और सबसे उत्कृष्ट ध्यान शुक्ल ध्यान है। इसी शुक्ल ध्यान का विश्लेषण इस लेख का अभीष्ट है।

शुक्ल शब्द का अर्थ श्वेत, उज्ज्वल और स्वच्छ होता है। अतः शुक्ल ध्यान का शाब्दिक अर्थ है—उज्ज्वल और स्वच्छ ध्यान। इससे स्वयं स्पष्ट है कि जो मानव शुक्ल ध्यान रखता है उसकी आत्मा भी उज्ज्वल

और स्वच्छ होकर कर्मों के बन्धन को काट कर मोक्ष की ओर गमन करती है। शुक्ल ध्यान के चार पाये अर्थात् आधार स्तम्भ माने गये हैं :—

(i) **'पुहत्त वीयक्केस वीयारी'** अर्थात् वितर्क और विचार सहित। इसमें मानव प्रत्येक कार्य को वितर्क और विचार सहित करता है। यह ध्यान का प्रथम सोपान है जिसमें विचार होते हैं पर तर्क नहीं होते। इस प्रथम सोपान में मानव कार्य करने से पहले केवल विचारता ही विचारता है और कोई तर्क नहीं करता। वह यह सोचता है कि अनन्त द्रव्य रूप यह जगत् है। इसमें से एक ही द्रव्य का स्वरूप ग्रहण कर अपनी उत्पत्ति ग्रहण करता है। उत्पत्ति भी ध्रुव नहीं होकर क्षय को प्राप्ति होती है। अतः वह उत्पत्ति, क्षय और ध्रुवता के पृथक् पृथक् अर्थों पर—अर्थ से शब्द से और शब्द से अर्थ में विचार करता है।

(ii) **'एगत्तवीयक्के अवीयारी'**—वितर्क सहित और विचार रहित' यह ध्यान का दूसरा सोपान है। इसमें मानव प्रत्येक कार्य करने के उद्भासित विचार पर *तर्क-वितर्क अर्थात् लाभ-हानि, गुण-दोष, यश-अपयश* आदि पक्षों पर विचार करता है। वास्तव में जो विचार मन में उठते हैं उन पर पहले चिन्तन होता है और तत्पश्चात् मनन अर्थात् उस कार्य को करने के पहले उससे होने वाले लाभ-हानि पर तर्क-वितर्क करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इस कार्य को करना चाहिए या नहीं।

(iii) **'सुहुम किरिय अप्पडिवाइ'**—इर्याविहि क्रिया युक्त अप्रतिपाति। मनुष्य कार्य करने में चाहे कितनी ही सावधानी बरते तथापि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों को क्लेश पहुँचे विना नहीं रहता है। अतः इर्याविहि का पाठ बोलकर मिच्छामि दुक्कडं करता है अर्थात् 'मि'—मैंने विना उपयोग से 'छा'—इच्छा विना पाप लगा 'मि'—मैं मेरी आत्मा को 'दु'—दुगछता हूँ कि 'क्क' किया हुआ पाप 'डं'—नाश होवे अर्थात् मैं पश्चाताप युक्त कहता हूँ कि यह पाप मेरी इच्छा विना हुआ सो भी बहुत बुरा हुआ। ऐसा पश्चाताप करने से आत्मा शुद्ध होती है। यह ध्यान का तीसरा सोपान है। वास्तव में विना इच्छा के भी किये हुए पापों का प्रायश्चित करना और प्रतिदिन दोनों समय करना बहुत श्रेष्ठ है। इस प्रकार के प्रायश्चित निरन्तर करते रहने से आत्मा शुद्धातिशुद्ध होती जाती है। इसीलिए जैन धर्म में प्रातः और सायं सामायिक एवं प्रतिक्रमण करने का प्रावधान रक्खा गया है।

(iv) **'समुच्छिन्न किरिय अणियट्टि'**—सर्व क्रिया रहित मोक्षगामी। यह ध्यान का चौथा सोपान है। जिसमें मनुष्य धीरे धीरे समस्त क्रियाओं का त्याग कर अपना सम्पूर्ण चिन्तन कर्म बन्धन काटने में लगा देता है और मोक्ष प्राप्त करने की तैयारी में जुट जाता है।

जैन शास्त्रों में शुक्ल ध्यानी के चार लक्षण बताये गए हैं जिनका विवेचन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है—

१. **'विवेगा'**—विवेकी :—जैसे तिल से तेल, दूध से घी और मिट्टी से धातु पृथक् है, वैसे ही शरीर से आत्मा भी पृथक् है। तिलादि में रमा हुआ पदार्थ धाणी (कोल्हू) आदि के संयोग से अपने स्वरूप को प्राप्त होता है वैसे ही आत्मा भी ज्ञानादिक के संयोग से मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा विवेक रखना शुक्ल ध्यानी का प्रथम लक्षण है।

२. **'विउसग्ग'**—बाह्य और आभ्यन्तर संयोग से निवृत्ती—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि व्यक्ति को अपना चरित्र निर्माण करने के लिए समाज में रहना पड़ता है परन्तु वह समाज में जल-कमलवत् रहे। इसमें उसकी विशेष शोभा है। जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होता है परन्तु वह जल से ऊपर निर्लिप्त भाव से रह कर उस जल की शोभा बढ़ाता है। उसी प्रकार शुक्ल ध्यानी पुरुष भी समाज में निर्लिप्त भाव से रहकर ऐसे शुभ कर्म करे जिससे समाज की शोभा में अभिवृद्धि हो सके। इस प्रकार निर्लिप्तता शुक्ल ध्यानी का दूसरा लक्षण है।

३. **'अवट्ठे'**—अनुकूल और प्रतिकूल परिसह सम भाव सहे :—यह बात तो निश्चित सी है कि मानव जीवन में सुख-दुःख, लाभ-हानि, उत्थान-पतन, यश-अपयश, जीवन-मरण का परिचक्र निरन्तर चलता रहता है। सदा एक जैसी परिस्थिति नहीं रहती है। अतः जो महापुरुष होते है वे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों को समान भाव से सहन करते हैं। वे अनुकूल परिस्थितियों में हर्ष-मग्न नहीं दिखाई पड़ते हैं तो प्रतिकूल परिस्थितियों में शोक-मग्न भी नहीं प्रतीत होते हैं। संस्कृत में महान पुरुषों के लक्षण बताते हुए स्पष्ट लिखा है कि—

उदेति सविता रक्त, रक्त च एवास्तमेति च।
सम्पतौ च विपत्तौ च, महताम् एक रूपता॥

और ऐसा उदाहरण भारतीय इतिहास में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का है जो राज्याभिषेक की बात सुनकर किंचित् मात्र भी प्रसन्न नहीं हुए तो राज्याभिषेक के सुप्रभात में चौदह वर्ष के वनवास की आज्ञा सुनकर किंचित मात्र भी दुःखी नहीं हुए। इसी प्रकार महावीर स्वामी भी प्रतिकूल परिस्थितियों में किंचित मात्र भी विचलित नहीं हुए। ग्वाले उनके कान में कीलें ठोक रहे हैं और वे ध्यान मग्न हैं। इसी प्रकार भयंकर सर्प पैरों में काट रहा है पर वे 'काउसग्ग' में खड़े हैं। इसी प्रकार शुक्ल ध्यानी का तीसरा लक्षण है सम भाव। वास्तव में जीवन का जितना अच्छा निर्माण संघर्षों में होता है उतना निर्माण सुविधाओं में नहीं होता। इसी शाश्वत सत्य की ओर स्व० राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'पंचवटी' में यों इंगित किया है :—

जितने कष्ट कटकों में है, जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही, यत्र तत्र सर्वत्र मिला॥

४. 'असमोह' :—मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषय पर राग-द्वेष नहीं करे। वस्तुतः वही मनुष्य उच्च पद प्राप्त करने का अधिकारी है जो राग-द्वेष से परे है। इसी राग-द्वेष से परे रहने के लिए जैन धर्म ने स्याद्वाद (अनेकांत-वाद) नामक सिद्धान्त पर बड़ा बल दिया है। इस स्याद्वाद का संक्षेप में यही सार है कि इस संसार में पूर्ण सत्य कोई नहीं है। प्रत्येक मानव अपनी-अपनी विचार धारा के अनुसार प्रत्येक जड़ या चेतन के गुण-दोषों को देखता है। अतः किसी व्यक्ति की अपने से भिन्न विचारधारा भी हो तो उससे राग द्वेष नहीं रखना चाहिए। शुक्ल ध्यानी में 'असमोह' जैसे लक्षण का होना अन्तिम शर्त है क्योंकि इसके बिना वह अपनी आत्मा का कल्याण कदापि नहीं कर सकता है।

इसके साथ ही शुक्ल ध्यानी के चार आलम्बन माने गये है, जो निम्नलिखित हैं :—

१. **खंती** (क्षमावंत)—अपराध करना मानव स्वभाव है और उसे क्षमा करना देवत्व का लक्षण माना गया है। यही कारण है कि जैन धर्म ने अपके अनुयायियों को क्षमावंत बनाने के उद्देश्य से क्षमावणी पर्व का महान आयोजन किया है।

२. **मुत्ति** (निर्लोभी)—वस्तुतः लोभ के वशीभूत होकर मानव जघन्य से जघन्य अपराध कर बैठता है। राज्य-लोभ अथवा सत्ता-लोभ

ने अनेक राजनैतिक हत्याएँ करवाई है। जैन धर्म ने मानव के इसी लोभ पर नियन्त्रण करने के लिए अपरिग्रह को सम्यक् चरित्र का अत्यावश्यक अंग माना है। जो शुक्ल ध्यानी हैं वे इस अपरिग्रह के सिद्धान्त को मानते हुए निर्लोभी बनने का पूर्ण प्रयास करते हैं।

३. अज्जव (सरलता)—जो व्यक्ति अपरिग्रही होगा वही अपना जीवन सरलता (सादगी) से व्यतीत कर सकेगा। उसे अपने ऐश्वर्य-प्रदर्शन की रुचि किंचित् मात्र भी नहीं होगी। इस दृष्टि से जब हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अपनी सादी वेश-भूषा में आधे विश्व के सम्राट जार्ज पंचम से हाथ मिलाया तो उनकी सरलता के सामने सारे साम्राज्य का वैभव फीका पड़ गया। वास्तव में आज के इस वैज्ञानिक युग के भौतिक प्रसाधनों ने मानव के लिये वे आकर्षण प्रस्तुत किये हैं कि वह आज अपने ठाटबाट एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन को व्यतीत करने हेतु अपने सभी मानवीय गुणों को ताक में रखकर अर्थोपार्जन में लग गया है। आमदनी इतनी भी नहीं है कि बाल-बच्चों का पेट भरे, परन्तु इस पीढ़ी की इच्छा है कि घर में सोफा-सेट, रेडियो, स्कूटर और अच्छे कपड़े हों। साधन सीमित हैं पर आकांक्षाएँ असीम हैं। जीवन मृग तृष्णा का शिकार बन चुका है। फलस्वरूप यह पीढी भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख होकर पतित बन बन गई है। इस पीढ़ी के लोग कार्यालयों में रिश्वत लेते हैं और व्यापार में अनुचित लाभ कमाते है। ऐसा प्रतीत होता है, इस पीढ़ी की अन्तरात्मा सो गयी है और नैतिकता का मूल्य इसके लिये कुछ नहीं है। आज जीवन में सरलता एक उपहास की वस्तु बन गई है। सादा जीवन और उच्च विचार (Simple living and high thinking) का आदर्श नगण्य हो गया है। परन्तु शुक्ल ध्यानी पुरुष के लिये तो यह एक अपरिहार्य आलम्बन माना गया है।

४. मद्दव (निर्भिमानता) :—वास्तव में सारे पापों और दोषों की जड़ अभिमान को ही माना गया है। महा कवि सन्त तुलसीदास जी ने तो स्पष्ट शब्दों में उद्‌घोषित किया है :—

> दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान ।।

अतः शुक्ल ध्यानी पुरुष के लिये तो निर्भिमानी होना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्त में शुक्ल ध्यान के अन्तर्गत शुक्ल ध्यानी की निम्नलिखित चार अनुप्रेक्षाओं का विवेचन करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा :—

१. आवायाणुप्पेहा :—ये पांचों ही आश्रव—१—हिंसा, २—झूठ, ३—चोरी, ४—मैथुन, ५—परिग्रह अनर्थ के मूल हैं, जीव को दुःखदायक हैं। इनके त्याग से और सम्यक् चरित्र के पाँचों तत्वों :—१—अहिंसा, २—सत्य, ३—अस्तेय, ४—ब्रह्मचर्य और ५—अपरिग्रह को ग्रहण कर जीवन में उतारने से ही जीव सुखी हो सकता है।

२. अशुभाणुप्पेहा :—इस जगत में जितने पुद्गलमय दृश्य पदार्थ है, वे समस्त अशुभ हैं। इनका सग छोड़ने से ही सुख को प्राप्ति होना सम्भव है।

३. अनन्त वित्तीयाणुप्पेहा :—इस जीव ने अनन्त काल से अनन्त पुद्गल परावर्तन कर अनन्त भवों की श्रेणी का पुंज कमाया है। इस परावर्तन को छोड़ने पर ही यह जीव सुखी हो सकता है।

४. विपरिमाणूप्पेहा :— जैसे संध्या (फूली हुई सांझ), इन्द्र धनुष, पत्ते पर स्थित जल बिन्दु अति सुन्दर दीखते-दीखते क्षण भर में नष्ट हो जाते है, वैसे ही इस जगत में स्त्री-पुरुष का जोड़ा, वस्त्राभूषण का चमत्कार, सम्पति-सन्तति का संयोग देखते-देखते क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। फिर इन सब की क्या इच्छा करना? ऐसे ध्यान (विचार) से ही सुखी बना जा सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान मानव को विवेकी, निर्लिप्त, सम-भावी, वीतरागी, क्षमावंत, निर्लोभी, सादा, और निर्भिमानी बनने की प्रेरणा देता हुआ निम्नलिखित चार उत्कृष्ट अनुप्रेक्षाएँ (विचार) देता है :—

१. हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अनर्थ के मूल हैं।
२. पुद्गल द्रव्य ही अशुभकर्त्ता हैं।
३. आत्मा ने अनन्त पुद्गल परावर्तन किये है।
४. समस्त सुन्दर पुद्गल क्षण भंगुर है।

व्यावहारिक :

ध्यान और आनन्द की भूमिका

● पं० उदय जैन, धर्मशास्त्री

ध्यान और आनन्द शब्द इतने व्यवहृत हैं कि इनके पारिभाषिक रूप आगमज्ञों और शास्त्रवेत्ताओं के लिए ही उपयोगी रह गए है। आप जिधर दृष्टि डालेंगे उधर ध्यान और आनन्द के अनेक रूप दृष्टिगत होंगे। अनेक कृत्यों और कार्यों की सिद्धि ध्यान और आनन्द शब्दों के साथ जुड़ी हुई है। यथार्थ में ध्यान, आनन्द की भूमिका प्रत्येक क्षेत्र में निभाता है। इसीलिए आज में ध्यान और आनन्द की भूमिका के विषय में कुछ लिखूँगा।

ध्यान और आनन्द शब्द जैसे लोकोत्तर कार्यों में धर्म के साथ जुड़े हुए है वैसे ही लौकिक कार्यों में व्यवहार के साथ दिखाई देते हैं। ध्यान सदा आनन्द की भूमि निभाता आया है, निभाता रहेगा और निभाता रहता है। तीनों काल और तीनों लोक में ध्यान सदा आत्मोत्कर्ष में, आत्मानन्द और व्यावहारिक उन्नति में लौकिक आनन्द कराता रहता है। वास्तव में ध्यान, आनन्द की भूमिका रूप में अवतरित हुआ है। ध्यान से सभी आनन्दों का अनुभव होता है।

ध्यान :

ध्यान की व्याख्या करना परम्परागत प्रणाली को निभाना मात्र है। ध्यान का व्यवहार ही उसकी सही व्याख्या है। यों शास्त्रकार चित्त की एकाग्रता और काया के उत्सर्ग को ध्यान कहते है और विद्वानगण मस्तिष्क की एकाग्रता में ध्यान का अवलम्बन लेते हैं। ध्यान, लगन और तल्लीनता में भी पाया जाता है। किसी कार्य की पूर्ति एवं सिद्धि में ध्यान की आवश्यकता है "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्" जैन शास्त्र की व्याख्या है।

ध्यान से काम करने पर सफलता मिलती है। ध्यान से चलने पर छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। ध्यान से सँभाल रखने पर दुश्मन लाभ नहीं उठाता। ध्यान से युद्ध करने पर विजय प्राप्ति होती है। ध्यान से सुनने पर वस्तु स्थिति का सही ज्ञान होता है। ध्यान से लिखने पर विचार सही तौर पर लिखे जाते हैं और उनमें त्रुटि नहीं रहती। ध्यान से खेलने पर अंग-भंग नहीं होता और बाजी मार लेता है। ध्यान से खाने में जीव जंतुओं का खाद्य सामग्री में पतन नहीं होता और खाना सुपाच्य होता है। ध्यान से बढ़ने पर प्रगति होती है। ध्यान से उठने, बैठने और खड़े होने पर शारीरिक हानि से बचाव होता है। ध्यान से व्यवहार करने पर शिष्टाचार बढ़ता है। ध्यान से दर्शन, मिलन और वार्तालाप करने पर प्रेम की वृद्धि होती है। इस तरह मस्तिष्क की स्थिर प्रक्रिया—ध्यान से पग-पग पर श्रेय और प्रेय की उपलब्धि होती है। इन उपलब्धियों में ही आनन्द की अनुभूति होती रहती है।

आनन्द :

आत्मा के ज्ञान गुण की उपलब्धि आनन्द की प्राप्ति है। अन्तराय कर्म से उद्भुत दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उप भोगान्तराय और वीर्यान्तराय का एकदम नाश होकर बल की प्राप्ति होती है और इस बल में वेदनीय कर्म के क्षय होने पर आनन्द की उपलब्धि होती है अतः शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा के निज गुणों की प्राप्ति ही आनन्द है। सुख और दुःख का एकान्त नाश ही आनन्द है। यह आनन्द अखण्ड होता है और अविनाशी कहलाता है।

सांसारिक सुखों का अनुभव भी आनन्द कहलाता है। व्यावहारिक उपलब्धियों में भी आनन्द का अनुभव होता है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति ही आनन्द है। इच्छित कार्य की सिद्धि से जो अनुभूति होती है, वही आनन्द है। इसको शास्त्रकार क्षणिक और दुःख मिश्रित मानते हैं। लौकिक कृत्यों से अथवा जड़-चेतन के मिश्रित संक्रमण, परिक्रमण और उत्क्रमण से उत्पन्न आनन्द, आनन्दाभास कहलाता है।

हवाई जहाज से गगन में, जल जहाज से सागर में और रेल, कार आदि यानों से पृथ्वी में भ्रमण करने में बड़ा आनन्द आता है। कवि सम्मेलन में बड़े आनन्द की अनुभूति हुई। गणतंत्र महोत्सव बड़ा आनन्द-कारी रहा। उद्यान, तालाब, सरिता वन, प्रासाद और नाट्यशाला बड़े

आनन्ददायक हैं। सांस्कृतिक नृत्य और अन्य प्रदर्शन बड़े आनन्दकारी रहे। तैरने में, खेलने में, लड़ने में, कार्य करने में और संवाद में बड़ा आनन्द आया। लड्डू, जलेबी, गुलाब जामुन, इमरती, रसगुल्ला आदि मिष्ठान भोज बड़ा आनन्ददायक है। फूलों की शय्या, विद्युत् से प्रकाशित और व्यवस्थित गृह, वातानुकूल बैठक तथा पहनने के कपड़े बड़े आनन्ददायक हैं। आपका और हमारा मिलन बड़ा आनन्दकारी रहा।

ध्यान और आनन्द की सामान्य व्यावहारिक व्याख्या की जानकारी के बाद सहज अनुभव होता है कि ध्यान और आनन्द दुनियाँ के सहोदर हैं। एक से दूसरे का आत्यंतिक सम्बन्ध है। एक से दूसरे की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर ध्यान सदा आनन्द की अनुभूति कराता ही रहता है। अतः ध्यान आनन्द की भूमिका निभाने में सदा तत्पर है।

आत्मिक पक्ष में ध्यान की भूमिका :

जैन शास्त्रकार ध्यान के ४ प्रकार बताते हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। प्रथम दो ध्यान आत्मिक गुणों का हनन करने वाले आनन्दाभास और दुःख को वरण करने वाले हैं। चिन्ता, उद्वेग, अनिष्ट चिन्तन और दुःखोत्पादक व्यथा में ग्रसित होना आर्त्त ध्यान कहलाता है। भयानक कृत्यों का चितन, भयंकर स्थिति की उपस्थिति में विरोधी पक्ष का क्रूरता पूर्वक दमन करने का विचार करना तथा बीभत्स काण्ड जैसी प्रवृत्ति की निरन्तर विचारणा करना रौद्र ध्यान है। इन दोनों ध्यानों से आत्मा स्व और पर का अनिष्ट करता है। निम्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है तथा इन ध्यानों से आत्मा का पतन होता है। लेकिन इनमें भी खुद को हर्ष का अनुभव होता है। इसे आनन्दाभास कहते हैं। दुनिया इसको आनन्द की परिभाषा में रखती है।

हमें परमार्थ पक्ष को ग्रहण कर चलना है। इसमें धर्म और शुक्ल ध्यान आते हैं। धर्म-ध्यान में संसार से विराग भाव, निर्वेदभाव और सही अनुकंपा का प्रकट होना आवश्यक है। हमारा व्यवहार, सामायिक करना, माला फेरना, पौषध करना, भजन करना, जप करना, तप करना और अन्य प्रकार की धर्म क्रियाएँ करने को भी धर्म ध्यान कहते हैं। धर्म ध्यान की भूमिकाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) आत्मा को उत्कृष्ट बनाना या आत्मा का उत्कर्ष करना :

ध्यान के लिए आवश्यक है कि वह किसी विशेष चिन्तन का सहारा ले। इस चिन्तन में आत्मिक भूमिका निभाने के लिए आत्मा का चिन्तन करना आवश्यक होता है। जब हमें मालूम हो जाय "शरीरतः कर्तुमनन्त शक्ति विभिन्नमात्मा" शरीर से भिन्न अनन्त शक्ति वाला आत्मा है। जो सुख दुःख का व हानि-लाभ का वेदक होते हुए भी शरीर से भिन्न है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतनपुञ्ज है। हमारा संसारी आत्मा कर्मरज से मैला बना हुआ है। उसे प्रकाश में लाना, उस ओर गति करना है। जब आत्मा की विभिन्नता का ज्ञान परिपक्व हो जाता है तो श्रद्धा से पूर्ण आत्मा अपनी उन्नति करने को अग्रसर होता है। यही उसका प्रथम सोपान है। इस उन्नति के लिए ध्यान का अवलम्बन आवश्यक है। आत्मा की उन्नति के लिए ध्यान में प्रभु प्रार्थना, मुक्त एवं पूर्ण आत्माओं के गुणगान करना और आत्मिक गुणों—सत्य संयमादि पर विचार करना यह धर्म ध्यान का प्रथम चरण है और आत्मा की उन्नति का एक प्रशस्त मार्ग है।

(२) प्रायश्चित्त करना :

यह ध्यान की दूसरी भूमिका है। आत्मा को लगे दोषों से मुक्त करना परमावश्यक है। ध्यान में अपनी जीवन की या प्रतिदिन अथवा प्रति पक्ष की भूलों को चितारना, उन पर लक्ष्य कर उनकी विवेचना करना, भूलों के कारणों को ढूँढना और दूर होने के लिए मनको दृढ़ीभूत करने का संकल्प करना ध्यान की दूसरी भूमिका है। अपराधों की स्वीकृति और उसके लिए पछतावा प्रायश्चित का अर्द्धाङ्ग है और दंड रूप में ध्यान, स्वाध्याय और चिन्तन पूर्णाङ्ग है। ध्यान में भले-बुरे सभी कामों का स्मरण होता है लेकिन बुरे कार्यों को त्याज्य दृष्टि से स्मरण कर चिन्तन करना तथा भले कार्यों को ग्राह्य दृष्टि से स्मरण कर चिन्तन करना इस दूसरी भूमिका के धर्म ध्यान का स्वरूप है। चिन्तना की एक ही वस्तु है, वह है 'प्रायश्चित'।

(३) आत्मा की विशेष शुद्धि करना :

आत्मा की विशेष शुद्धि करना प्रायश्चित के बाद की भूमिका है। जब गलती का स्वीकरण हो जाता है और चिन्तन पूर्वक बचने का संकल्प कर लिया जाता है तो आत्मा की विशेष शुद्धि की ओर गति होती है।

प्रायश्चित के बाद भी पापो का पुञ्ज आत्मा से पृथक नही हो पाता तब आत्मा की विशेष शुद्धि पर बल देने के लिए चिन्तन किया जाता है। इसमे आत्मिक कर्म-मल को धोने के लिये, तप सम्बन्धी क्रियाओ पर विचार चलता है। ध्यान स्वय एक प्रकार का आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) तप है। इसे आत्मा की विशेष शुद्धि हित आचरना, यही तृतीय भूमि का भावार्थ है। तल्लीनता और शरीर पर से पृथकत्व भाव अथवा काया का उत्सर्ग करने का चिन्तन भी जुडा हुआ है। आत्मा की विशुद्धावस्था के लिये ध्यान और व्युत्सर्ग दोनो परमावश्यक है और इनका चिन्तन-मनन करना इसकी भूमिका बनाना है।

४ पाप कर्मो का नाश करना :

आत्मा की विशेष शुद्धि के बाद पाप कर्मो का नाश करने का प्रबल पुरुपार्थ पैदा करना और पुरुपार्थ वृद्धि के लिए चिन्तन करना चौथी ध्यान की भूमिका है। यह अन्तिम भूमिका है। इससे आत्मिक चेतना जागृत हो जाती है और वह पाप कर्मो का नाश करने के लिए तत्पर हो जाती है।

आत्मोन्नति के लिये उपर्युक्त चारो भूमिकाएँ ध्यान से जुडी हुई हैं। ध्यान करने के हेतु भी यही हैं। इन हेतुओ से ध्यान किया जाता है और ये चारो हेतु ही ध्यान की चार भूमिकाएँ है। इन चारो भूमिकाओ के बिना किया हुआ ध्यान शून्य है। उससे कोई सार्थकता नही। ध्यान तो सदैव सभी कार्यो मे किया जाता है या दिया जाता है, लेकिन आत्मा की प्रगति के लिए और आत्म-पक्ष को प्रबल बनाने हित चारो भूमिकाओ का अवलम्बन आवश्यक है। जब तक चारो भूमिकाएँ ठीक नही बन पाती, ध्यान नही हो पाता और ध्यान की सार्थकता (आत्मिक पक्ष से) नही हो पाती।

ध्यान करने की अवस्थाएँ भी ध्यान की ऊपरी भूमिकाएँ है। वे बाहरी दृश्य रूप होती है, फिर भी उनका अवलम्बन लिये बिना ध्यानस्थ नही हो पाते। वे तीन है :—

१ एक स्थान को स्थिर होना :

ध्यान करने के लिये स्थान बदलना और चल-विचल होना अथवा शरीर को जहाँ-तहाँ फैलाना आदि क्रियाओ को रोकना परमावश्यक है।

एक जगह तय कर उसी जगह शरीर को स्थिर करना आवश्यक है। यह पृथक् भूमिका धारण किये बिना मन चिन्तन की ओर बढ़ नहीं पाता और मन चंचल होने से ध्यान नहीं हो पाता। शरीर की चंचलता को रोकना ही प्रथम भूमिका तैयार करना है।

२. मौन धारण करना :

शरीर के चल-विचल होने की क्रिया को रोकने के बाद वचन की क्रियाओं को रोकना परमावश्यक है। बोलना बिल्कुल बन्द करना पड़ता है। चिन्तन और भाषण दोनों साथ नहीं चलते। वाचा को नियन्त्रित करने के लिये मौन का अवलम्बन लेना दूसरी भूमिका निभाना है। मौन ध्यान की दूसरी सीढ़ी है। जिस पर चढ़ कर आगे बढ़ा जा सकता है। इसके बिना ध्यान जम नहीं पाता। संसारी व पारलौकिक दोनों पक्षों में वाचा का नियन्त्रण ही ध्यान का आगमन है। मौन मानस-मन्दिर की आत्मा-प्रतिमा को जागृत करने का घण्टा-निनाद है। मौन बाह्य जागृति से आभ्यन्तर जागृति की ओर बढ़ने का बाह्यावलम्बन है। इस सहारे से शीघ्र ध्यान की ओर गति हो जाती है। वाचा के क्रिया-कलापों को रोकने का तात्पर्य यह है कि वह शरीर से तो स्थिर होकर बैठ या खड़ा हो गया लेकिन वाचा से दूसरों को भी चल-विचल नहीं कर सकता। वाचा स्थिर होने से अन्य बाधक तत्त्व दूर हो जाते हैं। स्वस्थिरता के साथ आसपास के वातावरण की स्थिरता के लिए मौन अत्यन्तावश्यक है।

३. ध्यान जैसी शरीर की स्थिति बनाना :

ध्यान करने में परकीय बाधा रुक जाने पर हमें आँख, कान और नाक तथा शरीर त्वचा से स्पर्श होने वाले दृश्य, श्रवण तत्त्व (श्राव्य), गन्ध तत्त्व और स्पर्शजन्य अन्य अनुभवों को रोकना भी परमावश्यक है। जब तक बाह्य दृश्य, श्राव्य, गन्ध और स्पर्शज तत्त्व हमें बाधा पहुँचाते या अपनी ओर खींचते रहेंगे, ध्यानस्थावस्था बन नहीं पायगी। ध्यान जैसी परिस्थिति पैदा करना ही तृतीय भूमिकारोहण है। शरीर की अन्य सभी प्रक्रियाओं को रोकना इसका कार्य है। जिस वस्तु का हम चिन्तन चाहते हैं। अच्छे-बुरे दृश्यों के सामने आने से चिन्तन नहीं हो पाता। अच्छे-बुरे गायन या शब्द सुनने को मिलते रहे तब तक मन स्थिर नहीं हो पाता और चिन्तन आगे बढ़ नहीं पाता। सुगन्ध और दुर्गन्ध के वातावरण मन को चंचल बनाये रखता ही है। शीत-उष्ण, हल्का-

भारी, रुक्ष-चिकना अथवा स्वादजन्य स्पर्श चिन्तन को बिखेर देते हैं। अतएव ध्यान जैसी स्थिति बनाने के लिये इन्हें ज्ञान शून्य करना पड़ता है तथा दृष्टि नाक के अग्र भाग पर लगानी पड़ती है अथवा आँख बन्द करनी पड़ती है। खड़े होकर या बैठ कर जिस आसन को ध्यानी पसन्द करे उसी आसन में ध्यान समाप्ति तक लगा रहे। यह भी ध्यान करने की शरीर की स्थिति बनाना है। एकासन आवश्यक है। एकासन से किया ध्यान सफल होता है। अतः उपर्युक्त सभी प्रक्रियाओं को करने से ध्यान जैसी मुद्रा बन जाती है। ध्यान की मुद्रा बनाना ही अन्तिम भूमिका है।

शुक्ल ध्यान की चार प्रक्रियाएँ हैं। वे १३ वें, १४ वे गुणस्थान-वर्ती हैं। (१) द्रव्य गुण पर्याय की जुदाई होना, (२) आत्म द्रव्य में विकार रहित सुख का अनुभव, (३) मन, वचन, काय योग को रोकने की प्रवृत्ति और (४) अनन्त ज्ञान सुख का अनुभव। ये चारों प्रक्रियाएँ ध्यान करने की नहीं होने से इनका वर्णन नहीं किया जाता है। ये चारों प्रक्रियायें पूर्णात्मानुभव प्राप्ति के बाद की हैं जो स्वयं होती हैं। आनन्द की अनुभूति रूप ही हैं। शुक्ल ध्यान स्वयं आत्मा का गुण ही है। अनन्त आनन्द में भी शुक्ल ध्यान वर्तमान है।

१. अपूर्वकरण :

आत्मा मिथ्यात्व गुण स्थान छोड़ते-छोड़ते एक आनन्द की स्थिति का अनुभव करता है। उसे अपूर्वकरण कहते हैं। अनन्त वर्षों से आत्मा मिथ्यात्व मोह के चक्कर में फँसा हुआ था और यथा प्रवृत्ति-करण द्वारा मार खाते-खाते नदी के पाषाण जैसे आत्मा के अनुकूल स्थिति प्राप्त कर सम्यक् ज्ञान एवं दर्शन की एक अनन्तवी सूक्ष्म किरण प्राप्त करता है, अनन्त संसार परिभ्रमण को सीमित कर लेता है। ऐसी स्थिति में मन्द किन्तु वास्तविक सुख की अनुभूति होती है। उसे आनन्द की प्रथम भूमिका के रूप में लिया जा सकता है। प्रबुद्ध ज्ञानी इस स्थिति के बाद आत्मा का क्रमिक विकास प्रारम्भ होना मानते हैं। मानव यों भी साधारणतया विकास की ओर अग्रसर होता है। उसको सामान्य लेकिन अपूर्व आनन्द का भास मिलता है। इसी तरह यह अपूर्वकरण आनन्द का प्रथम सोपान है।

२. सम्यक्त्व की प्राप्ति :

अपूर्वकरण के बाद आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त करता है। उस समय आत्मिक आनन्द की दूसरी भूमिका तैयार होती है। इसे चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा पाते हैं। सम्यग्दर्शन से आत्मा में आनन्द की स्वच्छ किरण भासित होती है और आत्मिक विकास के लिए अपने आपको तैयार पाता है। सही स्थिति को समझ लेना अत्यन्त आनन्द का विषय होता है। उसी तरह आत्मा सम्यग्मार्ग को ग्रहण करने पर आभ्यन्तर आनन्द का अनुभव करता है। भूला हुआ पथिक यदि सही मार्ग का ज्ञान पाकर विश्वास पा जाता है तो उसे कितना आनन्दानुभव होता है? वही आनन्दानुभव आत्मिक चेतना जागृत होने से जीव को होता है। इसे हम आनन्द की दूसरी भूमिका कहते हैं। इसके आगे सहज भाव से चारित्र की ओर आत्मा गति करता है।

३. विरत भाव की प्राप्ति :

जब आत्मा अपनी और परायी स्थिति का अर्थात् जड़ चेतन अथवा नवतत्त्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर श्रद्धान कर लेता है तब उसे आत्मिक विकास के लिए संसार से विरत भाव पैदा होते हैं अर्थात् वह मोहनीय कर्म को ध्वंस करने हेतु चारित्र मोह पर प्रहार करता है। देश-व्रत और महाव्रत अंगीकार करता है। यहाँ से दो मार्ग होते हैं। देश-व्रत पाल लेने के बाद महाव्रती बनता है या सीधा महाव्रती बनता है। यों शास्त्रकार ने पंचम और षष्ठ गुणस्थान अनुक्रम से बताये हैं लेकिन विरत भाव आने के बाद वह चारित्र धर्म को स्वीकार करने के लिये स्वतन्त्र है। आत्मा चाहे तो दीक्षा व्रत धारण कर महाव्रती बने और चाहे तो देशव्रती बनकर आगे श्रावक धर्म पालते हुये भी अन्तरात्मा से महाव्रती बन जाय। अन्य तरह से श्रावक व्रत पूर्ण करने पर दीक्षा व्रत लेकर श्रमण धर्म को स्वीकार कर आत्मा के विकास की ओर बढ़े। जब आत्मा चारित्र की ओर बढ़ता है तब उसे अतीव आनन्द का अनुभव होता है। वह समझता है अब मैं शीघ्र इष्ट स्थान को पा जाऊँगा। इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये वह त्याग मार्ग हँस कर स्वीकार करता है। उसे बड़े आनन्द का अनुभव होता है कि मैं इस संसार से अब शीघ्र पार होकर सच्चिदानन्द को पा जाऊँगा। जैसे कोई यात्री गन्तव्य स्थान

को जाने के लिये पुरुषार्थ करने में आनन्द का अनुभव करता है, उसी तरह आत्मिक आनन्द को पाने के प्रयत्न में आनन्द का अनुभव होता है। यही विरल भाव की तृतीय भूमिका है।

४. क्षायिक भाव की प्राप्ति :

आत्मा जब अपने सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करने के पूर्व चार घाती कर्मों को क्षय कर डालता है तब महानिधि अनन्त आनन्द को अपने खोले में झेल लेता है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को क्षय करने पर आत्मा को अतीव आनन्द की प्राप्ति होती है। कैवल्य की प्राप्ति इसी के कारण होती है। केवल चिन्मयात्मा बन जाना आनन्द का अजस्र स्रोत बहना है। क्षायिक-भाव की प्राप्ति १२ वें गुण स्थान में होती है और तत्काल १३ वे गुणस्थान में आत्मा पहुँच जाता है। इस शरीरी आत्मा का यही पूर्ण विकास-स्थल है। जब तक आत्मा अपने शरीर में रहती है तब तक वेदनीय, गोत्र, नाम और आयुष्य कर्म शेष रहता है। इन चारों कर्मों के कारण आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होने में जो कुछ भी शेष रह जाता है वह अन्तिम भूमिका में पूर्ण हो जाता है।

५. मुक्ति की प्राप्ति :

यह आनन्द की परम सीमा है। कोई बाधा और व्युत्पतन इसके बाद नहीं होता। आत्मा जब चौदहवें गुणस्थान को पार कर शुद्ध, बुद्ध, मुक्त बन जाता है तब आनन्द की परम सीमा पा लेता है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति इसे ही कहते हैं। इसे परमानन्द कहते हैं। इसको प्राप्त करने वाले को परमात्मा कहते हैं। यही आनन्द की अन्तिम भूमिका है। आत्मा का यह आनन्द कभी नष्ट नहीं होता। अनन्त काल तक निजी रूप बन जाता हैं। आत्ममय आनन्द का बन जाना ही आनन्द की पराकाष्टा है। हम इस स्थिति को सच्चिदानन्दमय बन जाना कहते हैं।

आत्मा की ध्यान जनित अनुभूति का रूप भी आनन्द ही है। ध्यान से जो प्राप्ति होती है उसमें आनन्द की अनुभूति हो जाती है। ध्यान और आनन्द की भूमिका एक दूसरे पर आश्रित है। ध्यान बिना आनन्द नहीं और आनन्द की भूमिका बिना ध्यान नहीं। अतएव यह आत्मा का एक अनुभूत अध्याय है कि विकासोन्मुख आत्मा आनन्द की प्राप्ति के लिए ध्यान का अनुगमन करे।

ध्यान और आनन्द की व्यावहारिक भूमिका :

ध्यान का व्यावहारिक पक्ष बहुत प्रवल है। जिन २ विज्ञान के आविष्कर्ताओं ने उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं वे एकचित्त ध्यान लगाकर अपने आविष्कार की सफलता में निरन्तर प्रयास करने पर ही मिली हैं। इन सफलताओं में ही उन्हें आनन्द का अनुभव हुआ है। मानव या अन्य प्राणधारी जीव जब अपने कार्य को ध्यान पूर्वक लगन से करता है तो सफलता मिलती ही है और इसी सफलता के बाद उन्हें आनन्द का अनुभव होता है। वह आनन्द जो उनके जीवन में कभी-कभी ही मिलता है। इसीलिए यह कहा जा सकता हे कि ध्यान-दतचित्त से काम करना ही आनन्द की सही भूमिका है।

आज का व्यापारी, अध्यापक, कवि, वक्ता, लेखक, छात्र वकील, सेवक, नेता, कार्यकर्ता, न्यायाधीश, राजनीतिज्ञ, सैनिक विद्वान्, शास्त्रज्ञ, आचार्य, वैद्य, कृषक और अन्य प्रकार के जितने भी मानव जाति के उन्नति के साधक तत्त्व हैं उनमें लगन से, ध्यान से कार्य करने की सहज प्रवृत्ति रही हुई है। जो बिना ध्यान के, लगन के कार्य करता है वह श्रेष्ठ व्यापारी, समर्थ अध्यापक, कवि सम्राट्, प्रसिद्ध वक्ता, महान् लेखक, सफल छात्र, प्रशस्त वकील, सच्चा सेवक, त्यागी नेता, कर्मठ कार्यकर्ता, मान्य न्यायाधीश, कुशल राजनीतिज्ञ, सबल सैनिक, विद्वान् मर्मज्ञ शास्त्री, सत्ता सम्पन्न आचार्य, उपकृत वैद्य, उन्नत कृषक नही बन सकता और अन्य सभी कार्यों में अग्रता, श्रेष्ठता और श्रेय प्राप्त कर नही सकता। हर कार्य में एकाग्रता-तल्लीनता परमावश्यक है और यही आनन्द की प्रशस्त भूमिका है।

ध्यान से कार्य करने वाले सभी प्रकार के यन्त्र अपनी निपुणता और कार्य सम्पन्नता करते हैं। ध्यान पूर्वक गति करने वाला ज्योतिप चक्र, ग्रह, नक्षत्र आदि को सुव्यवस्थित बनाये हुए है। ध्यान उचटा और प्रकृति की विकृति तैयार है। पृथ्वी अपनी धुरी पर अपने ढङ्ग से घूमती है। उसका भी एक प्रकार का ध्यान ही है। हवा और पानी अपने २ ढंग और लगन से प्रकृति को कायम रखने में सहायक है। जिस दिन हवा मे विकृति हुई, बवन्डर, तूफान आदि उठ खड़े होंगे और पृथ्वी के कई खण्डों में मानव, पशु, पक्षी के प्राण और ऐश्वर्य नाश कर देंगे। पानी में विकृति हुई और मानव का जीना मुश्किल हो जायगा। ध्यान से कार्य करने वाले

ज्योतिष चक्र, हवा, पानी, आदि प्राणियों के लिए प्राणवायु का सर्जन करते हैं।

आज हमें मालूम है कि असंख्य सूर्य, चन्द्र, तारकादि वर्तमान हैं। इस अनन्त वैभवशाली लोक में असंख्य पृथ्वी पिण्ड हैं जिनकी गिनती दूर रही, उनका आभास करना भी विज्ञान के परे की वस्तु बनी हुई है। ये सब अनन्त अणु पिण्ड अपनी व्यवस्थित ध्यान वृत्ति से काम कर रहे हैं। यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र, जन्त्र और जादू टौना अथवा अवधान सब ध्यान से ही होते हैं और उन्हें करने वाले को तथा देखने वालों को आनन्द का अनुभव होता है।

ध्यान और आनन्द की व्यावहारिक पक्ष में निम्न भूमिकाएँ हैं—

१. प्राणि जगत और मानव जाति की किसी भी क्षेत्र में बढ़ने की रुचि :

यह प्रारम्भिक भूमिका है जो ध्यान और आनन्द दोनों में लागू होती है। जब तक रुचि नहीं होगी, कोई ध्यान से कार्य नहीं कर सकता और न आनन्दानुभूति ही कर सकता है।

२. जिस क्षेत्र में बढ़ना हो उसके लिए अनुकूल साधन-सामग्री :

जब पहली भूमिका प्राणि जगत पार कर लेता है तो ध्यान और आनन्द की ओर गति करने के लिए उसके अनुकूल साधन सामग्री जुटाना या जुट जाना आवश्यक है। कार्य करने की रुचि हो लेकिन उसके अनुकूल साधन न हो तो कार्य नहीं हो सकता। जैसे विद्यार्थी को पढ़ने की रुचि है लेकिन पढ़ने की साधन-सामग्री नहीं तो वह कैसे ध्यान से पढ़ने में गति कर सकता है? इसी तरह हर आविष्कार, प्रयोग तथा गतिक्रम में उसके अनुकूल साधनों का मिलना ही उस ओर आगे बढ़ना है।

३. क्षेत्र, कार्य और कार्यकर्ता के अनकूल परिस्थिति :

कार्यकर्ता की रुचि हो और साधन-सामग्री भी मिल जाय लेकिन आस पास की परिस्थिति भिन्न हो तो वह कार्य नहीं कर सकता। अतएव ध्यान निष्पत्ति में क्षेत्र, कार्य और कार्यकर्ता के अनुकूल परिस्थिति का होना आवश्यक है। यदि ध्यान और आनन्द के अनकूल परिस्थितियाँ न हों तो ध्यान और ध्यान से होने वाला आनन्दानुभव नहीं हो सकता।

४. कार्यकर्ता या ध्यान-ध्याता का पुरुषार्थ :

यह अन्तिम भूमिका है जिसके करने पर ध्यान से, लगन से कार्य या ध्यान हो सकता है। ध्यान से कोई भी प्रवृत्ति करने के पूर्व ध्याता का पुरुषार्थ परमावश्यक है।

आनन्द की प्राप्ति फल है। ध्यान क्रिया है। जब क्रिया फलवती होती है तो आनन्द की प्राप्ति होती है।

आज के युग में यदि हम शान्ति पूर्वक सारी दुनियाँ को चलाने की व्यवस्था चाहते हैं और सभी कार्यों में सफलता भी करना चाहते हैं तो ध्यान का आश्रय लेना पड़ेगा। इसके बिना हमारी गति ही नहीं है। आत्मा का भला चाहते हैं तो ध्यान करिये और दूसरों का भला चाहते हैं तो ध्यान से रहिये, बढ़िये और ध्यान से कार्य करिये। यदि परमानन्द चाहते हैं तो आत्मिक ध्यान की आराधना करिये और यदि सांसारिक आनन्द चाहते हैं तो हर कार्य ध्यान से करते रहिये।

अन्त में ध्यान से आनन्द प्राप्ति में मेरे लिए ध्यान ने आनन्द की भूमिका निभाई, उसका वृत्त लिखता हूँ—

करीब ३० वर्ष पुरानी बात है। ग्रीष्मकाल की प्रातः वेला थी। मैं सदा की भाँति तालाब पर स्नान करने गया। बीचली कांकर पर स्नान कर बाहर की खजूर से लगी चट्टान पर अपनी उपासना करने को बैठ गया।

मैं पूज्य जवाहराचार्य द्वारा व्याख्यान के प्रारम्भ में की जाने वाली प्रार्थनाओं से प्रभावित था। अतः विनयचंद चौबीसी का नित्य पाठ करता और करता आ रहा हूँ। इन प्रार्थनाओं में रुचि भी स्व० पूज्य जवाहराचार्य की प्रार्थना-मुद्रा से मिली। उपासना में चौबीस स्तवनों का ध्यान किया।

न मालूम उस दिन कैसा पवित्र मन था और कैसा पवित्र वातावरण था कि मैं ज्यों २ तीर्थंकरों की उक्त प्रार्थनाएँ करता गया। अपने आपको उसमें भुलाता गया। ऐसी स्थिति बनी कि न मुझे पाठों का ध्यान रहा और न आस पास की स्थिति का। मन में वा आत्मा में वह उल्लास और आनन्द पैदा हुआ कि आधे घण्टे तक मैं देह से विस्मृत हो गया।

जब एक पुरुष ने मुझे मेरे कपड़ों के बारे में आवाज दी तो मेरा ध्यान विशृङ्खल हो गया। मेरा आनन्द लूट गया। मैं सब कुछ खो जाने की स्थिति में आ गया। मुझे अनुभव हुआ कि मैं लुट गया हूँ। ध्यान उचटने के बाद है ही क्या ?

उस दिन का आनन्द आज तक पाने की कोशिश में हूँ लेकिन पा नहीं सका हूँ। मैंने कई प्रयत्न किये। रात्रि को सूर्य के दर्शन किये। प्रत्यक्ष तीर्थंकरों की मूर्तियों की झांकियाँ देखी। पानी में पड़ी हुई चन्द्र किरणों से चन्द्र को पाया, लेकिन वह आनन्द नहीं मिल पाया। आज भी उस आनन्द की याद आती है। वह आनन्द खाने और सफलता पाने के आनन्द से भी अद्भुत और तृप्तिकारक था।

आज भी चौबीसी का पाठ चलता है लेकिन वह ध्यान नहीं चलता और इसलिए वैसा आनन्द नहीं आता है। वह दिन धन्य हो, जिस दिन मैं ध्यान से उस अकल्पनीय आनन्द को प्राप्त कर सकूँ।

मन धोबी गीत

धोबीड़ा तूं धोजे रे मन केरा धोतिया, मत राखै मैल लगार।
इण मइले जग मैलो करयउ रे, विण धोयां तूं मत राखै लगार ।।१।।

जिन शासन सरोवर सोहामणो रे, समकित तणी रूड़ी पाल।
दानदिक चारू ही बारणा, मांहे नवतत्त्व कमल विशाल ।।२।।

त्यां झीलइ रे मुनिवर हंसला, पीवै छइ तप जप नीर।
शम दम आदि जे शीला रे, तिहां पखाले आतम चीर ।।३।।

तपवजे तप नइ तड़के करी रे, जालवजे नव ब्रह्मवाड़।
छांटा उडाडे रे पाप अढार ना रे, पिम उजलो हुवे ततकाल ।।४।।

आलोयण साबुड़ो सुद्धि करी रे, रखे आवे नी माया सेवाल।
निश्चय पवित्रपणो राखजे, पछइ आपणो नेम सभाल ।।५।।

— समयसुन्दर

ध्यान : स्वरूप और लब्धि

श्री हुकुमचन्द संगवे, एम० ए०

ध्यान का स्वरूप :

मन-मन्दिर में शुभाशुभ भावों की निरन्तर चहल-पहल रहती है। अशुभ भावों का त्याग करते हुए शुभ भाव में स्थिर होना यही मुमुक्षु का परम ध्येय है। विना ध्यान के आत्म-दर्शन नहीं होता, ध्यान से ही आत्मा का शुद्ध प्रतिभास होता है।[1] ध्यान— (ध्यै + ल्युट्) शब्द का अर्थ है—मनन, चिन्तन विमर्श करना।[2] भगवत गीता[3], मनुस्मृति[4], रघुवंश[5], और शाकुन्तल[6] नाटक में ध्यान का विश्लेषण इस प्रकार किया है—"ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते।" चित्त को किसी एक अर्थात् शुभ भाव में स्थिर करना ध्यान कहा गया है।[7] जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जा सकता, तब तक कर्मों का सवर और निर्जरा नही हो सकती और विना संवर-निर्जरा से परम ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान या समाधि का निरूपण प्रकारान्तर से इस प्रकार किया जा सकता है कि, 'जिसमें सांसारिक समस्त कर्म वन्धनों का हनन होता हो ऐसे शुभ चिन्तन स्वरूप का विमर्श करना'।[8] तप, समाधि, धीरोध, स्वान्त निग्रह अन्तःसंलीनता, साम्य भाव, समरसी भाव, सवीर्य ध्यान, आदि का ध्यान के पर्याय रूप में प्रयोग हुआ[9] है।

---

१. ज्ञानसागर : ३६।

२. संस्कृत-हिन्दी कोश : आप्टे कृत, पृ० ५०२।

३. भगवद् गीता : १२।१२।

४. मनुस्मृति : १।१२, ६।७२।

५. रघुवंश : १।७३।

६. शाकुन्तल नाटक : ७।

७. आवश्यक निवृत्ति : १४५६, ध्यान शतक, २, नवपदार्थ : पृ० ६६८।

८. योग प्रदीप : १३८।

९. तत्त्वानुशासन : पृ० ६१।

साधारणतया मनुष्यों की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी रहती है और उसके विचार क्षण-प्रतिक्षण बदलते रहते है। अतः उस बिखरी हुई अवस्था में विशिष्ट हेतु के लिये मन को केन्द्रित करना एकाग्र-चिन्तन (Concentrat'on) कहलाता है, इसी एकाग्रता का विकसित-रूप ध्यान है।

श्रद्धायुक्त प्रिय वस्तु पर ध्यान लगाना आसान हो जाता है। यहाँ यह भी ख्याल रखना चाहिए कि, 'जिसका ध्यान (Meditation) जो व्यक्ति करता है वह उसी के अनुरूप बनता[१०] है। इसी अनुरूप का अनुभवन चित्त में जब तक न होता हो तब तक उसे ध्यान का बार-बार अभ्यास करना चाहिये।[११] इसी का कथन प्रकारान्तर से उपनिषद्[१२] में हुआ है।

ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में अन्तरंग में आने वाले विचार यथार्थ या अयथार्थ हो सकते हैं। अतः इन परिस्थितियों में इन विचारों का निरीक्षण करना होता है। निरीक्षण का ही मतलब है कि, "राग-द्वेष भावना को उभरने न दे और जहाँ राग-द्वेष की परम्परा नहीं वहाँ शान्ति और समता का साम्राज्य रहता है इसी साम्राज्य में 'ध्यान' का निवास रहता है।

षट्खण्डागम[१३] में ध्यान को परम तप कहा है। अन्य तप ध्यान के साधन मात्र हैं। ध्यान, यह ध्येय की साधना में अनुपम अद्वितीय कारण है। बिना ध्यान से योगी का ध्येय सिद्ध नहीं हो सकता, ध्येय साधना में योगी के अन्तरंग में सुदृढ़ निर्णय और धैर्य की आवश्यकता रहती है। यह योग्यता ध्यान के माध्यम से अनायास अर्जित हो जाती है। भले ही और कुछ भी प्राप्त न हो परन्तु आन्तरिक शान्ति मिलती है – विक्षोभ, आकुलता, व्यग्रता मिटती है। ऐसे ही शान्त, स्थिर मन में नवस्फुरणों का साम्राज्य रहता है, कहा भी है—

'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।'

ध्यान की अवस्था में आँख मूँद कर बैठना काफी नही है, परन्तु

---

१०. श्रीमद् भागवत् : ११।६।२२। ११. ब्रह्मसूत्र : ४।१।१।
१२. श्वेत-उपनिषद् : १।१४।
१३. षट्खंडागम खण्ड ५ : पु० १३, पृ० ६४।

यह आवश्यक है कि, व्यक्ति को सतत जागरूक रहना चाहिये। मन के चक्कर में न फँसकर उसी के ऊपर उठकर अपने में स्थिर रहना चाहिये। स्वयं को न भूलना यही तो ध्यान है। आलस्य और नींद के त्याग के लिये नासाग्र दृष्टि रखना परम उत्तम है।

चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना एक कठिन साधना है, क्योंकि यह किसी भी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा समय स्थिर नहीं हो सकता[१४]। चंचल मन जब तक जीता नहीं जाता तब तक ध्यान भी नहीं होता[१५]। विस्तार के साथ आत्मानुशासन[१६] में चंचल मन सम्बन्धी विचार हुआ है। जैसे जलाशय में निरन्तर प्रतिक्षण तरंगें उठती रहती है वैसे ही मन में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं, इन्हीं उठी हुई तरंगों को स्थिर करना राजयोग है। यह योग ध्यान के लिये उपयुक्त है। प्राणायाम आदि हठयोग से भी मन पर काबू पा लिया जा सकता है, परन्तु जैन दर्शन में हठयोग की अपेक्षा राजयोग पर जोर दिया गया है कारण 'राग-द्वेष' ये मन, वचन, काय से उत्पन्न होने वाले तरंग हैं, इन्हें प्रमुख बाधक कारण माना है इसलिये जैन दर्शन में राग-द्वेष पर विस्तार से विचार हुआ है। द्रव्य-संग्रह[१७] में कहा है कि, 'अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो।'

चंचल मन के बारे में किसी कवि ने कहा है कि, "एक ही सैकंड में यह जल, स्थल, नभ, स्वर्ग, नरक न जाने कहाँ-कहाँ भ्रमण कर जाता है। कभी यह माँ की ममतामयी गोद में खींचा चला जाता है, तो कभी पत्नी के वासनामय बाहुपाश में विश्राम लेता है। नीरव शांत भूमि पर बैठा हुआ यह मन सुन्दरियों के कटाक्ष का शिकार बनता है तो कभी कुमारियों का प्रेम-भाजन बनता है। साधु-सन्तों के पावन-मंगल चरणों में नतमस्तक होते हुए भी वेश्या की झनक-झनक पायल के संगीत और वासनात्मक भावना को उद्दीप्त करने वाले हाव-भावों में भटक जाता है। इसी चंचल मन ने धनुर्धारी वीर अर्जुन को भी परास्त किया था।[१८]

---

१४. ध्यान शतक : ३, तत्त्वार्थ सूत्र : ६।२८, योग प्रदीप : १५।३३।

१५. ज्ञान सागर : ८।

१६. आत्मानुशासन : १७०।

१७. द्रव्य संग्रह : ४८।

१८. गीता : 'चंचल ही मन.........'

भ० पार्श्वनाथ के गणधर केशीकुमार, भ० महावीर के गणधर गौतम के सामने भी मन की चचलता के बारे में चर्चा करते हुए उसे जीतने का मार्ग पूछते हैं।[१६] योगिराज आनन्दघन मन के सामने हतप्रभ हुए थे और कहते हैं, मैं जाण्यु ए लिंग नपुंसक सकल मरदने ठेले।

वीजी वाते समरथ वे नर एहने कोई न झेले ।।

... .''

अतः मन को जीतना जितना कठिन है उतना ही सरल है। ध्यान की विधि में प्रथम मन को जीतना आवश्यक समझा गया है। जिसने अपने मन को वश में नहीं किया उसका ध्यान, तप, शास्त्राध्ययन, व्रत धारण ज्ञान ये सब तुप खण्डन के समान व्यर्थ है। कारण मन के वशीभूत के बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती[२०]। जो मन को जीतने के बिना ध्यान की चर्चा करता है तो उसने ध्यान को अभी तक समझा ही[२१] नहीं। मन को जीतने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करना आवश्वक माना गया[२२] है। इन्हीं चार भावनाओं से पवित्रता, शुद्धता, आती है और मन रागादि भाव से विमुक्त होता है। मैले दर्पण में रूप का अवलोकन नहीं होता या किया नहीं जाता उसी प्रकार रागादि भाव से युक्त मन मे शुद्ध आत्म-स्वरूप नही दिखाई देता या देखा नहीं जाता[२३]।

एकाग्र चिन्तन के विषय और विषयी में एकरूपता आती है। इसी एकरूपता के कारण वहाँ कोई भेद नहीं रहता। और जहाँ भेद नही वहाँ चेतना की अनुभूति होती है[२४]। एकाग्रता मन पर काबू पाने में सहायक है। ध्यान एकाग्रता के आधार पर हो जाता है। आध्यात्मिकता की परम श्रेणी ध्यान है और एकाग्रता में अस्थिर मन स्थिर रत्नाकर के सदृश्य हो जाता है। अवचेतन में विचारों का दमन करने की अपेक्षा विसर्जन करना एकाग्रता और ध्यान के लिये उपयुक्त है। विचारों का विसर्जन सम्यक् पूर्वक प्राप्त किये गये ज्ञान द्वारा अन्तरङ्ग में दृष्टि रखने पर होता है। क्योंकि जब वाह्य दृष्टि रहती है तब अन्तर्दृष्टि नहीं रहती।

---

१६. उत्तराध्ययन : ३।२३, ५५। २०. ज्ञानार्णव : २२।२८।
२१. वही : २२।२४। २२. वही : २२।२७।
२३. परमात्म प्रकाश : पृ० १२१। २४. ब्रह्मसूत्र : ३।२।२४।

अतः विचारों का विसर्जन करने के लिये सम्यग् भावना की प्राप्ति परम आवश्यक है। कारण बिना सम्यग् दर्शन से सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) नहीं होता और बिना सम्यग् ज्ञान से उत्तम चारित्र नहीं होता[२५]। इसी के विरहित किया हुआ तप, ध्यान, व्यर्थ कहा जाता है और बोधि अर्थात् परचोच्च अवस्था की प्राप्ति नहीं होती[२६]। आराधनासार[२७] में तो यहाँ तक कहा है कि 'प्रकाण्ड विद्वता प्राप्त की गई तो भी सम्यक् प्रकार ध्यान नहीं किया गया तो, सब कुछ व्यर्थ है और कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। आकुलता-व्याकुलता मिटाने के लिये ध्यान ही एक साधन है। प्रशस्त अप्रशस्त ध्यान का आधार लेकर चित्त एकाग्रता के प्रयास से दिव्य चिन्तामणि या खली के टुकड़े भी मिल सकते[२८] हैं।

ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीन की आध्यात्मिक ध्यान या भौतिक ध्यान में प्रमुखतः अपेक्षा रखी जाती है। 'ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तर ध्यानं ध्याति क्रिया अतिकरण कर्त्ता च' ध्यान करने में जो करण हो उसे ध्यान कहा है। जो ध्याया जावे उसे ध्येय कहते हैं और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान कहलाता[२९] है। निश्चयनय की अपेक्षा से कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण को आत्मा कहा है जैसे आत्मा अपने आत्मा को, आत्मा में, अपने आत्मा द्वारा, अपने आत्मा के लिये, अपने आत्मा के हेतु से और अपने आत्मा का ही ध्यान करता है, यही ध्यान कहलाता[३०] है।

इस प्रकार का ध्यान करने वाला ध्याता यम, नियम, व्रत धारण, कपायों का निग्रह और मन एवं इन्द्रियों पर काबू रखने की क्षमता वाला हो। अतः उसे इसी परम सिद्धि के लिये दुर्ध्यान (आर्त्त ध्यान-रौद्रध्यान) असंयम, चपलता का निरोध करना चाहिये इसलिये वैराग्य, तत्त्व चिन्तन, परीषह जय आदि का उल्लेख[३१] है। पुनः पुरण, कुम्भक, रेचक, दहन, हवन, आसन, मन्त्र, मण्डल आदि का भी ध्यानावस्था में उपयोग होता

---

२५. उत्तराध्ययन : २८।२६।　　२६. दर्शन पाहुड : ५।
२७. आराधना सार : १११।
२८. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा : ४६८, इष्टोपदेश : २०।
२९. तत्वानुशासन : ६७, इष्टोपदेश : ४७।
३०. वही : ७४।　　३१. उपासकाध्ययन : ३६।६३४।

है।[32] इसके उपरान्त भी पूर्व संस्कार वश अशुद्धता, अतिचार अशुभ विचार, बार-बार उपयुक्त रमणीय स्त्री का ध्यान आता हो उस समय उसी का ध्यान करते हुए और उसकी क्षणभंगुरतादि का परिवर्तन तत्त्व चिन्तन की धारा में कर देना चाहिये। इससे साधक के मन में अपने आप ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी जिससे साधक के मन में स्त्री आदि विषयक उदासीनता का भाव पैदा होगा और साधक का ध्यान शुभ प्रवृत्तियों में केन्द्रित होगा। अतः शुभ प्रवृत्तियों मे ही सुखद मन की स्थिति होती है इसलिये मन की शुद्धि के बिना सब क्रिया कलाप, अनुष्ठान करना केवल कायक्लेश[33] है। इसके लिये इन्द्रियों को विषयों से रोकना आवश्यक है। बिना इन्द्रिय-विजय से कषायों पर विजय नहीं होगी[34]। कषाय विजय से मन में शुद्धता आती है। इसी शुद्धता, स्थिरता में ध्याता को ध्यान में ध्येय के प्रति तल्लीनता आती है। इसी तल्लीनता से समग्र दोषों का परिहार होता[35] है। और आत्मज्ञान भी आत्मा द्वारा होता है। इससे कर्म का क्षय होता है और कर्म क्षय से मोक्ष प्राप्ति होती है[36] मन का हृदय में तब तक निरोध करने का विधान है कि जब तक उसका (कर्म का) क्षय न हो जाय[37]। ऐसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं रहती[38]। मन के निर्विषय होने का नाम ही ध्यान है कारण ध्यान में किसी स्थूल विषयों के प्रति आकर्षण नहीं रहता और उसी के आधार पर सूक्ष्म की ओर बढ़ना है। वहाँ किसी भी आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती है। इस ध्यान में केवल अर्थ भासित होता[39] है। इसलिये मन का निरोध प्राणायामादि से होता[40] है।

बौद्ध दर्शन में ध्यान को निर्वाण प्राप्ति का कारण माना है। हीनयान के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है और अर्हत् पद की प्राप्ति करना प्रमुख उद्देश्य है। चित्त कुशलों के कारण ही साधक को ससार भ्रमण करना पड़ता[41] है अतः इसका निरोध अभिज्ञा से होता है।

---

३२. तत्त्वानुशासन : २१३, २१६।
३३. ज्ञानार्णव : २२।१४।
३४. योगशास्त्र : ४।२५।
३५. नियमसार : ६३।
३६. योगशास्त्र : ४।११३।
३७. ध्यान बिन्दु उप० : ५।
३८. शाण्डिल्योपनिषद् : ११।
३९. योगदर्शन : ३।२, ३।३।
४०. हठयोग संहिता : १०६।
४१. धम्मपद : २।३।

ध्यान के प्रकार :

विषय और विषयी के आधार पर ध्यान के कई भेद किये जा सकते हैं। शास्त्रकार, मनीषियों ने दार्शनिकों ने भले ही ध्यान के अनेक प्रकार का निरूपण किया हो परन्तु उन्हें दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। वे दो प्रकार शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान है। जैनाचार्यों ने प्रशस्त और अप्रशस्त नाम को स्वीकार किया है। बौद्धाचार्यों ने कुशल-अकुशल, नामों से व्यवहार किया है और इसी शुभा शुभ को वैदिक परम्परा में क्लिष्ट और अक्लिष्ट नाम दिया है। जैनागम में प्रमुख्यतः चार भेद-आर्त्त रौद्र-धर्म और शुक्ल ध्यान है[४२]। प्रथम दो ध्यान से अप्रशस्त या अशुभ तथा शेष दो को प्रशस्त या शुभ ध्यान की संज्ञा दी गई है। प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष प्राप्ति के हेतु माने गये हैं[४३]। ज्ञानार्णव में[४४] अप्रशस्त अर्थात् अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन भेदों का कथन हुआ है। फिर भी उक्त चार भेदों का प्रकारान्तर से इसी के अन्तर्गत समावेश किया जा सकता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार ध्येय के भेद माने गए[४५] हैं। रामसेनाचार्य ने[४६] मात्र नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार ध्येय के चार प्रकार माने हैं। अत: इनकी यह अपनी विशेषता है। अन्यत्र ध्यान के २८ भेद और प्रभेद का उल्लेख देखने में आता[४७] है। अतएव उक्त चार प्रकारों में इन्हीं सब भेद-प्रभेदों का समावेश हो जाता है इसलिये आगम में वर्णित इन्हीं चार प्रकार का विवेचन यहाँ किया गया है।

राज्यादि भोगोपभोग का, स्त्री, रत्न, आदि अलंकार का वियोग न हो और इन्हीं की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा रखते हुए निरंतर चिन्तन करना आर्त्त ध्यान[४८] कहलाता है। क्रूर प्रवृत्ति धारण करना, अन्य जीवों

---

४२. स्थानांग : ४।२४७, समवायांग : ४, आवश्यक निर्युक्ति : १४५८, अध्यात्म सार : प्रबन्ध ५।८६, दशवैकालिक : १, ज्ञानसार : १० षट्खण्डागम : पु० १३, पृ० ७०–७८, ध्यान शतक : ५, ज्ञानार्णव : २५। २०।

४३. तत्त्वानुशासन : ३४, ज्ञानार्णव : २५।३१।

४४. ज्ञानार्णव : ३।२८। ४५. वही : ३७।१, योगशास्त्र : ७।८।

४६. तत्त्वानुशासन : ९९। ४७. नमस्कार स्वाध्याय पृ० २२५।

४८. योग तारावली : ८३, ज्ञान सार : ११।

के प्रति प्रतिकुलता रखना रौद्रध्यान[४९] है। हिंसा, चोरी, मैथुनादि कार्य में निरन्तर रत रहना आर्त्त रौद्र है दूसरे शब्दों में मनोज्ञ वस्तु के सयोगादि-कारण, सांसारिक वस्तुओं में राग भाव रखना आर्त्तध्यान है[५०]। रागद्वेषात्मक भावों के कारण वाछनीय वस्तु के प्रति मोह होता है, मोह भाव रखना अज्ञान है। इसी अज्ञान भाव का परिवर्तन दुःख में होता है अतः इष्ट में सुख अनिष्ट में दुःख मानते हुए, इन्हीं की प्राप्ति या अप्राप्ति न होने पर दुःखित होना और इन्हीं के सम्बन्ध में निरन्तर सोचना आर्त्त-रौद्र ध्यान है। इसी के कारण जीव भयभीत, शोकाकुल, संशयी, प्रमादी, विषयी और निद्रालु होता[५१] है इसलिये बुद्धि स्थिर नहीं होती। विवेक-हीनता की यही धारा छठे गुण स्थान तक रहती है।[५२] रौद्रध्यान में संक्षेप में सब पापाचार का अर्न्तभाव होता है। इसी के भी चार भेद हैं— हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, संक्षयानन्द[५३]। इससे पता चलता है कि इसी ध्यान का ध्याता अपःध्यान में लगा रहता है और इससे दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है। इस प्रकार का ध्यान वाला जीव अनुकम्पा से रहित, नीच कर्मो में निर्लज्य एवं पाप में ही आनन्द मानने वाला होता[५४] है। यह ध्यान पंचम गुण स्थानवर्त्ती जीवों का रहता[५५] है।

धर्म और शुक्ल ध्यान को सद्, शुभ प्रशस्त माना है। इसी ध्यान में जीव का राग भाव परिणाम न्यून होता है और वह आत्म चिन्तन में लीन होता है। इसी दृष्टिकोण से इसी ध्यान को आत्म विकास का प्रथम चरण माना गया है। द्वादशांग रूप जिनवाणी, इन्द्रिय, गति, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्याभव्य, सम्यक्त्व, सैनी-असैनी, आहारक-अनाहारक इस प्रकार २४ मार्गणा, १४ गुणस्थान, १२ भावना, १० धर्म का चिन्तन करना धर्म ध्यान है। धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान की भूमिका है। शुक्ल ध्यानवर्ती जीव गुण स्थान में श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ कर देता है। धर्म ध्यान में वाह्य साधनों का आधार रहता है परन्तु शुक्ल

---

४९. वही : ८४।

५०. स्थानांग : ४।२४७, समवायांग : ४, दशवैकालिक : अ० १।

५१. ज्ञानार्णव : २५।४३। ५२. वही : २५।३८।

५३. वही : २६।२, तत्त्वार्थ सूत्र : ६।३६।

५४. आवश्यक अध्ययन : ४।

५५. ध्यान शतक : २५, ज्ञानार्णव : २६।३६।

ध्यान में सिर्फ आत्मा का आवलम्बन रहता है इसी ध्यान में आत्मा और कर्म का युद्ध होता है। धर्म ध्यान में कर्म को धमकाया जाता है और शुक्ल ध्यान में कर्म रूपी सेना का श्रुतज्ञान के साह्य से पराभव करने की योजना बनाई जाती है। १३ वें और १४ वें गुण स्थानवर्त्ती जीवों में मन का अभाव रहता है। १४ वें गुण स्थान में मन-वचन काय इन त्रियोग का कम्पन नहीं रहता अत: यहाँ का ध्यान सर्वोत्कृष्ट कहा गया है और इन्द्रिय-निग्रह की चरमोत्कृष्ट अवस्था यही है। रूपातीत ध्यान में ध्याता, ध्येय, ध्यान ही आत्मा[५६] है।

शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान के भेदों में भी शुद्ध ध्यान को योग्य समझा[५७] गया है। स्थानांग सूत्र के अनुसार[५८] विषय, लक्षण, आवलम्बन, और अनुप्रेक्षाएँ धर्म ध्यान का आलम्बन है तो सर्वार्थ सिद्धिकारने[५९] अपाय विचय, विपाक विचयादि, चार भेदों का विवेचन किया है। शुभा शुभ कर्मों का नाश सम्बन्धित चिन्तवन करना और रत्नत्रय में लीन होना धर्म ध्यान कहा गया[६०] है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में[६१] संकल्प, विकल्प को छोड़कर आत्मस्वरूप में आत्मा को रोकते हुए आनन्द सहित उसी की ओर (आत्मा की ओर) बढ़ना धर्म ध्यान है। संयम, अन्य आत्मा के सुख-दुःख अपने सुख-दुःख मानना, परीषहों का सहन, रागादि कषायों का त्याग, शत्रु मित्र में, निन्दा-स्तुति में समता भाव धारण करने वाले जीवों को ही परम ध्यानावस्था प्राप्त होती है।

ध्यान का समय :

किस समय ध्यान लगाना चाहिए इसके सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्धारित समय नहीं है। चंचल मन पर काबू पाने के लिये, अनुशासन के रूप में तथा अभ्यास के लिये समय का निर्धारण किया जा सकता है। अभ्यास की पर्याप्त पूर्ण अवस्था होने पर मन को एकाग्र करने में समय की आवश्यकता नही रहती। भोर के समय में अवचेतन मन में विशेषत: काम शक्तियाँ तथा अन्य प्रवृत्तियों का प्रभाव रहता है अतः ऐसे समय मे

---

५६. ज्ञानार्णव : ४०।१५–२३।   ५७. वही : २५।१७।
५८. स्थानांग सूत्र : ४१।२४७।   ५९. सर्वार्थ सिद्धि : ९।३३।
६०. तत्त्वानुशासन : ५१–५५, मूलाचार : ४००।
६१. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा : ४८०।   ६२. ध्यान शतक : ३८।

मन को विचलित न होने देने के लिये ध्यान के लिये भोर का समय निर्धारित किया गया है। रात्रि विश्राम के पहले का समय भी योग्य माना है कारण यह समय सन्धिकालानुसार रहता है।

ध्यान का स्थान :

समय के साथ ही साथ स्थान का भी विचार होना आवश्यक है। ऐसा स्थान हो जहाँ ध्यान भंग के कारण, बाधाएँ और उपद्रव की सम्भावना न हो। ध्याता को ऐसी जगह कभी भी ध्यान नहीं करना चाहिये कि, जहाँ, स्त्री, पशु, प्राणी, राक्षस और कोलाहल[६२] हो। जिस स्थान पर ध्यान करना हो उसी स्थान पर आसन सुखदायक, और ध्यान की मर्यादा टिक सके ऐसा हो। आसनादि का विचार ध्यान में खास महत्व नहीं रखता अतः जिस अवस्था में जिस आसन पर ध्यान लगाना यथार्थ हो वही आसन अपनाना चाहिये।[६३] आचार्य अमित गति कहते हैं, 'न संस्तरो भद्र समाधि साधन।' जहाँ घबराहट, भय नहीं, रागद्वेषात्मक भावना नहीं वहाँ दृष्टि स्थिर, श्वास प्रश्वास की गति मन्द ही रहती है और ध्यान सुलभ होता है। ध्यान बिन्दु उपनिषद्[६४] में भी यही कहा है कि 'आसनानि च तावन्ति यावन्तये जीव जातय।' सांख्य सूत्र[६५] के अनुसार 'स्थिर सुख आसनं इति नियम:।' अतः इससे यही कहा जा सकता है कि ध्यान योग्य शरीर की अवस्था ठीक है या नहीं कारण निर्धारित समय तक शरीर कष्ट न हो और स्थिरता पूर्वक रहे इसलिये योग दर्शन में वर्णित आसन पर विचार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में विक्षोभ के कारण न हो, सुखासन, सहज साध्य, ध्यान में व्याधात न पहुँचता हो, इस प्रकार का आसन और स्थान चाहिये। सब देश, सब काल, सब अवस्थाओं में विद्यमान मुनि ने अनेक पापों का क्षय करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त किया है।[६६]

ध्यान और लब्धि :

शक्ति का तारतम्य देखने में आता है अतएव मानव विशिष्ट और सम्पन्न शक्ति प्राप्त करने मे निरंतर प्रयत्नशील रहता है। परन्तु जिससे आकस्मिक शक्ति का साथ हो और जिसके द्वारा कुछ तो चमत्कार दिखाई

---

६३. वही : ३६। ६४. ध्यान बिन्दु उप० : ४१
६५. सांख्य सूत्र : ६।२४।
६६. षट् खण्डागम : पु० १३, पृ० ६६।

पड़े ऐसी शक्ति की उपासना ध्यान, योगधारणा, तप द्वारा की जाती है। सर्व सामान्यतया 'लब्धि' का अर्थ है—'विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति' या दूसरे शब्दों में 'नाम कर्मों के उदय से जो शक्ति मिलती है—उसे 'लब्धि' कहते हैं। शब्दकोशानुसार[६७] लब्धि का अर्थ प्राप्ति, लाभ, शक्ति है। 'ऋद्धि-सिद्धि' का प्रयोग लब्धि के[६८] अर्थ में ही हुआ है। ऋद्धि का अर्थ भी 'अतिप्राकृतिक शक्ति' सम्पन्नता, सर्वोपरिता है।[६९]

इसी लब्धि को योगदर्शन में 'विभूति', जाना गया है और बौद्ध ने उसे 'अभिज्ञा' कहा है। अतः 'विभूति' 'लब्धि' 'ऋद्धि' या अभिज्ञा' हमें हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग अर्थात् ध्यान-धारणा से प्राप्त हो सकती है। योगशतक में[७०] आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि योगी के योग के प्रभाव से ध्यान के प्रभाव से शुभ का लाभ और लब्धि की प्राप्ति होती है। विभिन्न मंत्र, पदस्थध्यान द्वारा योग की जैसी-जैसी वृद्धि होती है वैसी-वैसी लब्धियाँ प्राप्त होती रहेंगी।

ध्यानधारणा, योगसाधना, तप प्रभाव के क्रम में अनेक चमत्कारिक शक्तियों की प्राप्ति होती है तथा सामान्य जन को आश्चर्यजनक मालूम पड़ती हैं। परमध्येय मुक्ति जिसका लक्ष्य है। ऐसा साधक इस प्रकार के व्यामोह में नही फँसता परन्तु जो साधक रागद्वेषादि भावनाओं को लेकर आर्त्त रौद्र ध्यान द्वारा लब्धियों की प्राप्ति करता है, वह आत्मसिद्धि की प्राप्ति के पहले ही इन लब्धियों के मोह में पड़ जाता है और अपने मार्ग से च्युत होकर पुनः संसार भ्रमण करने लगता है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान द्वारा अलौकिक लब्धियों की प्राप्ति होती है। परन्तु सच्चे योगी इसकी कोई उपयोगिता न समझते हुए इन्हीं की ओर दुर्लक्ष करते हैं और इन्हें परमध्येय में बाधक मानते हैं, तीव्र मोह-राग-द्वेष के उदय के कारण आकुलित, उतावला मन उनमे फँसने के लिये तैयार हो जाता है इसलिये योगियों के लिये आदेश दिया गया है कि वे तप, ध्यान का अनुष्ठान किसी लाभ, यश या कीर्ति, लब्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा से न करे।[७१] ध्यान-

---

६७. संस्कृत-हिन्दी कोष : आप्टे कृत : पृ० ८७०।

६८. तिलोय पण्णत्ती : भाग १, पृ० २७०।

६९. संस्कृत-हिन्दी कोष : आप्टे कृत : पृ० २२४।

७०. योग शतक : पृ ८३—८५। ७१. दशवैकालिक सूत्र : ९।४।

धारणा की लब्धियाँ फल सिद्धि स्वरूप हैं इससे अविनाशी आत्मा का कोई लाभ नहीं है। लब्धियों का सीधा सम्बन्ध शरीर और शारीरिक सुख और भौतिक सुख-सुविधा से है। इसलिये उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि लब्धियों द्वारा रोग, जरा न होना, आरोग्य प्राप्ति, कांति, स्वर-माधुर्य का संयोग, सुगन्धता, मलमूत्र की न्यूनता आदि की प्राप्ति होती[७२] है। गीता, पुराण आगम हठयोगादि ग्रन्थ में लब्धियों से सम्बन्धित उचित जानकारी प्राप्त होती है। योग दर्शनानुसार प्रत्येक आठ अंग द्वारा बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।[७३] शरीर की दीप्ति, आकाश गामिनी विद्या, हल्कापन, जो चाहे जिस रूप में अपना आकार बना सकते हैं और अनेक विभूतियाँ, सिद्धियाँ, औषध, मन्त्र, तन्त्र, सब समाधि द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[७४]

बौद्ध दर्शन में दो प्रकार की लब्धियों का वर्णन आता है—(१) लौकिक, (२) लोकोत्तर। इन्हीं के करण 'अभिज्ञा' प्राप्त होती है। जैन दर्शन में योग दर्शन और बौद्ध दर्शन की भाँति ध्यानादि द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्ति का विवेचन मिलता है[७५]—जैसे जन्म-मरण का ज्ञान, शुभाशुभ शकुनों का ज्ञान, परकाय प्रवेश, ब्रह्म ज्ञान, आकाश-गमन, औषधि, तन्त्र, मन्त्र और रत्नादि प्राप्ति। परन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि, जैन साधकों ने लब्धि प्राप्ति अपना ध्येय नहीं माना अपितु कषायादि का क्षय करना और ज्ञान दर्शन[७६] की प्राप्ति ही ध्येय माना है।

भगवती सूत्र[७७] में १० प्रकार की लब्धियों का वर्णन मिलता है। विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न लब्धियों के भेद-प्रभेद का उद्धरण दिया है।[७८] प्रवचन सारोद्धार और तिलोय पण्णत्ती में वर्णित लब्धियों का

---

७२. श्वेताश्वतर उप० : २।१२—१३।
७३. योग-दर्शन : २।३५, ४५, ३।१८, ५३, ५५।
७४. वही : ३।५, १६–१८, २६, ४०–४२, ४५–४८, ४।१।
७५. विशुद्धि मार्ग : भाग १, पृ० ३४।
७६. योग शतक : ८५। ७७. भगवती सूत्र : ८।२।
७८. तिलोय पण्णत्ती : भा० १।४, १०६७–९१, आवश्यक निर्युक्ति : ७०, षट् खण्डागम : खण्ड ४।१।९, प्रवचन सारोद्धार : २७०, १४९२।

विवेचन प्रायः एकसा मिलता है। प्रज्ञा श्रवण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर होती है, वह बीज बुद्धि, कोष्ट बुद्धि, अनुसारिणी बुद्धि, प्रसारिणी बुद्धि, उभय सारिणी बुद्धि, औत्पात्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा हैं।[७९] श्रुतज्ञानावरण और बीर्यान्तराय का क्षयोपशम शुक्ल ध्यान होने पर ही होता है।

दश दिशाओं में संख्यात योजन-प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के अक्षरानक्षरात्मक और अन्य बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिनको प्रत्युत्तर देने की जो शक्ति प्राप्त होती है उसे संभिन्न-श्रोतृत्व नामक बुद्धि लब्धि कहते हैं इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिये।[८०] वास्तव में पंच इन्द्रियों से प्राप्त विषय ज्ञान आत्म जागृति एवं कर्म क्षयोपशम के कारण होता है। ऐसे समय में मन की एकाग्रता, रुचि और ध्यास होना आवश्यक होता है। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और काम रूप की विक्रिया नामक ऋद्धि-लब्धि ध्यान और तपो विशेष से हुआ करती है। और भी चारणत्व शक्ति के कारण अन्यान्य लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। सातवें या आठवें गुणस्थानवर्ती मुनियों की अलौकिक लब्धियाँ हुआ करती हैं। यहाँ यह भी कहना गलत न होगा कि अयोगी केवली की पहली अवस्था तक लब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। 'मोक्ष' लब्धि है परन्तु यह शरीर के माध्यम से प्राप्त नहीं होती। वह आत्म के शुक्ल ध्यान की परम-रूपातीत अवस्था में प्राप्त होती है।

जिन, ओहिजिण, अणंतोहिजिण, बीज बुद्धि, पदाणु सारी, संभिण्ण सोदर, दित्ततव, तत्ततव, महातव, घोरतव, घोर गुण, घोर परक्कम, घोर गुण बंभचारी, आमो सहिपत्त, खेलो सहिपत, जल्लो सहिपत, विप्पोसहिपत, सव्वोसहिपत्त, मणबली, वचोवली, काय बली, खीरसवी, महुसवी अक्खीण महाणस, सिद्धादण इत्यादि लब्धियाँ आवश्यक निर्वृति (पृ० ७७-७८) षट् खंडागम (खण्ड ४-भा०१-९-) और विद्यानुशासन तथा मन्त्र राज रहस्य नामक ग्रन्थ में सामान्यतया नाम तथा व्याख्या रूप में एकसी मालूम पड़ती हैं। आवश्यक निर्वृति में २८ प्रकार, षट् खंडागम में

---

७९. तिलोय पण्णत्ती : भा० १, पृ० २७६।
८०. वही : भा० १, पृ० २७३-२७५।

४४, विद्यानुशासन में ४८, मन्त्रराज रहस्य में ५० और प्रवचन सारोद्धार में २८ लब्धियों के भेद देखने में आते हैं। मन्त्रराज रहस्य में महाराज, महाश्रेष्ठी, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रति वासुदेव को 'भवोत्पन्न लब्धियाँ' कहा है और अन्य चमत्कार-युक्त लब्धियों को 'ध्यानज लब्धि'।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि, ध्यान और लब्धियों का सम्बन्ध बिजली का बल्ब और स्विच (बटन) के समान है। ध्यान से प्राप्त लब्धियों का उपयोग करे या न करे यह साधक पर अवलम्बित है।

मन की खुराक

एक बार श्रीमद् राजचन्द्र काविठा गाँव में निवृत्ति के लिये रहे थे। उस समय किसी ने उनसे पूछा—

'मन स्थिर नहीं रहता, तो उसका क्या उपाय ?'

श्रीमद् बोले—

'एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना। कोई अच्छी पुस्तक, जिससे वैराग्यादि की वृद्धि हो, पढ़ना- विचारना। ये कुछ न हो तो फिर माला जपना। परन्तु यदि मनको बेकाम रखोगे तो वह क्षण भर में सत्यानाश कर देगा। इसलिये उसे सद्‌विचार रूप खुराक देना।

जैसे ढोर को कुछ न कुछ खाने को चाहिए ही—खली की टोकरी सामने रखी हो तो वह खाता रहे-वैसी ही मन की स्थिति है। अन्य विकल्पों को रोकना हो तो उसे सद्‌विचार रूप खुराक देना।

मन कहे उससे उलटा चलना, उसके वश होकर खिंच नहीं जाना'

○

कुण्डलिनी योग का महत्त्व

● मुनि श्री सुशीलकुमार

आत्मा की खोज करते हुए अनेक प्रकार की नई विधाओं का सिंहद्वार खुला है। वे सब आत्मविद्या के अन्तर्गत भी हैं और उनका सम्बन्ध जीवन के वाह्य क्षेत्रों से भी है। धर्म-विद्या, दार्शनिक-चिन्तन और यौगिक अनुसन्धान ये सब आत्म-विद्या की आनुषंगिक विद्याएँ हैं। इन सबके सम्बन्ध में हजारों वर्षों से गहरी शोध हुई है। धर्म के अभ्यासियों ने, दर्शन के आचार्यों ने और योग के साधकों ने जीवन की अनुभूतियों को और चमत्कारी शक्तियों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, कि सारा विश्व इन उपलब्धियों के पीछे अभिभूत हो गया है।

इन पिछले पाँच हजार वर्षों से अकेला धर्म सारे विश्व के तन्त्र को संचालित करता रहा है। दर्शन ने मनुष्य की बुद्धि को अनेकों विश्वासों के साँचे में ढाला है और योग ने देश में विदेह और अणु में महत्-तत्व की प्रतिष्ठा की है। आखिर हम सब अपने सम्बन्ध में और इस दृश्य या अदृश्य-जगत के सम्बन्ध में जितनी भी धारणा या विश्वास बनाये बैठे हैं, ये सब हमारे पूर्वज विचारकों की ही तो देन है।

आत्मा, अन्त:करण, चेतना, रूह, सोल या पदार्थों का संघीभूत पुद्गल-पिण्ड आदि जितने भी शब्द हैं, जिनके पीछे हम अपने स्वरूप को स्थापित किए बैठे हैं, और अपने को चेतनावान् या आत्मवान् माने बैठे हैं, ये सब हमारे विश्वास ही तो है। हमारे इन विश्वासों के पीछे सत्य कितना है और असत्य का कुहरा कितना छाया हुआ है, यह तो शोध का विषय है। किन्तु अगर धर्म सत्य है, तो दर्शन भी सत्य है। योग भी सत्य है चाहे आंशिक रूप में हो या सर्वांश में।

धर्म का क्षेत्र इन पिछले हजारों वर्षों में इतना विस्तृत हो गया, कि

जीवन के सभी क्षेत्रों में उसका आधिपत्य जम गया । मानवीय सभी समस्याओं में व जागतिक व्यवस्थाओं और ब्रह्माण्ड की विविध रचनाओं में धर्म ही एक ऐसा प्रवक्ता बन गया कि उसने जीवन और जगत के सभी क्षेत्रों को अपने अन्तर्गत कर लिया । धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों ने और शोधशालाओं ने धर्म से कितने ही क्षेत्रों को छीन लिया, जैसे पदार्थ-विद्या, वनस्पति-विज्ञान, नक्षत्र-विद्या आदि सैकड़ों प्रकार के विद्या के क्षेत्रों को विश्वविद्यालयों एवं शोधशालाओं ने अपना स्वतन्त्र विषय बना लिया है ।

धार्मिक विश्वासों के साथ उनका किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं रह गया है । अब धर्म केवल आत्म-विद्या और आध्यात्मिक विकास के क्रमिक रूप के सिवाय और कुछ नहीं रहा है । धर्म का राजनीतिक या सामाजिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन से ही यथार्थ सम्बन्ध है, यही सिद्धान्त सर्व-सम्मत मान लिया गया है ।

इसी प्रकार योग के सम्बन्ध में भी हमें ध्यान रखना होगा, कि योग का सम्बन्ध शारीरिक विकास के साथ-साथ प्राणोत्थान, मानसिक एकता और आत्म-साक्षात्कार ही है । मन की एकता से आत्मा के साथ मिलन हो सके और हम अपनी देह-गत सभी द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं से ऊपर उठ कर प्राण, मन, बुद्धि और अहंकर के लोक से आगे जा सकें, और देह में रही; हुई चेतना के साथ-साथ अनन्त-शक्ति स्रोतों को उद्‌बुद्ध कर सकें और इस नियति के अधीन विश्व की व्यवस्था के चक्कर से परम चैतन्य तत्व को उन्मुक्त कर सकें, यही योग का सबसे बड़ा ध्येय है ।

दर्शन, भारतीय धर्माचार्यों के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों की बुद्धि-संगत व्याख्या है । इसी प्रकार योग भी धर्म के द्वारा परम पुरुषार्थ की सिद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है । धर्म, अगर हमारे जीवन की व्यवस्था का नाम है, तो योग जीवन की उस परम सिद्धि का नाम है, जिस अमृत को पाकर के कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रहती । अतः धर्म और दर्शन के क्षेत्र से योग हटा दिया जाए, तो हमारे हाथ में धर्म की आचार-पद्धति, और कुछ पारस्परिक विश्वास व दर्शन की बौद्धिक व्याख्याएँ ही रह जायेंगी, किन्तु आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-बल का सहारा सदा के लिये हम से विलग हो जाएगा । योग, धर्म की साक्षात् अनुभूति है । उसके बिना न अमृतत्व की प्राप्ति होती है, न धर्म का सर्वस्व ही प्राप्त होता है ।

योग इतना व्यापक शब्द है और इस पर हजारों वर्षों से इतनी खोज हुई है कि हम उसे किसी एक विश्वास में, पद्धति में या अनुशासन में बाँध नहीं सकते। संसार मे जितने महात्मा-पुरुष हुए हैं, उन सबके पास जो शक्ति या चमत्कार था, वह सब उन्हें योग के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। और जिस-जिस महात्मा को, जिस-जिस ढंग की साधना सयोग-सिद्धि प्राप्त हुई, उस-उस महात्मा ने उसी पद्धति को सर्वश्रेष्ठ उद्‌घोषित कर दिया। सहज-योग, हठ-योग, मंत्र-योग, लय-योग, राज-योग, कुण्डलिनी-योग, कुल-कुण्डलिनी-योग, चक्र-भेदन, बिन्दु-भेद, त्राटक, छाया-पुरुष आदि आदि अनेकों यौगिक साधनों का इतने विस्तृत रूप से विकास हुआ है कि उन सब यौगिक-पद्धतियों को संकलित किया जाए, तो हम इस छोटे से लेख में उनका नामोल्लेख भी नहीं कर सकते। योग के सभी साधनों में कुण्डलिनी-योग की चर्चा करना इसलिए अभीष्ट लगता है कि इसमें वास्तविकता सबसे अधिक है। हठ-योग हमारे प्राणों को उत्थापित कर मन को सुषुम्णा में खेलने का अवसर दे सकता है। मंत्र-योग अभीष्ट दिव्य-शक्ति को साकार बना सकता है, किन्तु यह सब विश्वास के बल पर या संकल्प-शक्ति पर आधारित है।

कुण्डलिनी-योग में भी संकल्प-बल की बहुत बड़ी आवश्यकता है। किन्तु मूल में कुण्डलिनी शरीर का एक अवयव है। जिसे हमें खोलना है, जागृत करना है, उद्‌बुद्ध करना है। कुण्डलिनी-योग की विलक्षणता यह है कि वह शारीरिक भी है और आध्यात्मिक भी। शारीरिक इसलिए कि वह मूलाधार के पास पायु और उपस्थ के बीच योनि-कन्द के निकट, सर्पणी के आकार की एक ऐसी स्नायु है, जो मकड़ी-जाले के तन्तु के समान सूक्ष्म, स्वर्ण के समान उद्दीप्त और प्रकाश-पुंज की तरह आलोकित है। जन्म-जन्म से कुण्डलिनी सोई पड़ी है, उसी स्थान पर सूक्ष्म-तम स्वयंभू, शिवलिंगाकृति के चारों ओर सर्पणी की तरह त्रिवली डाले हुए अपनी पूँछ को अपने मुख में दबाये हुए गाढ़ी निद्रा में आबद्ध है। उसको जगाने के अनन्तर जब उसका परम-ब्रह्मरन्ध्र की ओर सहस्रार-चक्र में परम आत्म-तत्व के साथ सायुज्य कराया जाता है। उस कुण्डलिनी-जागरण के अलौकिक क्षणों में मनुष्य बाहर से तो संज्ञाहीन, चेतना-रहित और चेष्टा-रहित हो जाता है, किन्तु साधक के अन्दर में अलौकिक प्रकाश, प्रगाढ़ रसास्वादन और अनन्त ज्ञान-गरिमा के सब द्वार खुल जाते हैं। संसार के चिकित्सक किसी भी साधन के द्वारा, अथवा शल्य-चिकित्सक के द्वारा इस स्नायु-

शक्ति को जागृत कर सकें, तो अज्ञान की समस्या समाप्त हो जाएगी। कोई जड़ नही रहेगा, किसी मे मूढता नही रहेगी। परम-ज्ञान, परम-सिद्धि प्रत्येक पुरुष प्राप्त कर सकेगा।

अभी तक दिव्य-योगियो ने कुण्डलिनी-साधना के जो क्रम बताये है, वे इतने सरल नही है कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हे अपनी साधना का विषय बना सके। वैसे तो संसार मे भी ऊर्ध्व-चेता, विराट-व्यक्तित्व और अनुपम-तेजस्वी महापुरुष पैदा हुए है, उन सब का महापुरुषत्व उनके कुण्डलिनी-जागरण में निहित होता है। निसर्ग से ही प्रत्येक प्राणी मे उस सूक्ष्म-तन्तु का किसी न किसी रूप में उन्नयन तो होता ही है, किन्तु यह व्यक्ति में चमकने वाला प्रकाश, अलौकिक मेधा, विलक्षण प्रतिभा और आत्म-स्थिति की अवस्थाएँ, कुण्डलिनी के जागरण और उद्बोध से ही सम्बन्धित होती है।

भारत के महान दार्शनिक श्रीशङ्कराचार्य या उनके गुरु गोविन्दपाद, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य कुन्दकुन्द, हरिभद्र सूरि या मस्त आध्यात्मिक योगी आनन्दघन, सिद्ध-पुरुष कबीर, संत नानक या भक्त-हृदया मीरा, ये सब उस कुन्डलिनी के ही साधक थे, जिसके उद्बोध से उन्हे यह अवस्था प्राप्त हुई थी। इन सब महात्माओ ने अलग-अलग पद्धतियों का निर्माण किया है, किसी ने सहज-योग के द्वारा और किसी ने हठ-योग के द्वारा। मंत्र-जप करते हुए जो विद्युत् का प्रवाह हमारे शरीर में बहा करता है, व्याख्यान देते हुए जब विषय और वक्ता की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि जनता उस प्रेम-प्रवाह में बेसुध हो जाती है, यह सब क्या होता है, इसका उत्तर एक ही है कि यह सब कुण्डलिनी योग का ही चमत्कार है।

आसन से उसे जगाया जा सकता है, ध्यान से उसे संचालित किया जा सकता है। और जप से उसे उद्बुद्ध किया जा सकता है। सकल्प-बल की तो आवश्यकता है ही। किन्तु यह विश्वास रखिए कि कुण्डलिनी-जागरण के पीछे आप लगते है, तो चक्र-भेद, बिन्दु-भेद या यौगिक हठ-क्रिया के झमेले मे पड़ने की आपको जरूरत नही रहेगी। जब कुण्डलिनी जरा सी भी करवट बदल लेगी, तो आपका मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणीपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रा चक्र सब जगमगा उठेंगे पराङ्मुख से उन्मुख हो जायेगे, विरसता से सरसता बहने लगेगी। शरीर

के सभी तन्त्र, सभी चक्र और सभी नाड़ियाँ अमृत और आनन्द को इस तरह उँड़ेलना शुरू करेगी कि आप उस परमानन्द में बेसुध होकर लय हो जायेंगे।

दैनिक कुण्डलिनी का अभ्यास करने से देह-अध्यास छोड़ देने से इस आनन्द का कुछ न कुछ अनुभव हर साधक को अवश्य मिल जाता है। यदि व्यवस्थित रूप से इस की साधना की जाए, तो इसका कहना ही क्या। अरिहन्त या सिद्ध-प्रभु की शरण लेकर आसन-शुद्धि कर ली जाए, इसके लिए आवश्यक है कि पद्मासन या सिद्धासन लगाना सही आना चाहिये। मूलबन्ध लगाकर प्राण और अपान का ग्रन्थी बन्धन कर धीरे-धीरे प्राण-प्रवाह के साथ-साथ चक्रमण करते हुए, लम्बे श्वास के साथ-साथ कुण्डलिनी पर प्राण को केन्द्रित कर दिया जाए और संकल्प बल से और प्राणोत्थान क्रिया के सहारे, सुषुम्ना के द्वार के ब्राह्मी नाड़ी के बीच में कुण्डलिनी को सहस्र की ओर उत्कर्षण किया जाए, तो कुण्डलिनी जागरण का कुछ न कुछ रसास्वादन मिल जाता है। खैर, मेरा उद्देश्य कुण्डलिनी-जागरण की साधना स्पष्ट करने का नहीं है, अपितु कुण्डलिनी-योग के प्रति पाठकों की रुचि बढ़े, उसे जानने की जिज्ञासा जागे, कुण्डलिनी जागरण के रसास्वादन के लिए उत्कण्ठा बढ़े, यही इस लेख का उद्देश्य है।

मेरा विश्वास है कि कुण्डलिनी-योग से बढ कर द्वंद्वातीत बनाने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी साधना नहीं है। जहाँ सत्य अभय के साथ खेलता है, जहाँ शक्ति शिव के साथ में विहार करती है, जहाँ कर्म और क्लेश विदग्ध हो जाते है, जहाँ महापरिनिर्वाण की अवस्था साक्षात् हो जाती है, वहीं कुण्डलिनी-योग का जागरण होता है।

मन के लंगड़े को असंख्य देवता भी मिलकर नहीं उठा सकते।

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

विमश :

ध्यान-योग, जैनधर्मः विपश्यना

● श्री बलवन्तसिंह महता

ध्याता का ध्येय के साथ तदाकार हो जाना ही योग है और यही ध्यान और समाधि है। ध्यान में मन की चंचलता और उसके तनाव को दूर कर मन की सुस्थिरता प्राप्त करना उसकी सिद्धि है। गीता में 'योगः कर्मषु कौशलम्' कहा है। जैनागमो मे मन, वचन तथा काया के व्यापारों को योग कहा है। मन की एकाग्रता का सम्पादन कर रागद्वेष के तनावों को अनासक्त हो दृष्टा की भाँति देखते रहने का अभ्यास ही 'विपश्यना' है। हमारे नित्य एवं नैमित्तिक कर्म सामायिक, प्रतिक्रमण और संलेखणा सब विपश्यना है और योग है। अतः यदि हम जैन धर्म को ध्यान योग कहें तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि जैन न तो कोई धर्म है और न कोई सम्प्रदाय और न वह कोई मान्यता है और न वह विधि-निषेध की संहिता। वह केवल जीवन के ध्येय का ध्यान है।

महावीर की पूजा करने वाले और न करने वाले दोनों जैनी हैं। इसी तरह शास्त्रों को मानने वाले और न मानने वाले भी जैनी हैं। परिग्रही और अपरिग्रही भी जैनी माने जाते हैं। यही नहीं महावीर को पूर्ण ज्ञानी मानने वाले और उनमे दोष दिखाने वाले भक्त जैनी ही हैं। तब फिर जैनी कहलाने के लिये जीवन का एक तरीका या प्रकार ही बच रहता है जिससे वे जैनी माने जा सकते हैं। वह है जिसे अंग्रेजी में 'वे ऑफ लाइफ' (Way of life) कहते हैं। जीवन का एक ध्येय है और उसके जीने की एक कला है। हमारा ध्येय आत्मज्ञान या आत्मदर्शन है। दर्शन के लिए दृष्टि की जरूरत होती है और वह है—हमारी श्रद्धा, आस्था या सम्यक् दृष्टि। यदि हमारा ध्येय बम्बई देखने का है तो पहले हमें सही रास्ता अपनाना होगा और वह होगा सम्यक् दृष्टि का। उसके बिना आत्मज्ञान रूपी ध्येय-बम्बई को कभी नही पहुँच पायेगे और न देख पायेंगे।

रास्ते की सुरक्षा के लिये चार भावना रूपी शस्त्रों से सुसज्जित होना होगा। पशु और मानव में भावना का ही अन्तर है। मानव भावनाशील है। मानवता का घर हृदय है और भावनाएँ हृदय से आती हैं अतः ध्याता या साधक को जो ध्येय की ओर आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें अनिवार्य रूप से उन्हें अपनाना ही होगा।

मुख्य भावनाएँ चार हैं—

१. मैत्री—प्राणी मात्र के प्रति जब तक मैत्री भावना नहीं जागृत होती तब तक सत्य और अहिंसा का पालन तो दूर पर उन्हें कोई समझ भी नहीं सकता। दूसरों को दुखी न देखने तथा दूसरों को अपने मित्र के समान मानने की वृत्ति ही मैत्री भाव है। मित्रता में समानता और आदान-प्रदान की अपेक्षा रक्खी जा सकती है पर मैत्री भाव में नहीं। जहाँ ऊँच, नीच, छोटा बड़ा या दोष देखने की वृत्ति है वहाँ यदि मैत्री मानी जाती है तो वह निरा भ्रम है। सत्य और अहिंसा को अपनाने के लिये पहली शर्त मैत्री भावना की स्थापना है। मैत्री भाव के अभाव में सब साधना व्यर्थ और पाखण्ड है। मैत्री भाव ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है आत्मा में समभाव की वृद्धि होती जाती है। समभाव के साथ ही आत्मदर्शन का मार्ग खुलता जाता है।

२. कारुण्य—करुणा और दया में अन्तर जानना चाहिये। भूखे को रोटी का टुकड़ा देना दया हो सकती है पर वह करुणा नहीं है। करुणा वाला खुद भूखा रह कर अपना भोजन उसे खिला देगा। दया में अहम्, संग्रह और स्वामित्व की भावना होने से दोष आता है। जीओ और जीने दो यह भावना हीनयान है। आप अपने लिये दूसरों को जिन्दा रखना चाहते हो। अपना अहम् छोड़ जो दूसरों के लिये जीते हैं वह वास्तव में जीना है और वही महायान है।

३. प्रमोद—बौद्धों ने इसे मुदिता कहा है। मुदिता में स्वयं के सदा प्रसन्न रहने की ध्वनि है किन्तु प्रमोद में दूसरे सत्पुरुषों की खुशी में भी हाथ बटाने के कारण यह ज्यादा व्यापक है और आध्यात्मिक है। मानव के हृदय में एक मानसिक दुर्बलता होती है वह यह कि एक मनुष्य अपने से किसी को आगे बढ़े हुए देखकर ईर्ष्या करता है। कभी-कभी ईर्ष्या से प्रेरित हो उसे गिराने का प्रयत्न भी करता है। जब तक इस प्रवृत्ति का नाश न हो सत्य, अहिंसा आदि पास भी नहीं आ सकते।

४. मध्यस्थ भावना—बौद्धों ने इसी को उपेक्षा कहा है। हम भी उपेक्षा के अर्थ में ही इसका प्रयोग करते हैं। ध्यान और समाधि में शुभा शुभ की दृष्टि से उपेक्षा अर्थ ठीक है कि किन्तु जीवन और व्यवहार में मध्यस्थ हो सक्रिय कदम उठाना ही वास्तव में मध्यस्थ भाव है। जीवन संघर्ष है और उससे बचना पलायन और कायरता है। कायरता आत्मिक दोष होने से पाप है। गान्धीजी ने इसी कारण, कायरता के मुकाबले में हिंसा को अपनाने की सलाह दी थी। बङ्गला देश में हुए अत्याचारों और हत्याओं की क्या उपेक्षा की जायगी ? यदि उपेक्षा की गई तो क्या अनुमोदन नहीं होगा ?

बौद्धों में इन चारों भावनाओं का बड़ा ही महत्व है और इन्हें 'ब्रह्म विहार' कहा गया है। ये चारों भावनाएँ आनन्द के निर्मल निर्झर हैं जो शान्त कर जीवन प्रदान करते रहते हैं।

ध्येय हमारा स्पष्ट और निश्चित है। मार्ग भी हमारा सही है। सुरक्षा के साधन भी हैं। पर साथ मे एक ऐसा नटखट साथी है जिसका न कोई निश्चित ध्येय है और न उसकी प्रतीति। वह हरदम, लोभ, प्रलोभ, भय आदि दिखाता ही रहता है और आपको आगे बढ़ने से रोकता रहता है। वह है मन जो अत्यन्त चंचल ढीठ और मार्ग में ही रोकने वाला है। उसी का उपाय है—'विपश्यना'। विपश्यना ऐसी साधना है जिसे प्रत्येक साधु और श्रावक को अनिवार्य रूप से अपनाना चाहिये।

यह आध्यात्मिकता को बढा कर आत्मा में तेजस्विता लाती है। यह मानसिक और शारीरिक दोषों और रोगों को दूर करती है। यह चालीस मिनिट की साधना है। इसमें न दमन है और न काय-क्लेश। शान्त होकर सीधे पद्मासन लगाकर बैठिये। आपका ध्यान केवल श्वास के आने और जाने पर रहे। होठों के ऊपर श्वास की गति को बराबर अनुभव करते रहें और ध्यान कहीं इधर-उधर न जाय इसका पूरा ध्यान रखें। इसके अभ्यास से एकाग्रता आयेगी और मन की चंचलता दूर होगी। इस अभ्यास के बाद फिर मन को अंग-प्रत्यंगों पर फिराते जाइये और कुछ-कुछ समय के लिये स्थिर करते रहिये। ऐसा करने से फिर आपको संवेदना होगी उसे अनित्य मानिये। वेदना से आपके मानसिक और शारीरिक मल दूर होंगे। संवेदना, पीड़ा से ही नही पर पसीना आदि अन्य प्रकार के अनुभव की भी प्रगट होती है। आप निर्लिप्त हो कर दृष्टा की भाँति सबको देखते रहिये। इसी प्रकार मन के राग-द्वेष के तनावों को भी दृष्टा की भाँति देखते रहिये। इनका दमन नहीं करना

है और न आपको इनमें लिप्त होना है । पूर्व संचित कर्मों के योग से उनका आना स्वाभाविक है । उन्हें खुलकर निकलने दीजिये । आप केवल दृष्टा बने रहिये । यम नियम के साथ यह अभ्यास आपका काफी बढ़ते रहना चाहिये । फिर आप दुनिया के सब ही काम करते रहिये । आपकी अनासक्ति होने के कारण कोई कर्म-बन्धन आपका नहीं होने वाला है । आपका जीवन, राग-द्वेष से दूर कितना अनासक्त रहा है, इसकी कसौटी आपकी मृत्यु के समय होगी और आपके जीवन का मूल्यांकन भी जैन जगत् उसी से करेगा । जैन जगत् में तो मृत्यु के बाद चर्चा ही यह रहती है कि पण्डित मरण हुआ या बाल मरण । इसे ही हम संलेखणा कहते हैं । मृत्यु से हम भय न रखकर एक घटित घटना के रूप में एक सजग अवस्था में स्वयं देखते हुए अन्तिम श्वास को छोड़ें । यही जैन मृत्यु है और यही उसके जैनी होने का प्रमाण देती है ।

विपश्यना से आपकी सांसारिक यात्रा भी बड़ी सरल, सहज, सौन्दर्य और आनन्द को प्रगट करने वाली हो जायगी और आपके सब ही कार्य प्रामाणिक और सुन्दर होंगे । महावीर ने अन्तिम श्वास तक उपदेश आदि का कार्य किया और मृत्यु की संलेखणा करते हुए परम धाम को इसी विपश्यता से पधारे ।

महाराजा श्रेणिक का जो चरित्र हमें अपने शास्त्र में मिलता है उससे न तो हमें विशेष उत्साह होता है और न प्रेरणा ही जीवन सम्बन्धी मिलती है । पर कभी-कभी सन्देह होता है कि क्या ये ही हमारे भावी तीर्थङ्कर होंगे ? और महावीर ने कहीं भूल तो नहीं कर दी है ? पर जब हम उनकी मृत्यु की घटना को इतिहास में पढ़ते हैं तो हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है कि यदि श्रेणिक भावी तीर्थङ्कर नहीं हो सकते तो फिर कोई दूसरा नहीं हो सकता । सब ही जानते हैं कि उनके पुत्र अजातशत्रु-कुणिक ने उन्हें जेल में डाल दिया था । उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न तरह से कथाएँ मिलती हैं । पर इतिहास की कथा इस प्रकार है कि अजातशत्रु ने अपने पिता को मरवाने के लिये जेल में नापितों को भेजा और आज्ञा दी कि उस्तरों से उनके शरीर को चीरा जाय और उसमें नींबू और नमक भरा जाय । नापितों ने यही किया किन्तु इतिहासकारों का कहना है कि श्रेणिक ने इतनी वेदना होते हुए भी चूं तक नहीं किया और अपनी मृत्यु की एक घटित घटना के रूप में संलेखणा करते रहे । यह थी जैन मृत्यु जो महावीर के उपदेश का फल था और वह विपश्यना के द्वारा प्रगट हुआ ।

मनोवैज्ञानिक परिदृष्टि से-
'ध्यान' का स्वरूप-विश्लेषण

● डॉ० वीरेन्द्र सिंह

मानव की मानसिक एवं अतिमानसिक विकास-यात्रा से यह स्पष्ट होता है कि मानव नामधारी 'प्राणी' विकास-क्रम की सबसे संगठित और विकसित इकाई है और इस दृष्टि से, मानव अब उस दशा तक पहुँच चुका है जहाँ उसका भावी-विकास शारीरिक और भौतिक क्षेत्र में न होकर, मानसिक एवं आत्मिक-क्षेत्र में सम्पन्न होने की संभावना है क्योंकि शरीर संरचना की दृष्टि से, वह अन्य जीवधारियों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है।[1] मानव का जो सबसे अधिक विशिष्टीकृत रूप है, जो अन्य प्राणियों में प्राप्त नहीं होता है, वह है मस्तिष्क और मन। विकास इसी मस्तिष्क की देन है जो क्रमशः उसकी मानसिक-प्रक्रियाओं (Psychical processes) को एक अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। यहाँ पर मानव की वस्तुपरकता क्रमशः कम होने लगती है और वह अध्यांतरिक (Subjective) क्षेत्रों के रहस्यों में पदार्पण करने लगता है। यह मत केवल कल्पना या फान्तासी नहीं है, पर अनेक विकासवादी वैज्ञानिकों ने इसके महत्त्व को स्वीकारा है और साथ ही, आधुनिक मनोविज्ञान भी क्रमशः इसी ओर अनुसंधान में अग्रसर हो रहा है। इस दृष्टि से, योग साधना का विवेचन अनेक मनोवैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया है और एक मनोवैज्ञानिक कैरिंगटन का तो यहाँ तक मत है कि योग-साधना एक मान-

---

१—विकासवादी-चिंतको यथा लीकाम्टे ड्यू नूं, जे० हक्सले तथा महर्षि अरविंद ने मानसिक चेतना के उपर्युक्त रूप को ही व्याख्याश्रित किया है। दे० ड्यू नूं की पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी, पृ० ५५

सिक-साधना है और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानसिक-प्रक्रियाओं के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों की जानकारी इन योगियों को अवश्य थी जो अभी तक हम नहीं जान पाये हैं।[२] यहाँ पर आकर यह भी स्पष्ट होता है कि मानसिक क्षेत्र का स्वरूप केवल मात्र "मन" तक ही सीमित नहीं है, वरन् 'मन' से भी अधिक-सूक्ष्म 'प्रत्ययों' का आविष्कार भारतीय मनोविज्ञान की देन है जो आधुनिक परामनोविज्ञान (Parapsychology) का भी एक क्षेत्र है। महर्षि अरविंद ने, इसी से, मानसिक चेतना के ऊर्ध्व रूप को अतिमानस की संज्ञा दी है जो मन की अधिक सूक्ष्म स्थिति है अथवा 'वह' मानसिक आरोहण का एक महत्त्वपूर्ण कदम है।[३] मानसिक चेतना के विकास में 'मन' वह पहला चरण है जिसके आधार से चेतना का ऊर्ध्व आरोहण सम्भव होता है। यही कारण है कि हिंदू आध्यात्म-मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) में मन से भी सूक्ष्म 'प्रत्ययों' की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। इन 'प्रत्ययों' का स्वरूप सापेक्ष है, वे किसी भी दशा में निरपेक्ष नहीं हैं। आधुनिक विज्ञान की यह सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रस्थापना है कि सापेक्षवाद' (Relativity) ब्रह्मांड और व्यक्ति का सत्य है। मनोविज्ञान का विकास एवं विस्तार इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि निरपेक्ष दशा में कुछ भी सम्भव नहीं है, अस्तित्व एवं भविता दोनों के लिए सापेक्ष-दशा एक आवश्यक प्रत्यय है। अतः मन से आगे का आरोहण निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। इंद्रियाँ सबसे अधिक-स्थूल हैं और इनका संयोजन एवं अनुशासन 'मन' के द्वारा होता है, अतः इन्द्रियों से सूक्ष्म 'मन' है। मन से सूक्ष्म 'प्राण' है और प्राण से सूक्ष्म 'बुद्धि' है। और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है, वह आत्मा है।[४] इसी प्रकार मानसिक चेतना का स्तर विभाजन 'गीता' में श्रीकृष्ण ने किया है। यही कारण है कि मन को केंद्रित करने के लिए इंद्रियों पर अधिकार या संयम आवश्यक है। इसे ही हम इंद्रिय-निग्रह की संज्ञा देते हैं। 'स्व' या *'जीवात्मा (Self) इसी निग्रह के द्वारा मानसिक चेतना के ऊर्ध्व स्तरों* का क्रमशः उद्घाटन करती है। मनोविज्ञान की शब्दावली में यही इंद्रियों या प्रवृत्तियों का उन्नयन या उदात्तीकरण (Sublimation) है। यही

२—दि सिक वर्ल्ड, हेरीवार्ड कॅरिंगटन, पृ० १८१

३—दि लाइफ डिवाइन, महर्षि अरविंद, पृ० २१३

४—हिंदू साइकोलोजी, स्वामी अखिलानंद, पृ० ६३

उन्नयन की प्रक्रिया कल्पना, विचार, धारणा, चिंतन आदि के क्षेत्रों में क्रियाशील होती है जब 'मन' किसी 'वस्तु' के प्रति केंद्रित होने की अवस्था में आ जाता है। यह मन का केन्द्रीकरण ही वह आरंभ-बिंदु है जहाँ से हम 'ध्यान' के स्वरूप पर विचार कर सकते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'ध्यान' का स्वरूप विवेचन किसी संप्रदाय या धर्म को दृष्टि में रखकर नही किया जा रहा है, यह दूसरी बात है कि वैज्ञानिक दृष्टि से किए गए इस विश्लेषण में हमें योग, तंत्र और जेन विचार पद्धति की अनेक प्रस्थापनाओं की पुष्टि भी प्राप्त हो जाए। मेरी तो यह मान्यता है कि यदि किसी विचार या 'धारणा' को अनेक ज्ञान-क्षेत्रों के प्रकाश में समझा जाए, तो उसे धारणा (Concept) की पुष्टि ही नहीं होती है, पर उसका क्षेत्र भी अधिक व्यापक होता है।

इस दृष्टि से, 'ध्यान' के स्वरूप को समझने के लिए, इस 'प्रत्यय' को एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में समझना एक वैज्ञानिक दृष्टि होगी। इस मानसिक प्रक्रिया में 'ध्यान' की स्थिति तक पहुँचने के लिए, तीन मानसिक स्तरों अथवा प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। ये दशाएं या स्तर हैं,—अवधान (Attention) संकेंद्रीकरण (Concentration) और ध्यान (Meditation)।

अवधान की प्रक्रिया में 'मन' को किसी वस्तु की ओर चेतनयुक्त किया जाता है। यही कारण हैं कि मनोविज्ञान में 'अवधान' और चेतना-युक्त होना' लगभग समान अर्थ को देते है। पिल्सबरी तथा मैकडोनल आदि मनोवैज्ञानिकों ने अवधान को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है जो मन की एंद्रिय अभिज्ञान (Conative) प्रक्रिया से सीधा सम्बधित है।[५] अतः 'अवधान' में मन अपने अभिज्ञानात्मक पदार्थ से पूर्ण रूप से संतुष्ट रहता है और उस 'पदार्थ' में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है। यही कारण है कि 'अवधान' में 'मन' वाह्य अनुभवों के प्रति अधिक क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में मानसिक-ऊर्जा (Mental Energy) 'वस्तु' के प्रति गतिशील रहती हे। वाह्य वस्तुओं के प्रति 'मन' की यह गतिशीलता 'मन' का केवल एक क्षेत्र है। 'मन' का एक अन्य क्षेत्र वह भी है जिसमें मन स्वयं अपने ही मूल

५—मैनुयल आफ साइकोलोजी, स्टाउट, पृ० १२५

स्वरूप पर ध्यान देता है और यह स्थिति उसी समय सम्भव है जब 'मन' वाह्य पदार्थो से अपने को खींच ले और एक मौन और शांति के वातावरण में एकाग्र हो जाए।[६] यही वह स्थिति है, जहाँ 'प्रज्ञा' का उदय होता है जो ऐंद्रिय जगत से सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष होता है।

यह सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया एकात्म-अवस्था का प्रथम चरण है। इस अवस्था में ज्ञानात्मक (Conative) इंद्रियाँ, एक प्रकार से बाह्य वस्तु, जो अनुभव का विषय है, उससे आंतरिक रूप से 'एकता" की दशा तक पहुँचती हैं। ज्ञान-प्रक्रिया के अन्तर्गत फ्रायड ने भी मन' को तीन भागों में बाँटा है जिसे उसने ईड, इगो (Ego) और सूपर ईगो (Super ego) की संज्ञा दी है जो भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत मनस्, अहंकार और बुद्धि के रूप में प्राप्त होते हैं। मन के ये तीन विभाग ही मानसिक प्रक्रियाओं के स्रोत हैं जो इच्छा, आत्म चेतना, चिंतन तथा निर्णय की प्रक्रियाओं के आधार हैं। मनस् वह विभाग है जो अनुभव-पदार्थ के स्वरूप एवं प्रकार से सम्बंधित है और इस दशा में मन और पदार्थ का आपसी संवाद होने से 'मन' पदार्थ के कारण परिवर्तित एवं परिष्कृत होने लगता है। जब इस प्रकार का स्पन्दन मन और अनुभव-पदार्थ में होने लगता है, तब व्यक्ति का चेतन जगत 'अहंकार' की भावना से अनुप्रेरित होता है। अंत में, 'बुद्धि' का विभाग आता है जो मन का एक नियंत्रण केन्द्र माना जाता है क्योंकि बुद्धि एक प्रकार का संग्रहालय है जहाँ पर व्यक्ति अपने विगत अनुभवों को संग्रहीत करता है। इन संग्रहीत अनुभवों के आधार पर वह निर्णय भी लेता है और अवधारणाओं, विचारों तथा प्रत्ययों का सृजन भी करता है। मनस् से लेकर बुद्धि तक का विस्तार मानसिक क्रिया का एक विकासशील स्वरूप है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि मन की क्रिया केवल 'वर्तमान' तक ही सीमित नहीं है, पर वह बुद्धि के द्वारा अनुपस्थित पदार्थ अथवा विचार के प्रति प्रेरित हो सकती है। वह, एक प्रकार से, विगत और आगत में भी प्रविष्ट कर सकती है। यही 'मन' का सूक्ष्म स्तर है जो सूपरईगो या बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी 'वस्तु' के सही स्वरूप का ज्ञान उसी समय हो सकता है जब मन क्रमशः संकेन्द्रण (Concentration)

६—दि सिक वर्ल्ड, कैरिंगटन, पृ० १८७

की ओर अग्रसर होता है। उस दशा में विचारणा का स्वरूप भी मुखर होता है जहाँ पर विचार सुनियोजित रूप से आते हैं और इनका स्वरूप अनायास या आकस्मिक नहीं होता है जैसा कि हमें विचार-प्रक्रिया या चिंतन (Thinking) में प्राप्त होता है। विचारणा की यह नियोजित दशा मन की उस क्रिया से सम्बन्धित है जहाँ पर मन एक निश्चित एवं "सीमित" क्षेत्र में कार्य करता है। इस दशा में विचार केवल सीमित क्षेत्र में ही केन्द्रित रहेंगे और मन एक गहन 'तल्लीनता' का अनुभव करेगा।[७] यह हम प्रत्येक दिन की चर्चा में अनुभव कर सकते है जब हम किसी कार्य या पुस्तक के पढ़ने में पूर्णरूपेण एकाग्र हो जाते है, तब हम इसी 'संकेन्द्रण' की अवस्था तक पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार, विचारणा अथवा संकेन्द्रण के क्षेत्र में 'मन' अनेक प्रकार के विचारों से अनुप्रेरित होता है जो एक छोटे समूह के अन्दर कार्यशील रहते हैं। इसे ही हम 'धारणा' की दशा भी कह सकते हैं जो योग की एक पारिभाषिक शब्दावली है। यह दशा सामान्य मानसिक प्रक्रिया से जरा भिन्न है क्योंकि मानसिक क्रिया में विचारों का समूह अनियंत्रित रहता है और वह अनेक प्रकार की विचारणाओं में अशान्त रहता है। परन्तु 'ध्यान' में आकर सीमित एवं सुसम्वद्ध विचारों का समूह वर्तमान रहता है और मन इसी 'सीमित' क्षेत्र पर पूरा केन्द्रित हो जाता है। साधारण विचार-प्रक्रिया (Thinking) में विचारों का क्रम ज्ञानेन्द्रियों के क्रियाओं के साथ चला करता है[८] जबकि संकेन्द्रित मानसिक-क्रिया (या ध्यान) में ज्ञान-इन्द्रियों का अस्तित्व पृष्ठभूमि में चला जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि 'ध्यान' एक मानसिक प्रक्रिया का विशिष्टीकृत एवं केन्द्रित रूप है जहाँ विचार-प्रक्रिया तीन तत्वों से प्रेरित होती है। प्रथम दशा विचार-पदार्थ की है जिसकी ओर विचार प्रेरित होता है। द्वितीय दशा विचार-प्रक्रिया की है जो व्यक्ति के मन से सीधी सम्बन्धित है। तीसरी अवस्था वह है जो मानसिक क्रिया का फल है। इसे ही विचारणा-प्रक्रिया का स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार, विचारक (व्यक्ति), मानसिक अनुभव, और अनुभव-पदार्थ—ये तीन ऐसे महत्वपूर्ण

७—योगा एण्ड पर्सनाल्टी, पृ० ११४, के० एस० जोशी

८—दि सिक वर्ल्ड, पृ० १८८

तत्त्व हैं जो विचार-प्रक्रिया के अंग हैं। साधारण विचार-प्रक्रिया में अनुभव अनेकमुखी होते हैं पर 'ध्यान' में इनका स्वरूप अधिक तीव्र तथा केन्द्रित होता है जहाँ अन्य अनुभव तथा विचार व्यवधान नहीं डाल पाते है। ज्ञान प्राप्त करने की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में दो महत्त्वपूर्ण क्षणों का योगदान रहता है—एक क्षण वह होता है जो अनुभव का क्षण है और दूसरा क्षण उसके प्रतीति का होता है। प्रथम क्षण में मन और उसके अनुभव-पदार्थ में साहचर्य होता है जिसके फलस्वरूप उनके मध्य "संवाद" की स्थिति होती है। इस क्षण की समाप्ति के बाद अनुभव की प्रतीति होती है जो उस 'वस्तु' को "नाम" भी देती है और साथ ही धारणाओं, विचारों तथा निर्णयों को 'शब्दों' के माध्यम से व्यक्त करती है। सामान्य विचार-प्रणाली (Thinking) में ये दोनों क्षण (अनुभव और प्रतीति) समानान्तर रूप से चलते हैं जिसमें विभिन्न पदार्थों के विभिन्न पक्षों का समाहार होता है।[६] इसके विपरीत 'ध्यान' में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक 'पदार्थ' के केवल एक 'पक्ष' पर ही केन्द्रित रहती है। इसी से 'ध्यान' मन की एक विशिष्टीकृत केन्द्रित क्रिया है।

कैसा ध्यान धरा है, री जोगी।

नगन रूप दोऊ हाथ झुलाये, नासा दृष्टि खड़ा है री जोगी ॥१॥
क्षुधा तृषादि परीसह विजयी आतम रंग पाया है।
विषय कषाय त्यागि धरि धीरज, कर्मन संग अड़या है ॥ री जोगी० २॥
बाहिर तन मलीन सा दीखत, अंतरंग उजला है।
जगतराम लखि ध्यान साधु को, नमो नमो उचरा है ॥ जोगी ०३॥

— जगतराम

६—साइकोलाजी आफ पर्सनाल्टी, आर० स्टैगनर, पृ ५३

मनोवैज्ञानिक :

ध्यान और रोगोपचार

● साध्वी श्री मंजुला

मनुष्य के शरीर और मन में गहरा अनुबन्ध है। मन की स्वस्थता से शरीर प्रभावित होता है और शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक प्रसत्ति का हेतु बनता है। इसी प्रकार अस्वास्थ्य की स्थिति भी एक दूसरे पर अपना प्रभाव छोड़ती है। अस्वास्थ्य मनुष्य को काम्य नहीं है, फिर भी वह इससे आक्रान्त हो जाता है। क्योंकि जब तक अस्वास्थ्य के कारण विद्यमान हैं तब तक न चाहने मात्र से वह टल नहीं सकता।

शारीरिक अस्वास्थ्य अपने आप में अस्वस्थता नहीं है। वह तो अस्वस्थता का लक्षण मात्र है। लक्षण का उपशमन करने से मूलभूत कारण उपशान्त नहीं हो सकते। अस्वास्थ्य के मूल कारणों का उपचार होने से ही व्यक्ति रोग-मुक्त हो सकता है।

अस्वास्थ्य का प्रतिकार करने के लिए अनेक चिकित्सा पद्धतियों का आविष्कार हो चुका है। एलोपैथिक, होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक, बायोकेमिक, प्राकृतिक चिकित्सा, स्वमूत्र चिकित्सा आदि ऐसी प्रचलित पद्धतियां हैं। इनमें कुछ पद्धतियाँ रोग के मूल को पकड़ कर उपचार का मार्ग दर्शन देती हैं और कुछ ऊपर-ऊपर से रोग का उपशमन करती हैं। मनुष्य अपनी आस्था और सुविधा के अनुसार इन पद्धतियों का आलम्बन लेते हैं।

प्राचीन समय में ऋषि-मुनि ध्यान के माध्यम से चिकित्सा करते थे। इस चिकित्सा ने बड़े-बड़े चिकित्सकों को आश्चर्य में डाल दिया। कुछ व्यक्ति ध्यान की पद्धति से असाध्य रोगों से मुक्त हुए। वर्तमान में इस चिकित्सा पद्धति का नया संस्करण है "हीलिंग"। हीलिंग चिकित्सा का वाचक इंग्लिश शब्द है। ध्यान के प्रयोगों से स्वास्थ्य-लाभ की यह

विलक्षण पद्धति है। इसमें ध्यान को किसी बिन्दु पर एकाग्र करके शक्ति को केन्द्रित किया जाता है। उस केन्द्रित शक्ति के संप्रेषण से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। इस चिकित्सा (साइकिक हीलिंग) के मुख्यतः तीन प्रकार हैं—

(१) प्राणिक चिकित्सा (प्राणिक हीलिंग)
(२) मानसिक चिकित्सा (मेन्टल हीलिंग)
(३) आध्यात्मिक चिकित्सा (स्पीरिच्युएल हीलिंग)

१. प्राणिक चिकित्सा—आत्मशक्ति अथवा प्राणों के संप्रेषण से होने वाली चिकित्सा को प्राणिक चिकित्सा कहा जाता है। इसमें श्वास, दृष्टि, फूँक और स्पर्श के द्वारा चिकित्सा की जाती है। यह पद्धति सफल होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है। आँख में कुछ हो जाता है तो वहाँ श्वास से फूँक दी जाती है। गर्म श्वास की भाप वहाँ ज्वाला की भाँति गिरती है और आँख ठीक हो जाती है। ऐसे और भी अनेक प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु उनकी वैज्ञानिकता ज्ञात नहीं होने से अन्धश्रद्धा कहकर टाल दिया जाता है।

प्राणिक चिकित्सा में रोगी के रुग्ण अवयव पर ध्यान केन्द्रित करके श्वास फेंका जाता है, उस ओर अपलक देखा जाता है, स्पर्श किया जाता है, तथा कुछ अवयवों पर फूँक दी जाती है। इस सम्बन्ध में एक और पद्धति ज्ञातव्य है। रोगी के शरीर पर जिस भाग में पीड़ा का अनुभव हो वहाँ से तीन-चार इंच की दूरी पर हाथों की अँगुलियों द्वारा ऐसी क्रिया करना जो वहाँ से कुछ बाहर करने की तरह प्रतीत हो। रोगी को लेटा कर या बैठा कर उसके पूरे शरीर पर यह प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रयोग में हाथों को ऊपर से नीचे की ओर लाना है। अँगुलियाँ सीधी और अलग-अलग रहे, यह आवश्यक है। शरीर के पार्श्व भाग में अंगुलियों को पानी में तैरने की तरह चलाना। दूसरे प्रयोग में अंगुलियों को परस्पर सटाकर नीचे से ऊपर की ओर हिलाते हुए ले जाना तथा पार्श्व भाग पर हस्त तल का कम्पन करना। यह प्रयोग करते समय ऐसी कल्पना की जाए कि हम रोगी को प्राणिक शक्ति के झरने में नहला रहे हैं। अंगुली के किनारों से भीतरी शक्ति उसमें उंडेल रहे हैं। इस क्रिया में पूर्ण जागरूकता रहे और रोगी को आराम अनुभव कराने के संकल्प दोहराए जाएँ।

२. मानसिक चिकित्सा :— मानसिक संकल्प के द्वारा सेल्स माइन्ड (तन्तु मस्तिष्क) पर नियन्त्रण करना तथा अवचेतन मन को सेल्स की सक्रियता के लिए प्रेरित करना । यह प्रयोग व्यक्ति स्वयं अपने पर कर सकता है और दूसरे पर भी कर सकता है । इसमें संकल्प की प्रधानता है।

इस प्रकार का संकल्प किया जाय कि शरीर का अमुक भाग मजबूत हो रहा है, समर्थ हो रहा है, बल और शक्ति बढ़ रही है, बिल्कुल ठीक हो रहा है, अपना काम करने में सक्षम हो रहा है, दिन प्रतिदिन दृढ़ दृढ़तर और दृढ़तम होता जा रहा है, शरीर का यह भाग बिल्कुल ठीक है, तैयार है, प्रसन्न है, सुखी है, चमकीला है और शक्ति सम्पन्न है । शरीर के लिए जिस तत्त्व की अपेक्षा है वह शक्ति और स्वास्थ्य मैं हर समय संप्रेषित कर रहा हूँ ।

३. आध्यात्मिक चिकित्सा—आत्मिक शक्ति को श्वेत स्रोत के रूप में बहाने की कल्पना करना । उस स्रोत को एक नहर या झरने के रूप में परिकल्पित कर रोगी व्यक्ति को उसमें डुबकियाँ दिलाना । एक अन्य अभिमत के अनुसार आध्यात्मिक हीलिंग का अर्थ है—ईश्वरीय शक्ति का अपनी शक्ति से स्पर्श करना ।

इटली में इस चिकित्सा के कुछ प्रयोग हुए हैं । किसी समय वहाँ एक राजा था । वह रोगी व्यक्ति के रोगग्रस्त अवयव पर अपनी दृष्टि या श्वास फेंकता था । उससे वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता था । लोग उस राजा को 'किंग डिजीज' कहने लगे । कुछ वैज्ञानिकों ने इस तथ्य पर विशेष अध्ययन किया । अपने अध्ययन का निष्कर्ष देते हुए उन्होंने कहा —'किंग डिजीज' के पास जो शक्ति है, वह सबके पास है । हर व्यक्ति उस शक्ति का अनुभव और उपयोग कर सकता है, पर इसके लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है । एकाग्र होने पर व्यक्ति को अनुभव होगा कि उसकी आँखों से किरणें निकलकर रुजाग्रस्त भाग पर अपना काम कर रही है ।

चिकित्सा के ये प्रयोग पाँच से दस मिनिट तक किए जा सकते हैं तथा समय की दृष्टि से एक सप्ताह से चार सप्ताह तक यह क्रम चलाया जा सकता है । इस क्रम से कुछ व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है । जो व्यक्ति योगसाधना में गहरे उतरे हुये हैं उन्हें अतिरिक्त श्रम करने की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि एकाग्रता उन्हें सहज प्राप्त है ।

एकाग्रता और दृढ सकल्प इस चिकित्सा पद्धति के मूलभूत हेतु हैं। अब अपेक्षा इस बात की है कि इस पद्धति का व्यापक स्तर पर उपयोग हो।

झाडा, थुथकारा, मन्त्र-तन्त्र आदि के जो प्रयोग होते हैं, सम्भव है साइकिक हीलिंग के अविकसित अथवा प्राग्वर्ती रूप रहे हों। आज भी कुछ व्यक्ति ऐसे प्रयोग करते है और वे उनके माध्यम से ससार की पूजा पा रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन प्रयोगों में न कोई जादू है और न चमत्कार। ध्यान के द्वारा इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती है।

कुछ व्यक्ति अर्थ के अभाव मे स्वास्थ्य लाभ से वचित रह जाते हैं, क्योंकि वर्तमान प्रचलित चिकित्सा पद्धति अर्थ पर ही आधृत है। किन्तु जो व्यक्ति ध्यान-साधना के द्वारा स्वस्थ रहना चाहते हैं, उनके लिए न चिकित्सकों की अपेक्षा है, न अर्थजन्य विवशता है और न अधिक श्रम सापेक्षता है। इस अमूल्य चिकित्सा पद्धति से शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य भी प्राप्त होता हे। चिकित्सा विशेषज्ञ इस पद्धति को काम लेगे तो भारतीय योग विद्या एक बार फिर पुनरुज्जीवन प्राप्त कर सकेगी।

एक बार किसी ने श्रीमद् राजचन्द्र से पूछा— 'यदि कोई हमसे पूछे कि कौनसी प्रतिक्रमण करते हो, तो उस समय हमे क्या कहना चाहिए।

श्रीमद् ने कहा—

'तुमको कहना चाहिए कि पाप से निवृत्त होना हमारा प्रतिक्रमण है।

★

जो कुछ अन्तराय बनकर आये उसे विदा कर देना होगा — योग की यह एक प्रधान शर्त है।

—अरविन्द घोष

★

ध्यान : एक सन्दर्भ, एक आवश्यकता

● श्री अजीत भण्डारी

स्वाध्याय का सम्बन्ध ध्यान के साथ है। ध्यान चार हैं :— (१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान तथा (४) शुक्ल-ध्यान। मानव अनन्त काल से आर्त्त और रौद्र के चक्कर में घूम रहा है। बाहर से तो सभी खुशहाल स्थिति में दीखते है लेकिन भीतर से देखने पर मालूम होगा कि धर्म सभा में बैठे लोगों में से भी कई आर्त्त-ध्यान के चक्कर में फँसे हुए होते हैं। नींद आना, गर्दन नीची झुकाकर जमीन कुरेदना ये किसकी निशानी हैं, आर्त्त ध्यान की। आर्त्त-रौद्र का मतलब केवल चिन्ता, फिकर, हाय-हाय से ही नहीं है, आर्त्त ध्यान का पेटा बहुत बड़ा है रौद्र ध्यान से भी आर्त्त ध्यान बड़ा है। तन, धन, परिवार, पोजीशन (Position) की चिन्ता करना, आयोजन करना, धन कैसे मिले, तन कैसे तन्दुरुस्त हो, सब सम्मान-सुख कैसे मिले ? ये विचार-आचार-करतूत सब आर्त्त ध्यान हैं।

ध्यान चार बताए हैं। इनमें से दो को छोडना तप है तथा दो का आराधन तप है। अगर एक बहिन-भाई जो पारिवारिक वियोग से पीड़ित है, आर्थिक धनाभाव है, हानि से चोट खाकर चिंतित है, अगर वह चिन्ता को भुलाता है, आर्त्त ध्यान छोड़ता है तो तप है। उपवास करना, भूखे रहना ये तप तो बहुत सीखा हुआ है, बहुत अभ्यास है, दो टाइम का खाना छोड़ना उतना मुश्किल नही है जितना चिन्ता का चक्र बन्द करना मुश्किल है। आर्त्त, रौद्र को छोड़ना तप है, विलापात पाप है। बुखार में माथा जला, हैरानी हुई, ऐसे लगा कि दीवार के सिर टकरा दूँ, हैरान होते-होते ज्ञान भाव आ गया। मन में अगर सोच लिया कि कर्मो का फल भुगतना ही पड़ेगा और ऐसा समझ कर चुप हो गये तो ये क्या हो गई, निर्जरा।

परिवार लेकर बैठे हो। परिवार में दस व्यक्ति हैं। दसों ही व्यक्ति अलग-अलग वक्त जन्म लेते हैं और अलग-अलग वक्त ही जाएगें, यह निश्चित है। लेकिन कुछ भी सोचा नहीं और हाय-हाय करने लग गए! हाय-हाय किया तो आर्त्त ध्यान हुआ और कर्म बन्धा।

किसी के साथ अनवन, टकराहट, किसी को फँसाने की तरकीव लड़ाना, ऐसा फँसाऊँगा कि जिन्दगी भर याद करेगा। कटघरे की हवा नहीं खिलाई तो क्या ऐसा समझेगा। वन्दी खाने में डलवादूँ, इज्जत-हानि करने की करतूत सोचना ये रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान में आदमी भयङ्कर वनता है। मन, भाव, आचार, भयङ्कर वनते हैं तो ये जो स्थिति है वह अनन्त काल से लगी हुई है। जितना-जितना परिग्रह ओछा होता है उतना-उतना ही आर्त भी कम होता जाता है। वचपन में चिन्ता ज्यादा थी या आज! माँ की गोदी में वचपन में नंगे रहकर घूमना ज्यादा पसन्द करते थे, तव चिन्ता ज्यादा थी या आज! आज आपके पास सव कुछ है लेकिन फिकर में पड़ जाओगे! जो है उसको भूल जाओगे, जो नहीं है उसकी फिकर करने लग जाओगे। एक भाई गाँव में पहुँच गया, जरदे का शौक था लेकिन उसे जरदा नहीं मिला। और वो हैरान हो गया। ये आर्त-ध्यान कैसा? जितना-जितना परिग्रह वढ़ता जाएगा उतनी-उतनी चिन्ता वढ़ती जाएगी। अगर चिन्ता से फारक्त होना है, आर्तध्यान से हल्का होना है तो जितना परिग्रह ओछा किया जायेगा; आर्त उतना ही कम होगा।

धर्म ध्यान शुभ ध्यान है इसलिये उसमें चित्त वृत्ति को आगे वढ़ाने के लिये स्वाध्याय सहायक होता है। धर्म ध्यान के चार आलम्बन हैं। (१) वाचना (२) पृच्छा (३) पर्यटना तथा (४) धर्म कथा। शुक्ल ध्यान में किसी भी आलम्बन की जरूरत नहीं है। अपने आप में शक्ति, साधक वना लेता है। इसलिये आचार्यों ने कहा सारी क्रिया ध्यान के विना वेकार है।

दृष्टि की ओर देखने से ही दृष्टि मुड़ती है, दृष्टि मुड़ेगी तो समझ वदलेगी और समझ वदलते ही विचार वदलेंगे तथा विचार वदलेंगे तो शुभ्रता आते ही आपका ध्यान भी वदलेगा। जिससे मानव आर्तरौद्र ध्यान से वचे और शिव मार्ग में लगने का श्री गणेश कर सके, यह शुभ ध्यान है। शुभ ध्यान की साधना के रूप पहले साधक को अपनी भूमिका वनानी होगी। मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा सामंजस्य ये ४ भावनाएँ तथा १२ अन्य

भावनाएँ। ध्यान का स्वरूप समझने के लिये ध्याता, ध्येय और ध्यान ये समझना पड़ेगा। यों तो संसार के प्राणी समुच्चय दृष्टि से कहा जाय तो ध्याता हैं। लेकिन कौन किसका, किस ध्यान का ध्याता है। शुभ ध्यान का है अथवा अशुभ ध्यान का ? विना ध्यान के तो जीव ही नहीं है। अनन्त जीव आर्तध्यान के शिकार बने रहे हैं और उनको इस ध्यान में ध्यान के लिये किसी अधिकारीपन की योग्यता पाने की जरूरत नहीं रहती। वन को मनसा की हो तथा लालसा बढ़ी-चढ़ी होगी तो वह आर्त-रौद्र का केन्द्र बनेगा। इसके विपरीत अगर धर्म ध्यान का अधिकारी बनना है तो क्रोध, मान, माया और लोभ में जीव हल्का होगा तो धर्म ध्यान का अधिकारी होगा। धर्म ध्यान के अधिकारी तो आप बनना चाहते हैं परन्तु क्रोध और मान मन्द नहीं है तो धर्म ध्यान के अधिकारी कैसे बन पाओगे ?

आग पर रखा पानी जब खोल रहा होता है तो वह नाचता रहता है, उछलता रहता है, हिलता रहता है, नीचे की आंच के कारण उस आग की तेजी के कारण, उसकी स्थिरता खत्म हो जाती है तो आप सोचिये आत्मा की मानसिक स्थिरता कैसे कायम रहेगी यदि उसे क्रोध की भट्टी में उकाला जाये। उस वक्त मन कैसे शान्त रहेगा ?

धर्म ध्यान का अधिकारी कौन ? ४ थे गुण स्थान से धर्म ध्यान चालू होता है। आध्यात्मिक विकास की १४ श्रेणियाँ हैं। उन चौदह श्रेणियों में चौथे नम्बर पर दृष्टि सुधर जाती है तो धर्म ध्यान का प्रकाश और ज्ञान प्राप्त होता है। जितना-जितना व्यक्ति आरम्भ परिग्रह से चिपका रहता है, वह आर्तध्यान का शिकार होता है यह शास्त्रों का कथन है। शास्त्रों ने अनन्त सत्य को प्रकाशित किया है। बिना अनुभव उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है। दूसरे ग्रन्थों और शास्त्रों मे फर्क है, शास्त्रों का सत्य अनन्त काल के लिये प्रामाणिक सत्य होता है। आरम्भ, परिग्रह की चिन्ता है, लगाव है, उतना ही ज्यादा आरम्भ-परिग्रह के कारण आर्तरौद्र बढ़ेगा। इसलिये आर्तरौद्र से अपने आपको दूर हटाना है तो धर्म ध्यान को पकड़ना होगा। उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में भगवान ने कहा—'धर्म ध्यान पाने के अधिकारी कैसे बनोगे ? अज्ञान कैसे दूर होगा। मोह कैसे मन्द होगा ? जहाँ तक कषाय तीव्र रूप से है वहाँ तक धर्म ध्यान के निकट आना मुश्किल है और कषायों को मन्द करने का एक ही रास्ता है और वो मार्ग है—गुरु-वृद्ध सेवा ! कहा कि जीवन को घड़ने के लिये उसे

ऊँचा उठाने के लिये तुम्हारी संगति ऊँची होनी चाहिये। गुरू की सेवा, गुणों में वृद्धों की सेवा की अपेक्षा है। वयसा वृद्ध नहीं। वेद में कहा है कि किसी के सिर के वाल सफेद हो गये हैं इसलिये वह वृद्ध नहीं है, यों कभी-कभी २०-३० वर्ष के जवान के भी बाल सफेद हो जाते हैं। बुजुर्गी का मतलब दिमागी होता है। दिमाग की चंचलता का कम होना ही बुजुर्गी है। गान्धीजी कहते थे कि 'भाई तुम्हारा दिमाग तो बुजुर्गों का हो तथा तन में रक्त का संसार जवानी का हो। क्रिया करने की शक्ति जवानों सी होनी चाहिये तथा दिमाग बुजुर्गों का।

नगर के लोगों का आहार-विहार गलत; संगति गलत; हर रोज सिनेमा में जाने का मौका। सिनेमा आर्तरौद्र को बढ़ाने वाला है। सिनेमा में प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन देखे; जासूसी ढंग सीखे; चोरियें करनी और जेवें काटनी सीखीं। सामने वाले को मारना सीखा, जेल की दीवारें फांदकर भागना सीखा। एक अकेला आदमी ये सारा खेल कहाँ से सीख लेता है। भट्टी के पास रहने वाला लोटा कभी ठण्डा नहीं रह सकता। बस इसी तरह कुसंगति में रहने वाला बच्चा भी ठण्डे-मिजाज का नहीं हो सकता है। अतः अज्ञानी तथा ऐसे लोगों की संगति से बचना धर्म ध्यान के निकट जाना है। कषाय घटाने का अन्य उपाय सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन करना। लेकिन आज का सबसे बड़ा ग्रन्थ सिनेमा है, यूँ तो हम लोग आज स्वाध्याय की बातें करते हैं, बड़ी-बड़ी डींगें हांकते है लेकिन करने के नाम पर कितना करते हैं, यह आप भी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ।

जिस अध्याय में कौड़ी-पैसा नहीं लगे, मन मस्तिष्क शान्त हो, इज्जत बढ़े, आबरू बढे, ऐसे सद्ग्रन्थों का अध्ययन मुश्किल लेकिन सिनेमा देखने में पैसे बरबाद होंगे, समय बरबाद होगा और आँखें खराब होंगी तो भी रात के वक्त जागरण। फिल्में देखने से चालाकी आ गई। माँ बाप को चकमा देना आ गया। जासूसी कैसे करना, चालाकी आदि की शिक्षा भी सिनेमा से आ गई। और इससे रागद्वेष बढ़ा। रागद्वेष बढ़ने पर आप स्वयं यह सोच सकते हैं कि धर्म ध्यान में मन कैसे लगे?

'स्थिर आसन एकान्त ध्यान स्थिर करना,
अन्तर मुख हो बाह्य दृष्टि तज देना।
ज्ञानभाव में आत्मभाव रमालो,
शान्त दान्त सामत हो सिद्धि पालो।।

धर्म ध्यान के प्रासाद पर पहुँचने के लिये, कषाय की तीव्रता मन्द करने के लिये बाहर के साधनों में कुसङ्गति से दूर रहना होगा। वृद्ध, गुणवान पुरुषों की संगति, स्वाध्याय, एकान्त वास, सूत्रों का चिन्तन तथा धीरज ये साधन हैं जो धर्म ध्यान के करीब ले जाते हैं।

संसार का जीव मात्र पहले तन पाता है फिर वाणी का योग और मन ये दो। इसलिये साधना में भी इनको पहले जानना जरूरी होता है। पहले वह शरीर को स्थिर करे, जिस आसन से वह बैठ सके बैठे, अपने आसन से यदि वह डिगा तो वृत्तियों में डिगपना आ जाएगा। इन्द्रियों को बीच में विक्षेप, हलचल पैदा करने वाला कोई नहीं हो इसलिये एकान्त वास। वहाँ वृत्तियों को वहि मुख से बचाकर अन्तर्मुखी बना देना।

आपको और हमको सभी को तो अनुकूल साधन मिले हैं, जरूरत है उन पर चलने की उन पर अमल करने की। यदि उन मार्गों को हम ग्रहण करते हैं तो परम शान्ति के अधिकारी बनने में देर नहीं।

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है ऐसा ईश्वर परायण मनुष्य योगी कहलाता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

○

श्री लल्लुजी महाराज ने एक बार श्रीमद् राजचन्द्र से कहा — 'मैं जो-जो देखता हूँ, वह भ्रम है असत्य है — इस प्रकार का अभ्यास करता हूँ।'

श्रीमद् बोले—

'आत्मा है, ऐसा देखा, करो।'

सर्वेक्षण :

'ध्यान' सम्बन्धी जैन-जैनेतर साहित्य

● श्री प्रेम सुमन जैन, एम० ए०

भारतवर्ष में योग विद्या का प्रारम्भ कब से हुआ ? कह पाना कठिन है, क्योंकि वैदिक एवं श्रमण परम्परा के प्राचीनतम स्वरूप में भी कर्म बन्धन से मुक्ति पाने के लिए ध्यान एवं समाधि जैसी अवस्थाओं का महत्त्व रहा है। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में जो ध्यान निमिलित नेत्र वाली मूर्त्ति मिली है वह योगी की ध्यानावस्था को सूचित करती है। भले ही उसके शिव अथवा ऋषभदेव होने में मतभेद हो।[१] सामान्यतया योगमार्ग का प्रवर्तन ऋषभदेव के द्वारा माना जाता है।[२] न केवल जैन साहित्य में अपितु वैदिक साहित्य में भी आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का योगीराज के रूप में उल्लेख है। ऋग्वेद (१०-१०२-६) के अनुसार योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश से मुद्गल ऋषि की पराङ्-मुखी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो गयी थीं। अतः ऋषभदेव को योग-विद्या का उपदिष्टा भी कहा जा सकता है। भागवत पुराण में उन्हे योगेश्वर कहा गया है[3] तभी उन्हीं के द्वारा योग चर्याओं का प्रवर्तन माना गया है।[४] इन सन्दर्भों से इतना स्पष्ट है कि संहिता युग में योग साधना

१. वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ : डॉ० राजकुमार जैन, हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६०६–६२६।

२. योगि कल्पतरूं नौमि, देव देवं वृषध्वजम् : ज्ञानार्णव, १–२।

३. भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः— वही ५–४–३।

४. नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिऋषभः—वही ५–५–२५।

जैन धर्म में प्रमुख थी, किन्तु उस समय योग-साधना का क्या स्वरूप था तथा एतद् विषयक कौन-सा प्रमुख ग्रन्थ था ? यह कह पाना गहन तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

योगीश्वर ऋषभदेव की योग-साधना की परम्परा का निर्वाह उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत एवं बाद के अन्य तीर्थङ्करों द्वारा भी होता रहा है।[५] महापुराण (१८-६२-४०३) के अनुसार भरत के पुत्र मरीचि (महावीर का पूर्व भव) ने जिस कपिल नाम के राजकुमार को अपना शिष्य बनाया था वही आगे चल कर योग शास्त्र एवं सांख्य दर्शन का प्रवर्तक हुआ है[६] यद्यपि 'कपिल' की पहिचान के सम्बन्ध में विद्वानों से पर्याप्त मतभेद है,[७] किन्तु उक्त मान्यता से योग-साधना की प्राचीनता को बल मिलता है, तथापि इतना योग-विषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तप की क्रियाएँ योग-साधना से पूर्ण होती हैं। योग-साधना के लिये 'चित्त वृत्ति निरोध' आवश्यक माना गया है, जिसका प्रमुख आलम्बन ध्यान है। अतः योग और ध्यान के इस महत्त्व के कारण स्वभावतः भारतीय चिन्तकों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। प्राचीन मूल ग्रन्थों की व्याख्या कर योग-विद्या के महत्त्व को आगे बढाया है। ध्यान अथवा योग-विषयक सम्पूर्ण साहित्य का मूल्यांकन यहाँ अपेक्षित नहीं है। मोटे तौर पर उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) जैन परम्परा का साहित्य
(२) बौद्ध परम्परा का साहित्य एवं
(३) वैदिक परम्परा का साहित्य।

यद्यपि इस विभाजन के अनुसार ग्रन्थों के कालक्रम की संगति नहीं

---

५. येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः आसीत।
—श्रीमद्भागवत् ५-४-९

६. त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित— १-६-५२।

७. सांख्य दर्शन का इतिहास—उदयवीर शास्त्री, पृ० २४-३३।

बैठती, फिर भी विचारधारा का क्रम बना रहता है। कुछ प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

१. जैन परम्परा का साहित्य :

जैन धर्म में ध्यान का विवेचन आभ्यन्तर तप के भेद-प्रभेदों के वर्णन के प्रसंग में हुआ है। ध्यान सम्बन्धी साहित्य के विषय में डा० हीरालाल जैन[८] एवं प्रो० हीरालाल र० कापड़िया[९] ने अपने ग्रन्थों में विशेष प्रकाश डाला है। जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। 'आचारांगसूत्र' में मुनि आचार तथा 'उपासकाध्ययन' में गृहस्थों के आचार धर्म का वर्णन है। परवर्ती साहित्य में इन दोनों प्रकार के आचार धर्म पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। अनागार धर्म सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत जैन साधना में ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के इस सूत्र "प्रायश्चित-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानुत्तरम्" (९.२०) की व्याख्या अनेक परवर्ती ग्रन्थों में विस्तार से की गयी है। उनमें 'सर्वार्थसिद्धि' एवं 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' आदि प्रमुख हैं। जैन आचार प्रधान अन्य ग्रन्थों में भी ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। जैन परम्परा में उपलब्ध ध्यान सम्बन्धी इस साहित्य को भाषा की दृष्टि से इस प्रकार रखा जा सकता है—

क. प्राकृत रचनाएँ :

अधिकांश जैन साहित्य प्राकृत भाषा में उपलब्ध है। अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों में और विशेषतः (१) 'ठाणांग' में आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल इन चारों ध्यानों और उनके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया हैं। (२) 'आवश्यक निर्युक्ति' के कायोत्सर्ग अध्ययन की ९४ गाथाओं में ध्यान के लक्षण आदि पर विचार किया गया है। इस आगम प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने अपनी (३) 'ध्यान शतक' नामक रचना में किया है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ ध्यान पर विशेष प्रकाश डालते हैं। उनके (४) 'मोक्षपाहुड' नामक ग्रन्थ

---

८. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० ११४-१२२।

९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ४, पृ० २२७-२५५।

में १०६ गाथाओं द्वारा ध्यान एवं योग का वर्णन प्राप्त होता है। डा० हीरालाल जैन के शब्दों में—"इस पाहुड में हमें जैनयोग विषयक अति प्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते हैं, जिसका परवर्ती योग विषयक रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थतः यह रचना 'योगशतक' रूप से लिखी गई प्रतीत होती है और उसको 'योगपाहुड' नाम भी दिया जा सकता है।"[१०]

जैन आचार प्रधान ग्रन्थों में वट्टेकरकृत (५) **'मूलाचार'** (गा० ३७३-४०६), शिवार्यकृत (६) **भगवती आराधना** तथा स्वामिकुमारकृत (७) 'कार्तिकेयनुप्रेक्षा (गा० ४६८-४७५) ध्यान के वर्णन की दृष्टि से विशेष महत्व के ग्रन्थ हैं। 'भगवती आराधना' में मुनियों की अनेक साधनाओं और वृत्तियों का विस्तार से वर्णन है। १६२१ से १८९१ तक की २७१ गाथाओं में चारों प्रकार के ध्यान का निरूपण हुआ है। इस प्रकार ईसा की प्रथम व द्वितीय शताब्दी तक जैन ध्यान साधना पर्याप्त विकसित हो चुकी थी।

प्राकृत में आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् स्वतन्त्र रूप से योग व ध्यान विषयक ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य हरिभद्र है किन्तु इनके पूर्व लिखा गया ध्यान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ (८) **झाणज्झयण** अथवा **झाणसय** (ध्यानशतक) भी प्राप्त है,[११] जिस पर स्वयं हरिभद्र ने टीका लिखी है। झाणसय के कर्त्ता के सम्बन्ध में भद्रबाहु तथा जिनभद्र क्षमाश्रमण का नाम लिया जाता है।[१२] ग्रन्थ की १०६ गाथाओं में ध्यान का लक्षण, आसन, फल आदि पर विचार किया गया है।

हरिभद्र की योग विषयक चार रचनायें प्राप्त हैं, जिनमे दो प्राकृत में हैं—(९) **जोगसयण** तथा (१०) **जोगविहाणवीसिया** (योगविंशति)। योगशतक की लगभग १०० गाथाओं में योग का स्वरूप, योग के अधिकारी, ध्यान की अवस्थाओं आदि का वर्णन है। जोगविहाणवीसिया की बीस गाथाओं में योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है,

---

१०. भारतीय संस्कृति—पृ० ११६।

११. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग ४।

१२. गणधरवाद की प्रस्तावना—पं० दलसुख मालवणिया, पृ० ४५, द्रष्टव्य।

जिसमें कर्त्ता ने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया है।[१३] इस विंशति पर यशोविजय गणी ने संस्कृत में विवरण लिखा है।

ख. अपभ्रंश रचनाएँ :

अपभ्रंश भाषा में यद्यपि चरित एवं कथात्मक साहित्य ही अधिक है, किन्तु उनका अध्यात्म से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मा के विकास के लिए तप साधना का महत्त्व अपभ्रंश की कई रचनाओं में प्राप्त होता है, किन्तु योग अथवा ध्यान के सम्बन्ध में स्वतंत्र ग्रन्थ कम ही हैं। जोइन्दुकृत (११) **'परमप्पयास'** तथा (१२) **'जोगसार'** जैन योग के प्रमुख ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। परमात्म प्रकाश में जीवों को संसार के विषयों से चित्त को हटा कर उसे आत्मोन्मुख बनाने के लिए नाना प्रकार से उपदेश दिया गया है। इस ग्रन्थ पर ब्रह्मदेव, प्रभाचन्द्र आदि की टीकाएँ भी लिखी गयीं हैं। दूसरी कृति जोगसार में ध्यान की अवस्थाओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसका मुख्य विषय कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड से मिलता-जुलता है। इस पर भी संस्कृत में दो टीकाएँ लिखी गयी हैं। 'योगसार' नाम से अन्य अन्य विद्वानों की भी जैन रचनाएँ हैं, किन्तु उनके विषय उपदेशात्मक अधिक हैं।[१४]

अपभ्रंश की तीसरी कृति रामसिंह मुनि कृत (१३) **'पाहुडदोहा'** है, जिसके २२२ दोहों मे योगी रचयिता ने बाह्य-क्रियाकाण्ड की निष्फलता तथा आत्मसंयम और आत्मदर्शन में ही सच्चे कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियों को ग्रन्थ में खूब फटकारा गया है। डा० हीरालाल जैन के अनुसार शैली में यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशों और चर्यापदों से समानता रखती है, तो दूसरी ओर कबीर जैसे सन्तों की वाणियों से[१५] अतः अपभ्रंश की कुछ ऐसी रचनाओं की विषयवस्तु ने सम्भव है भक्ति सम्प्रदाय को प्रभावित किया हो।

ग. संस्कृत रचनाएँ :

जैन संस्कृत साहित्य का कोई क्रमबद्ध बृहद् इतिहास अभी तक

---

१३. द्रष्टव्य— प्रो० के० वी० अभ्यंकर द्वारा सम्पादित संस्करण, १९३२।
१४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास — भाग ४, पृ० २४१।
१५. भारतीय संस्कृति०, पृ० ११६।

प्रकाश में नहीं आया। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जैनाचार्यों ने जिसकी रचना संस्कृत में न की हो। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र के बाद पूज्यपाद कृत योग विषयक दो संस्कृत रचनाएँ उल्लेखनीय है—(१४) **'इष्टोपदेश'** तथा (१५) **'समाधिशतक'**। इष्टोपदेश के ५१ श्लोकों में योग-साधक की उन भावनाओं का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक एकाग्रचित्त हो आत्मलीन हो जाता है। इसके ४७ वें श्लोक मे कहा गया है कि योगी व्यवहार से हटकर आत्मानुष्ठान में स्थित होकर परमानन्द को प्राप्त करता है। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।[16] यद्यपि यह रचना सक्षिप्त है, किन्तु योग एवं ध्यान के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालती है। पूज्यपाद की दूसरी रचना समाधिशतक में ध्यान-साधना में अविद्या, अभ्यास व संस्कार के कारण चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को आत्म तत्त्व में कैसे लीन होना चाहिये, इसका उपदेश दिया गया है। इस रचना में मोक्षपाहुड की अनेक गाथाओं से साम्य पाया जाता है।

योग-साधना सम्बन्धी संस्कृत रचनाओं में आचार्य हरिभद्र की रचनाओं का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में उनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—(१७) **'योगबिन्दु'**, (१८) **'योगदृष्टिसमुच्चय'** तथा (१९) **'षोडशक'**। योगबिन्दु के ५२७ पद्यों में जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में योग तथा ध्यान भेद प्रभेदों का वर्णन ही नहीं है, अपितु प्रसंगानुसार सांख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों का समालोचन भी किया गया है। पातंजल योग और बौद्ध सम्मत योग भूमिकाओं के साथ जैनयोग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।[17] 'योगदृष्टि समुच्चय' के २२७ पद्यों में से कुछ में तो योगबिन्दु के विषय की पुनरावृत्ति की गयी है, किन्तु कुछ नवीन बातों पर भी प्रकाश डाला गया है।[18] 'षोडशक' के १४ वे प्रकरण में १६ पद्यों में आठ चित्त दोषों का निरूपण किया गया है, जबकि १६ वें प्रकरण में आठ चित्त गुणों का। अन्त में योग द्वारा परमानन्द की प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है।

---

१६. वही, पृ० ११९।

१७. विभिन्न सस्करणों के लिए द्रष्टव्य—जैन सा० का बृ० इ० भाग ४, पृ० २३१।

१८. वही, पृ० २३८।

आचार्य हरिभद्र की योग-सम्बन्धी उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त उनमें प्राप्त कुछ सन्दर्भ भी योग-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' की स्वोपज्ञवृत्ति में हरिभद्र ने (२०) **'योगनिर्णय'** नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु के सम्बन्ध में कह पाना कठिन है, किन्तु इसे जैनयोग का ही ग्रन्थ माना जाना चाहिये, क्योंकि उत्तराध्ययन के साथ इसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'योग-दृष्टि समुच्चय' के श्लोक १४, १६, २२, २५ और ३५ की स्वोपज्ञवृत्ति में (२१) **'योगाचार्य'** का उल्लेख आता है। सम्भवतः हरिभद्र ने अपने पूर्व हुए किसी जैन योगाचार्य का उल्लेख किया है, जिनकी अभी तक कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

आठवीं शताब्दी तक जैनयोग के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका था। पठन-पाठन के साधन भी विकसित हो गये थे। अतः इसके बाद योग विषयक साहित्य में और वृद्धि हुई है। यह युग तन्त्र-मन्त्र एवं योग साधनाओं का था। प्रत्येक परम्परा में इस क्षेत्र में विकास हो रहा था, अतः अब जो भी साहित्य लिखा गया उसमें स्वाभाविक रूप से तुलनात्मक वर्णन प्राप्त होने लगता है। ११-१२ वी शती तक स्वतन्त्र एवं वृहत् ग्रन्थ इस विषय के मिलने लगते हैं।

आचार्य गुणभद्र (९ वी) कृत (२२) **'आत्मानुशासन'** नामक ग्रन्थ में २७ संस्कृत पद्यों द्वारा इन्द्रियों और मन की बाह्य वृत्तियों को रोककर आत्म ध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। अतः यह ग्रन्थ योगा-भ्यास की पूर्व पीठिका निर्मित करता है। अमितगतिकृत (१० वी) (२३) **'सुभाषितरत्न सन्दोह'** एवं (२४) **'योगसार'** नामक रचनाओं में नैतिक और आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं, जो योगी को ध्यान की ओर प्रेरित करते है। ११ वीं शताब्दी में जैन आचार एवं योग का विस्तार से वर्णन करने वाला ग्रन्थ शुभचन्द्रकृत (२५) **'ज्ञानार्णव'** हैं। ४२ सर्गों वाले इस ग्रन्थ मे लगभग २००० श्लोक हैं। २९ वें सर्ग से ४२ वें सर्ग तक प्राणायाम तथा ध्यान आदि का वर्णन इसमें विस्तार से हुआ है। इसमें अधिकांश महाव्रतों और मुनि योग्य ध्यान अवस्थाओं का वर्णन है। अतः शुभचन्द्र के मत से गृहस्थ योग का अधिकारी नहीं है।

१२ वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्रकृत (२६) **'योगशास्त्र'** नामक रचना ध्यान के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध हुई। यह बारह प्रकाशों में विभक्त

है। १ से चार प्रकाश तक गृहस्थ धर्म का निरूपण है, जबकि शेष ५ से १२ प्रकाशों में प्राणायाम आदि ध्यान की अवस्थाओं का। इस ग्रन्थ में जैनयोग के निरूपण के अतिरिक्त पातंजल योग दर्शन में निर्दिष्ट 'परकाय प्रवेश' तथा योग की सिद्धि आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। यद्यपि इसमें कई बातें नवीन हैं, फिर भी शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का इस पर स्पष्ट प्रभाव नजर आता है। इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने स्वयं वृत्ति लिखी है, जो सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।[१९] इन्द्रनन्दि ने शक सं० ११८० में इस पर 'योगिरमा' नाम से टीका भी लिखी है।

१४३ संस्कृत पद्यों की (२७) **'योग प्रदीप'** नामक एक कृति मिली है, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसमें सरल संस्कृत में योग का निरूपण है। प्रो० कापड़िया के अनुसार—'ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने इसके प्रणयन में हेमचन्द्र कृत योग शास्त्र, शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव तथा किसी उपनिषद् का भी उपयोग किया होगा।[२०] इसी प्रकार 'ज्ञानार्णव' आदि के विषय को सरल ढंग से प्रस्तुत करने के लिए खरतर गच्छ के श्री देवचन्द्र ने वि० सं० १७६६ में तत्कालीन गुजराती में (२८) **'ध्यान दीपिका'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी। पं० आशाधर कृत (२९) **'अध्यात्म रहस्य'** नामक ग्रन्थ में ७२ श्लोकों द्वारा आत्म-शुद्धि और आत्म-दर्शन का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। इसका अपरनाम 'योगीद्दीपन' भी ग्रन्थकार ने दिया है।

संस्कृत की उपर्युक्त पद्यात्मक कृतियों के अतिरिक्त किसी अज्ञात लेखक की (३०) **'ध्यान विचार'** नामक एक गद्य कृति भी प्राप्त हुई है, जिसमें ध्यान मार्ग के २४ प्रकार, चिन्ता, भावना-ध्यान, अनुप्रेक्षा, भवन-योग और करण योग जैसे विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है।[२१]

इन उपर्युक्त ध्यान सम्बन्धी प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत की रचनाओं के अतिरिक्त प्रो० कापड़िया ने 'जिनरत्न कोश' में उल्लिखित निम्न योग सम्बन्धी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी अपने ग्रन्थ में दिया है।[२२]

---

१९. वही, पृ० २४४-४५। २०. वही, पृ० ५०।

२१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—वही, पृ० २५३।

२२. वही, पृ० २५५-५८।

(३१) 'ध्यान दण्डक स्तुति', (३२) 'ध्यान चतुष्टय विचार', (३३) 'ध्यान दीपिका', (३४) ध्यानमाला, (३५) ध्यानसार, (३६) ध्यान तत्त्व, (३७) ध्यान स्वरूप, (३८) समाधि तन्त्र, (३९) योग-कल्पद्रुम, (४०) योग तरंगिणी, (४१) योग दीपिका, (४२) योग-भेदद्वात्रिंशिका, (४३) योग मार्ग, (४४) योग रत्नाकर, (४५) योग-लक्षणद्वात्रिंशिका, (४६) योग विवरण, (४७) योग संग्रह सार, (४८) अध्यात्म पद्धति, (४९) योग सार, (५०) योगांग तथा (५१) योगामृत।

जिनरत्न कोश (पृ०३२१–२२) में 'योग' शब्द से प्रारम्भ होने वाली कुछ अन्य कृतियों का भी उल्लेख है, जिनके रचयिताओं के नाम नहीं दिये गये हैं। सम्भव है, आगे चलकर उनके नामों का पता चल सके, वे कृतियाँ हैं :—

(५२) योग दृष्टि स्वाध्याय सूत्र, (५३) योग भक्ति, (५४) योग माहात्म्य द्वात्रिंशिका, (५५) योगरत्न समुच्चय, (५६) योगरत्नावली, (५७) योग विवेक द्वात्रिंशिका, (५८) योग संकथा, (५९) योग संग्रह, (६०) योग संग्रह सार, (६१) योगानुशासन तथा, (६२) योगावतार द्वात्रिंशिका।

यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी कृतियाँ जैन योग से सम्बन्धित हों किन्तु इनके नामोल्लेख से योग साधना के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य होने की पुष्टि तो होती ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में योग साधना प्रारम्भ से ही साहित्य का विषय रही है। प्रथम शताब्दी से स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। सम्भव है, क्षेत्रीय भाषाओं में भी इस विषयक कई ग्रन्थ लिखे गये हों।[२३]

२. बौद्ध-परम्परा का साहित्य :

बौद्ध दर्शन में इस संसार से मुक्ति पाने के लिए शील, समाधि और

---

२३. खड़ी बोली में मुनि श्री अमोलक ऋषि ने 'ध्यान कल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना उववाई, उत्तराध्ययन, सूयगडांग, आचारांग ज्ञानार्णव, द्रव्य संग्रह आदि ग्रन्थों के आधार पर की।

—सम्पादक

प्रज्ञा के सोपानों का विशेष महत्त्व है। समाधि के अन्तर्गत यौगिक क्रियाओं एवं ध्यान की विशेष चर्चा की गयी है, बौद्ध साहित्य में पालि एवं बौद्ध-संस्कृत दोनों में ध्यान-सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। पालि साहित्य में सर्व प्रथम मज्झिम निकाय के (६३) 'चूलहत्थियदोपमसुत्त' (१.३.७) में चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।[२४] संक्षेप में उसे इस प्रकार जाना जा सकता है—

(१) प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार रहते हैं। एकान्त वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख भी रहते हैं। (२) द्वितीय ध्यान में न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख रहते है। (३) प्रीति से विरक्त हो स्मृतिवान् और ज्ञानवान् होकर भिक्षु तीसरे ध्यान को प्राप्त करता है तथा (४) चतुर्थ ध्यान में न दुख होता है, न सुख, केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है। इस सुत्त के अतिरिक्त दीघनिकाय के (६४) 'महासतिपट्ठान सुत्त' एवं (६५) सामञ्जफलसुत्त में समाधि का दृष्टान्त सहित वर्णन प्राप्त होता है। थेर और थेरीगाथा के भी कई उद्गार भिक्षुओं की ध्यानावस्था की सूचना देते हैं।

उपर्युक्त चार ध्यानों के भेद-प्रभेदों का वर्णन अभिधम्म पिटक के दूसरे ग्रन्थ (६६) 'विभंग' के बारहवें 'झाणविभंग' में उपलब्ध होता है। इसमें कहा गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते हैं और अव्याकृत भी। पिटक साहित्य के इन ग्रन्थों की टीकाओं में ध्यान सम्बन्धी विचारों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। (६७) 'धम्मपद' का 'चित्तवग्ग' भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अनुपिटक साहित्य में ध्यान-साधना पर विशेष प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित (६८) 'विसुद्धिमग्ग' है। बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है, जिसका विवेचन इस ग्रन्थ में न किया गया हो। साधना मार्ग की नाना भूमियों का क्रमबद्ध वर्णन इसमें प्राप्त होता है। आचार्य बुद्धघोष ने समाधि क्या है, समाधि के लक्षण और कारण क्या हैं, समाधि कितने प्रकार की है, मलिन समाधि क्या है, निर्मल समाधि क्या है तथा समाधि की भावना किस प्रकार करना

---

२४. पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ४४२।

चाहिए आदि अनेक प्रश्नों का इस ग्रन्थ में समाधान दिया है। ग्रन्थ के ३ इसे लेकर १३ परिच्छेदों में ध्यान के मार्ग की बाधाओं, ध्यान के विशेष प्रकारों तथा समाधि की विशिष्ट भावनाओं आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। बौद्ध योग साधना को समझने के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अनिवार्य है।

पालिसाहित्य के अतिरिक्त बौद्ध संस्कृत साहित्य में भी योग-साधना का महत्त्व रहा है। योगाचार नामक बौद्ध सम्प्रदाय योग द्वारा बोधि की प्राप्ति में विश्वास रखता था किन्तु विशुद्ध रूप से योग अथवा ध्यान का ही निरूपण करने वाला कोई ग्रन्थ बौद्ध आचार्यों द्वारा सस्कृत में प्रकाश मे नहीं आया। आचार्य हरिभद्र सूरि के योग बिन्दु के श्लोक ४५६ में एक (६६) 'समाधि राज' नामक बौद्ध ग्रन्थ का उल्लेख आता है। यह ललित विस्तर की तरह मिश्र संस्कृत में लिखा गया है। इसमें नैरात्म्य दर्शन से मुक्ति प्राप्ति का विवेचन है।[२५] बौद्ध धर्म में ध्यान सम्प्रदाय[२६] किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहा है, जिसका परिवर्तित रूप जापान के 'जेन' सम्प्रदाय में विद्यमान है। इस विषयक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

३. वैदिक परम्परा का साहित्य :

वैदिक परम्परा में योग एवं ध्यान की साधना महर्षि पतञ्जलि से आरम्भ नहीं होती, अपितु यह बहुत ही प्राचीन अध्यात्म प्रक्रिया है। संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में कहीं तो संकेत रूप से, कहीं विस्तार से योग का विवेचन प्राप्त होता है। ऋग्वेद संहिता (१.६४.३१; १०.१७७.३) में प्राण विद्या का निरूपण है, जिसे योग का ही एक अंग कहा गया है। अथर्ववेद (६.१०.२७; १०.२.२६) में योगी की भाषा एवं योग के मौलिक अर्थ का विवेचन प्राप्त होता है। यथा—

मूर्धानमस्य संसीव्यथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमनोधिशीर्षतः ॥

---

२५. विभिन्न संस्करणों के लिए द्रष्टव्य — जैन सा०, पृ० २३२।

२६. इस सम्बन्ध मे नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का ग्रन्थ 'ध्यान–सम्प्रदाय' विशेष रूप से पठनीय है। —सम्पादक

इस प्रकार वैदिक मान्यता के अनुसार इन्द्रियों की स्थिर धारणा योग है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण-उपासना को महत्त्व दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (२. २. १०.) इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

उपनिषदों में योग की विशिष्ट विधियों का संकेत एवं वर्णन मिलता है। उपनिषद् साहित्य के निम्नलिखित २६ उपनिषदों में योग का सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होता है—

(७०) 'अद्वयतारक' (७१) अमृतनाद, (७२) अमृतबिन्दु, (७३) क्षुरिका, (७४) तेजोबिन्दु, (७५) त्रिशिखि-ब्राह्मण,'(७६) दर्शन,(७७) ध्यान-बिन्दु, (७८) नादबिन्दु, (७९) पाशुपतब्रह्म, (८०) ब्रह्मविद्या, (८१) मण्डल-ब्राह्मण, (८२) महावाक्य, (८३) योगकुण्डली, (८४) योगचूणामणि, (८५) योगतत्त्व, (८६) योगशिखा, (८७) वराह, (८८) शाण्डिल्य, (८९) हंस तथा (९०) योगराज।

इन उपनिषदों के अनुशीलन से प्राचीन युग में योग की स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इनके अतिरिक्त (९१) कठ (१.१.१२, २.३. १०-११), (९२) श्वेताश्वर (२.७.१५), (९३) छान्दोग्य (८.६), (९४) ब्रहदारण्यक (४.३.२०) तथा (९५) मुण्डकोपनिषद् (३.२.६) में भी योग विषयक सामग्री प्राप्त होती हैं, जिनका अध्ययन जैनयोग एवं पतंजलि योग को समझने में सहायक होता है।

वैदिक परम्परा में योग के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पतंजलि का (९६) **'योगसूत्र'** महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें विस्तार से भारतीय योगविद्या का निरूपण किया गया है। योगसूत्र की विषयवस्तु से जैन ग्रन्थ मोक्ष-पाहुड का ध्यान विषयक विवेचन अधिक साम्य रखता है। इन दोनों के अध्ययन से कई नवीन तथ्य उद्घाटित होते हैं। पतंजलि के योगसूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, जो किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनमें (९७) **'व्यासभाष्य'**, विज्ञान भिक्षु का (९८) **'योगवार्तिक'** भोजकृत (९९) **'राजमार्तन्ड'**, भावागणेश की (१००) **'वृत्ति'**, रामानन्दयति की (१०१) **'मणिप्रभा'**, अनन्त पण्डित की (१०२) **'योगचन्द्रिका'**, सदा शिवेन्द्र की (१०३) **'योगसुधाकर'**, तथा नागोजी भट्ट की (१०४) **'लध्वी'**, और (१०५) **'बृहतीवृत्तियाँ'** अन्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इन टीकाओं के अतिरिक्त वैदिक परम्परा में योग विषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। विद्वानों ने कुछ अप्रकाशित योग-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की सूचना अवश्य दी है। ऐसे ग्रन्थों में जनक कृत (१०६) 'योग प्रभा', अंगिरा कृत (१०७) 'योग प्रदीप', कश्यप कृत (१०८) 'योग रत्नाकर', कौत्स कृत (१०९) 'योग विलास', मरीचि कृत (११०) 'योग सिद्धान्त', सजय कृत (१११) 'प्रदर्शन योग', कौशिक कृत (११२) 'योग निदर्शन', तथा सूर्य कृत (११३) 'योग मार्तण्ड', का नाम उल्लेखनीय है।[२७]

आधुनिक साहित्य :

जैन, बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के उपर्युक्त योग व ध्यान विषयक साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक युग में भी कुछ अध्ययन पूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। उनमें से कुछ प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण हैं,[२८] कुछ योग-दर्शन की व्याख्या से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—दास गुप्ता की 'योग फिलासोफी', यज्ञेश्वर घोष की 'ए स्टडी आफ योग' आदि रचनाएँ। 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर डा० अर्हत्दास डिगे ने शोध भी किया है, जो शीघ्र प्रकाश्य है।[२९] प्रो० मोतीचन्द कापड़िया की प्रसिद्ध रचना 'जैन दृष्टिए योग' भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ समय पूर्व 'कल्याण' पत्रिका का 'योगांक' विशेषांक भी प्रकाशित हुआ था, जो योग एवं ध्यान के विभिन्न पक्षों पर विशेष प्रकाश डालता है।[३०] योग विषयक इस विशाल साहित्य को देखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से तीनों परम्पराओं का अध्ययन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

२७. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला, पृ० ४७३ पर उद्धृत।

२८. भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान, पृ० ४१०—द्रष्टव्य।

२९. पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी से।

३०. इधर आदर्श साहित्य संघ चूरु से 'मनोनुशासनम्' नामक कृति प्रकाशित हुई है। इसमें आचार्य तुलसी ने मन को अनुशासित करने के लिए १७४ सूत्र दिये हैं। ये सूत्र संस्कृत में हैं। मुनि श्री नथमल जी ने इनकी दर्शन और मनोविज्ञान सम्मत बड़ी रोचक और गम्भीर व्याख्या की है।

—सम्पादक

सम्बन्ध :

तप-साधना और ध्यान

श्री पार्श्वकुमार मेहता
साहित्य-रत्न, धर्म-रत्न

इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला अनुष्ठान तप है। यह निग्रह करने वाला अनुष्ठान कर्म, शरीर का तापक है। इसी कारण आत्मिक निर्मलता का द्योतक है। इस सम्यक् तप के वाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। वाह्य तप के ६ तथा आभ्यन्तर तप के ६ भेद हैं। इस प्रकार तप के १२ भेद जैनागमों में प्रतिपादित किए गए हैं—

१. वाह्य तप—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस परित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता।

२. आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

इस प्रकार ध्यान आभ्यन्तर तप में प्रतिपादित किया गया है। वैसे मन को एक आलम्बन पर स्थापित करने को भी ध्यान कहा है। शास्त्र-कारों ने मन, वचन और काया के निरोध करने को भी ध्यान कहा है। ध्यान ४ प्रकार के बताये गये हैं—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन ४ ध्यान में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ और आत्म पतन के कारण माने गये हैं अतः इनका निषेध किया गया है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ और आत्मोत्थान के कारण माने गये है अतः इनका ध्यान ही करना चाहिए। इच्छित वस्तु का वियोग और अनिच्छित वस्तु का संयोग होने पर जो चिन्तन होता है, वही आर्त्तध्यान है। रोगादि कष्टों में, वेदना के कष्टों में विचलित हो जाना और वैषयिक सुख-प्राप्ति के लिए संकल्प करना भी आर्त्तध्यान ही का रूप है। हिंसा, असत्य, चोरी, विषय भोगादि की रक्षा के लिये होने वाली चिन्ता रौद्र

ध्यान है। ये तप में बाधक हैं अतः ध्यान में इस प्रकार के चिन्तन का निषेध किया गया है। धर्मध्यान शुक्लध्यान में शुभ ध्यान का विवेचन शास्त्रकारों ने निम्न प्रकार से किया है—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इन चारों ध्येयों वाला ध्यान धर्मध्यान कहलाता है। धर्म का यहाँ अर्थ है—वस्तु का स्वभाव। जो स्वभाव धर्मयुक्त होता है वही धर्म-ध्यान है।

१. **आज्ञा**—आगम सूत्रों में प्रतिपादित तत्त्वों को ध्येय बनाकर उनमें लीन होना।

२. **अपाय**—राग-द्वेषादि दोषों के क्षय हेतु ध्येय बनाकर लीन होना।

३. **विपाक**—कर्म के विविध फलों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होना।

४. **संस्थान**—द्रव्य की विविध आकृतियों-पर्यायों को ध्येय बनाकर उसमे एकाग्र होना।

शुक्लध्यान के भी इसी प्रकार ४ भेद शास्त्रकारों ने बतलाए हैं। समाधि अवस्था को शुक्ल ध्यान कहा गया है।

१. **पृथक्त्व वितर्क सविचार**—किसी एक वस्तु को ध्यान का विषय बनाकर दूसरे सब पदार्थों से उसके विभिन्नत्व का चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क है। उसमें एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर और शब्द से अर्थ पर एवं एक योग से दूसरे योग पर परिवर्तन होता है, इसलिये वह सविचार है।

२. **एकत्व वितर्क अविचार**—एकत्व = अभेद। अविचार = असंक्रमण। अर्थात् एकत्व का चिन्तन करने वाला ध्यान ही एकत्व वितर्क है और इसमें परिवर्तन नहीं होता। अतएव यह अविचार है।

३. **सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति**—तेरहवें जीव स्थान के अन्त में जो श्वोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया अवशेष रहती है यही सूक्ष्म क्रिया है तथा इसका पतन नहीं होता, अतः वह अप्रतिपाति है।

४. **समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति** :—इसमें वह सूक्ष्म क्रिया भी विच्छिन्न हो जाती है और उसकी निवृत्ति नहीं होती इस कारण वह अनिवृत्ति है।

ध्यान साधना का सूत्र भी है। कवि श्रीजी के शब्दों में आज क्रियाकाण्ड धर्म के नाम पर बहुत हो रहे हैं किन्तु उनमें धर्म नहीं। जप, तप, पूजा, पाठ आदि के फूल तो खिल रहे हैं किन्तु उनमें समभाव की सुगन्ध नहीं है। अब आवश्यकता है देवात्मा बनने से पहले मानवात्मा बनने की, परमात्मा एवं महात्मा बनने से पहले साधु आत्मा बनने की। और उसके लिए शुभ अध्यवसाय ध्यान का होना नितान्त आवश्यक है। ध्यान का आत्मा की शुद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो आदमी जैसा ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। अतएव ध्यान में धर्मध्यान-शुक्लध्यान ही ध्याना चाहिये।

आज हम पहली मंजिल को पार किये बिना तीसरे चौथे मंजिल पर जाना चाहते हैं। जब तक ध्यान की शुद्धता न होगी अर्थात् पहली मंजिल पार नहीं करेंगे और तीसरे-चौथे मंजिल पर चढ़ना चाहेंगे तो जहाँ के तहाँ बने रहेंगे और उस स्थान की नींव भी कमजोर होती चली जावेगी अतः ध्यान की शुद्धता में पहली मंजिल चढ़ेंगे तो दूसरी-तीसरी स्वतः आती जावेगी। ११ मंजिल की इमारत से एक सज्जन ने नीचे झाँका तो उसे सड़क पर एक चवन्नी दिखाई दी। वह उसे लेने नीचे उतरा। ६ मंजिल पर आने पर पुनः सड़क पर देखने पर उसे वही (चवन्नी) अठन्नी दृष्टिगत हुई। वह खुश हो और नीचे उतरा और तीसरी मंजिल से देखा तो वही एक रुपया दिखाई दी। बिलकुल समीप जाने पर वह बूट पालिश की डिबिया का ढक्कन निकला। यही हाल हमारे साधना-सूत्र के संकल्प का है—ध्यान का है। शुभ ध्यान में अशुभ वातावरण आते ही मंजिल से उतरना पड़ता है अतः ध्यान में शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अध्यवसाय नितान्त आवश्यक है। साधना तप में ध्यान का विशेष महत्व है। यदि ध्यान ही उस साधना तप में नहीं तो वह साधना कहाँ रही?

दो मित्र भ्रमण करते हुये धर्म स्थान के पास से गुजरे। एक मित्र वहीं शास्त्र-श्रवण हेतु व्याख्यान में चला गया। उसने दूसरे को भी समझाया किन्तु वह नहीं माना और आमोद-प्रमोद हेतु वेश्या का नृत्य

देखने चल दिया। दोनों अपने-अपने कर्म में लीन हो गये। विचारों ने पलटा खाया। ध्यान उल्टी मन्त्रणा प्रस्फुटित हुई। पहले ने सोचा मैं व्यर्थ ही व्याख्यान में आ गया। मित्र के साथ जाता तो प्रमोद-आमोद का लाभ ले रहा होता, किन्तु इसके विपरीत दूसरे मित्र ने सोचा—मैं व्यर्थ नृत्य देखने आ गया। व्याख्यान में शास्त्र-श्रवण करता तो आत्म-शुद्धि-मार्ग प्रशस्त करता। दोनों का ध्यान अलग २ दिशाओं में केन्द्रित हो गया। सम्मुख रह कर भी वे दूरस्थ पहुँच गये। अतः जो जैसा ध्यान मन में करता है, वह वैसा ही बन जाता है। धर्मस्थान में नहीं जाकर बुरे स्थान पर भी ध्यान, धर्मध्यान में रखने से वह शुभ भावना में बहता गया। अतएव विचार-ध्यान का तप पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए ध्यान में धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही आत्मोन्नति के उत्थान के लिए सार्थक है।

मेरा चित्त शान्त हो जाय, मेरे चित्त की वृत्तियाँ यहाँ तक शान्त हो जायें कि कोई मृग भी मुझसे अपने सींग घिसे, मुझे देखकर भाग न जाय,

●

योग माने समत्व :—आत्मा की शान्ति और आनन्द की अविचल स्थिति।

— स्वामी रामदास

●

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं, स हि ध्याता प्रशस्यते।

जिसका चित्त स्थिर और अडोल होता है, वही पुरुष ध्यान का प्रशंसनीय अधिकारी है।

सम्बन्ध :

ध्यान और स्वाध्याय

● श्री जशकरण डागा

'ध्यान' शब्द 'ध्यै' धातु से बना है। 'ध्ये' का अर्थ है अन्तःकरण में विचार करना, चिन्तवन करना। श्वास–उच्छवास को रोककर शरीर को समाधिस्थ कर लेना मात्र ध्यान नहीं है। काया के योगों को स्थिर कर लेना या काया से हटा लेना ध्यानके लिए उपयोगी बन सकता है किन्तु इसी का नाम ध्यान नहीं है। ऐसा तो 'कायोत्सर्ग' के अन्तर्गत होता है। वस्तुतः किसी एक वस्तु या विषय पर चित्त को लगा देना—एकाग्र कर विचार करना, 'ध्यान' है। ध्यान एक आन्तरिक महान् शक्ति है जो समस्त सिद्धियों की दाता है। कहा भी है 'याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी।' सभी धर्मों में साधना में ध्यान का महत्व स्वीकार किया है। जैन धर्म में ध्यान को विशिष्ट महत्व प्राप्त है। कर्मों की महान् निर्जरा का साधन तप माना गया है और तप के बारह भेदों में ध्यान भी एक है। प्रथम् ६ भेद बाह्य तप के हैं जो इन्द्रिय-निग्रह के लिए मुख्य साधन है। जबकि बाद के ६ भेद आभ्यन्तर तप के है जो मनोनिग्रह के लिए मुख्य साधन हैं।

विचार पूर्वक देखा जाय तो 'ध्यान' का स्थान कायोत्सर्ग को छोड़ तप के सभी भेदों में सर्वोपरि है। 'कायोत्सर्ग' का महत्व भी ध्यान से ही है। जैसे नदी को तिर कर पार करने हेतु तैरना सीखना आवश्यक है वैसे ही संसार रूपी महासमुद्र से तिरने हेतु ध्यान की साधना परमावश्यक है। ध्यान से साधना को गति एवं शक्ति मिलती है जिससे थोड़ी साधना भी महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसे उन्नतोदर दर्पण के निमित्त से धूप में जलाने की शक्ति आजाती है वैसे ही उत्तम ध्यान से साधना में अष्ट कर्मों को जलाने की शक्ति आजाती है। अन्तःकरण में विचार दो प्रकार के उठते

हैं—शुभ एवं अशुभ ! अशुभ ध्यान संसार वर्धक (तिर्यंच एवं नरक गति का कारण) होने से इसे दुर्ध्यान भी कहा है। यह दो प्रकार का है—आर्त्त एवं रौद्र। अप्रिय के वियोग एवं प्रिय के संयोग होने की चिन्ता करना, रोग आने पर उसके दूर करने की चिन्ता करना तथा काम भोग अवियोग चिन्ता करना आर्त्त ध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी और भौतिक सुख एवं विषय-रक्षण हेतु क्रूरता जन्य क्रोध की परिणति लाना रौद्रध्यान है। शुभ ध्यान स्वर्ग एवं अपवर्ग का देने वाला है। इसके भी दो भेद हैं—धर्म एवं शुक्ल ध्यान। धर्म सम्बन्धी वस्तु तत्त्व स्वरूप विचारना धर्म ध्यान है। जो आत्मा की शुद्ध परिणति हो, जो पर लक्ष को छोड़ स्वात्मलीनता मे स्थिर करे, अष्ट कर्म मल से आत्मा को शुद्ध करे वह शुक्ल ध्यान है। यह ध्यान की शुद्ध एवं सर्वोच्च भूमिका होती है। उत्तम ध्यान केवल उत्तम सहनन (प्रथम तीन संहनन) में ही पाया जाता है (देखें तत्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २७-२८)। इसका कारण यह है कि ध्यान करने में स्वस्थ एवं मजबूत मनोबल की आवश्यकता है जो Healthy mind in a Healthy body के अनुसार स्वस्थ्य (दृढ़ एवं मजबूत) शरीर में ही सम्भव है। उत्तम ध्यान हेतु जितना मानसिक बल चाहिए वह प्रथम के तीन संहनन वाले सशक्त शरीर में ही होता है, शेष मे नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नही समझ लेना चाहिए कि अशुभ संहनन वाले धर्म के पात्र नहीं होते। अशुभ संहनन वाले भी श्रावक एवं मुनि पद के धारक होते हैं।

ध्यान को साधना में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व है। स्वाध्याय अर्थात 'स्व' चिन्तवन। ध्यान एवं स्वाध्याय का 'धूम्र अग्नि' जैसा सम्बन्ध है। जहाँ स्वाध्याय है वहाँ ध्यान और जहाँ ध्यान है वहाँ स्वाध्याय की नियमा है। ऊँचे किस्म का स्वाध्याय तो ध्यान रूप ही होता है। स्वाध्याय के पाँच भेद (वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा व धर्म कथा) में अनुप्रेक्षा तो ध्यान रूप ही है और धर्म कथा भी। चिन्तवना रूप जो होगी वह ध्यान के ही पेटे में होगी। स्वाध्याय साधक की खुराक है तो ध्यान उस खुराक को पचाने वाली जठराग्नि रूप है। ध्यान की सिद्धि के लिए स्वाध्याय से श्रेष्ठ कोई आलम्बन नहीं है। यद्यपि ध्यान को केन्द्रित करने हेतु विभिन्न उपाय भी हैं जैसे धर्म ध्यान के प्रथम भेद पिण्डस्थ ध्यान की सिद्धि हेतु पार्थिव धारणा, अग्नि धारणा, पवन धारणा, जल धारणा तत्व रूपवती धारणा, आदि, तथापि वे सब ध्यान की प्राथमिक भूमिका पर रहे साधक के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होती। ध्यान को बिना किसी विशिष्ट

साधना के अधिक समय तक केन्द्रित बनाये रखने के लिए उत्तम साहित्य का स्वाध्याय (चिन्तवन) करना सबसे श्रेष्ठ सरल एवं अनुत्तर साधन हैं। यह अनुभव सिद्ध है। आप एक सामायिक ले स्वाध्याय चालू करें तो अनेक बार एक सामायिक की जगह दो सामायिक का काल सहज ही में व्यतीत हो जाता है और उस काल में अशुभ विचार लेशमात्र भी नहीं आते। हमारी मनोवृत्ति पूरे समय स्वाध्याय में ऐसी लग जाती है कि अन्य सब भूल जाते हैं। इसके विपरीत आप ध्यान लगाकर बैठें तो सामान्यतः आधी सामायिक से पूर्व ही घड़ी देखने की जरूरत पड़ जायगी। मन ऊब जायगा। कारण यह है कि मन की गति बहुत तेज और चंचल है। उसे निरन्तर मनन हेतु कुछ न कुछ चाहिए। वह एक समय भी बिना मनन नहीं रह सकता। ध्यान के स्थिर न रहने का कारण यह भी है कि उत्तम संहनन के धारक कम होते हैं जिससे उसके लिए उपर्युक्त मनोबल भी नहीं होता। फिर स्थिर ध्यान के अध्यवसाय एक समान अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहते, चाहे साधक कितना ही साधनाशील क्यों न हो। अतएव ध्यान को अधिक समय तक शुभ में लगाये रखने के लिए स्वाध्याय ही उत्तम साधन है। इसके लिए एक और उदाहरण है। स्वार्थ सिद्ध के देवों में एक शुक्ल ध्यान ही मिलता है। वहाँ तैंतीस साग रोपम काल की लम्बी स्थिति होती है। इतने लम्बे काल तक बिना किसी आलम्बन के वे शुक्ल ध्यान में कैसे रहते हैं ? इसी प्रकार सिद्ध भगवान की आत्मा अनन्त काल तक किसमें रमण करती है कि जिससे उन्हे कभी अरुचि ही नहीं होती ? इसका एक मात्र उत्तर है—'स्वाध्याय।' अर्थात् 'स्व' के ज्ञान का 'स्व' के ज्ञान द्वारा ही निरन्तर चिन्तवन, मनन और उसी में रमण करते रहना। कहा भी है—

> गगन मण्डल मुक्ति पदवी, सब उर्ध्व निवासनं।
> ज्ञान ज्योति अनन्ते राजे, नमो सिद्ध निरंजनं ॥

इस प्रकार ध्यान में स्वाध्याय की और स्वाध्याय में ध्यान की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही अन्योन्याश्रित है। साधक को साधना में स्वाध्याय प्राथमिक गति देता है तो ध्यान उसकी उच्चतम भूमिका तक पहुँचाने में प्रमुख है। स्वाध्याय और ध्यान दोनों ही साधना के अटूट एवं आवश्यक अङ्ग हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्याय में साधु की दिन और रात्रिचर्या का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"पढ़मं पोरिसी सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।
तइयाए, भिक्खायरिं, चउत्थी भुजो विसज्झाय ॥१२॥

अर्थात् दिन की प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी मे भिक्षा-चर्या व चौथी में पुनः स्वाध्याय करना। इसी प्रकार रात्रि की प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी में 'तइया निन्दा मोक्खंतु' के अनुसार निन्द्रा से मुक्त होना व चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना। श्रावक के लिए भी ध्यान और स्वाध्याय दोनों आवश्यक हैं। श्रावक के लिए ६ कार्य नित्य आवश्यक रूप से करने का कहा गया है, जो इस प्रकार हैं —

"देवाचर्या (देव स्मरण)[1] गुरु सेवा सुश्रुषा[2] स्वाध्याय[3] संयम[4] स्तपः[5]।
दानं[6] चेति गृहस्थानां षट् कार्याणि दिने दिने ॥"

उपर्युक्त षट् आवश्यक कार्यों में स्वाध्याय तीसरा व ध्यान पाचवाँ (तप के अन्तर्गत) है। इस प्रकार ध्यान एवं स्वाध्याय सभी श्रेणी के साधकों के लिए आवश्यक है। आत्मा से परमात्मा होने हेतु स्वाध्याय और ध्यान दोनों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना स्वाध्याय के ध्यान जड़ क्रियावत होगा और बिना ध्यान के स्वाध्याय तोतारटन जैसा होगा। दोनों की सफलता एक दूसरे में निहित है। 'स्वाध्याय' से ज्ञान व ज्ञान से 'ध्यान' की सिद्धि और ध्यान से अनन्त ज्ञान संयुक्त 'सिद्ध' पद की सिद्धि प्राप्त होती है।

मन को स्वाध्यय योग में लगाकर, शुभ क्रियाओं में संलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं में रमाकर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल के चिन्तन में लगाकर बुद्धिमान व्यक्ति मन का निरोध करने का यत्न करें।

★

परिचय :

अरविन्द और उनका दर्शन

● श्री माणकचन्द नाहर, एम० ए०

महान् दार्शनिक अरविन्द का जन्म १५ अगस्त, १८७२ को बंगाल में हुआ था। आपके पिता डाक्टर कृष्णधन घोष (सिविल सर्जन) पश्चिमी सभ्यता में रंगे हुए थे। माता श्रीमती स्वर्णलता देवी वास्तव में संस्कारों की देवी थी। पाँच वर्ष की अवस्था में आपने प्रारम्भिक शिक्षा हेतु दार्जलिंग के एक स्कूल में प्रवेश पाया। तत्पश्चात् सात वर्ष की आयु में आप माता-पिता के साथ इंग्लैंड गए। वहाँ सम्पन्न और सभ्य अंग्रेज परिवार ड्यूएट दम्पत्ति के संरक्षण में आपने अपनी कुशाग्र बुद्धि से लैटिन भाषा में विशेष योग्यता प्राप्त की। लन्दन के सेंटपाल स्कूल में अपने विद्याध्ययन के साथ आपने अंग्रेजी काव्य और फ्रांसीसी साहित्य भी पढ़ा। किंग्ज कालेज में आपने ग्रीक और लैटिन में असाधारण योग्यता दिखाकर अनेक पुरस्कार प्राप्त किए। अठारह वर्ष की अवस्था में आप आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठे। इंग्लैंड में ही अरविंद की भेंट तत्कालीन बड़ौदा-नरेश से हुई और उन्होंने अरविंद की प्रतिभा देखकर उन्हें सहर्ष अपना निजी सचिव नियुक्त किया।

इंग्लैण्ड में पूरे चौदह वर्ष बिताने के बाद आप पश्चिमी सभ्यता में रंगे हुए स्वदेश लौटे और कुछ समय के पश्चात् बड़ौदा कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए। अरविंद अपनी विद्वता और सरल व्यवहार से विद्यार्थियों के आदर्श आचार्य बने और उन्हें उप-प्रधानाचार्य का पद सौंपा गया। भारतीय साहित्य और संस्कृति का गहन अध्ययन करते हुए आपका मन योगाभ्यास की तरफ आकर्षित हुआ और इसी बीच आपने बंगला, संस्कृत, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में भी निपुणता प्राप्त की। तत्पश्चात् आप कलकत्ते के नेशनल कालेज में प्रधानाचार्य नियुक्त हुए।

उनके जीवन का आदर्श सादा-जीवन और उच्च विचार था। भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भी अरविंद ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। भारतीय और राष्ट्र-प्रेम के अमरत्व की उनमें विशेष झलक थी। यही कारण है कि संयोग से उनके जन्म-दिवस १५ अगस्त को ही भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिस्थिति पर आपने प्रभावशाली लेख लिखे। अरविंद ने ही बंगाल में गुप्त क्रान्तिकारी दल का संगठन किया। अंग्रेजी में वह दल टैरिस्ट कहा जाता था। अरविंद उसके प्रधान संचालक और मार्ग दर्शक थे। ज्योतिन बोस कलकत्ता और इलाहाबाद के बीच की कड़ी थे। इसी बीच अलीपुर बम षड्यन्त्र का भंडाफोड़ हुआ और आप गिरफ्तार हुए। वहाँ इन्हें योग के लिए उपयुक्त अवसर मिला। उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें राजनीतिक कार्य छोड़कर आत्मा की खोज करने का आदेश दिया। आप इसी हेतु पांडिचेरी (तत्कालीन फ्रांसीसी इलाका) गये। वहाँ आत्मा की खोज करने लगे। इसी विषय पर उन्होंने लेख भी लिखने शुरू किये जो कि देश-विदेश में बड़े आदर के साथ पढ़े जाते थे। उनके विचारों से प्रभावित होकर लोग दूर-दूर से उनके दर्शनार्थ आने लगे।

अरविंद के मुसलमान शिष्यों में कलकत्ता के मौलवी विलायत हुसैन और अलीगढ़ के मौलाना हसरत मौहानी के नाम मुख्य थे। दोनों साम्प्रदायिक एकता के जबर्दस्त विश्वासी और हामी थे। इसी समय एक फ्रांसीसी दम्पत्ति उनके दर्शन के लिए आए। वे दोनों उनसे इतने प्रभावित हुए कि उनके साथ ही रहने लगे। आगे चलकर वह महिला अरविंद आश्रम की आत्मा बन गई। आज सम्पूर्ण विश्व उन्हे "मदर" के रूप में जानता है। दर्शनार्थियों और शिष्यों की बढ़ती संख्या को देखते हुए उनके ठहरने के लिए पांडिचेरी में निर्मित आश्रम के संचालन का भार उन्हीं पर है।

पांडिचेरी आने के बाद से अपने जीवन के अन्त तक अरविन्द योगाभ्यास में लगे रहे। योगाभ्यास के द्वारा ही उन्होंने परमात्मा के साक्षात्कार की अनुभूति भी प्राप्त की। मानव-मात्र की आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में उनका योगदान सचमुच बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। योग

के सम्बन्ध में उनका कहना था कि यह ज्ञान के लिये, प्रेम के लिए या कर्म के लिए परमात्मा से अन्तर्मिलन है।

वे दर्शन की पूर्वीय एवं पाश्चात्य गंगा-जमुना के पवित्र संगम, तन-मन-प्राण सभी को दैवी सत्ता के अवरोहण का माध्यम बना देने वाले एक योगी पृथ्वी पर ईसा के "स्वर्ग-राज्य" की कल्पना को मूर्तिमान बनाने का आयोजन करने वाले युग-प्रवर्त्तक नेता और थोथी संस्कृति तथा कृत्रिम सभ्यता के भार से लड़खड़ाती हुई मानव जाति को अति मानव के विज्ञानमय लोक की ओर जगाने वाले एक महान् पथ-प्रदर्शक थे।[1]

इस प्रकार यह महान् दार्शनिक ५ दिसम्बर, १६५० को हमारे बीच से उठ गया। उनका दर्शन आधुनिक युग में उल्लेखनीय एवं वन्दनीय है। उनके आदर्श भारतीय दर्शन के कीर्ति-स्तम्भ हैं। उनका जीवन युवा-पीढ़ी हेतु अनुकरणीय, प्रशंसनीय एवं सराहनीय है।

अरविन्द का योगदान :

आधुनिक युग की माँगों के अनुसार दर्शन का चिरंतन सत्य नवीन रूपों में उपस्थित किया जाना चाहिये। यदि दर्शन को कुछ वाक् चतुर वितंडावादिओं तक सीमित नहीं रहना है बल्कि मानव जाति की सेवा करनी है तो उसको हमारे युग की माँगों के अनुसार बनाना होगा।

श्री अरविन्द का दर्शन उपनिषदों की ओर प्रत्यागमन है। इतने लम्बे संघर्षपूर्ण इतिहास के पश्चात् भारतीय दर्शन श्री अरविन्द के विचारों में पुनः अपनी आत्मा को पा जाता है।

सर्वाङ्ग दृष्टिकोण :

दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, नीति शास्त्र तथा शिक्षा और मानव-ज्ञान की अन्य सभी शाखाओं में श्री अरविन्द ने पूर्ण मानव पर, मानव के साथ प्रकृति पर और मानव, जगत तथा ईश्वर में समान रूप से अभिव्यक्त आत्मा पर जोर दिया है।

---

१ दार्शनिक त्रै० भाग ३, अङ्क १, जनवरी १६५७, पृष्ठ २३-२६।

सर्वाङ्ग पद्धति :

दार्शनिक को जानना ही नहीं बल्कि विकसित भी होना है। विकसित होना ही जानना है। इस प्रकार दर्शन जीवन के निकट है। वह आध्यात्मिक अनुभव का एक सोपान है। परन्तु इससे उसकी हीनता नहीं सिद्ध होती। विज्ञान, धर्म, अध्यात्म शास्त्र, नीति शास्त्र सबका अपना स्वधर्म है। सभी दैवी सत्ता की ओर अपरिहार्य सोपान है। दर्शन में सभी प्रकार के अनुभव सम्मिलित होने चाहिये। परन्तु इसके लिए एक सर्वाङ्ग साक्षात्कार और उसकी प्राप्ति के हेतु एक सर्वाङ्ग पद्धति की आवश्यकता है। श्री अरविन्द की पद्धति सर्वाङ्ग है।

सर्वाङ्ग योग और मनोविज्ञान :

आध्यात्मिक अनुभव सभी सच्चे, दर्शन का जीवन, प्राण और उसकी चरम परिणति है। उसमे केवल आरोहण ही नही बल्कि दैवी सत्ता का जगत् में अवतरण भी सम्मिलित है। उसका लक्ष्य व्यक्तिगत ही नहीं बल्कि सार्वभौम मोक्ष है। मोक्ष ही नहीं बल्कि चैत्यीकरण, संश्लिष्टता और अति-मानसीकरण है। श्री अरविंद ने एक नवीन मनोविज्ञान की स्थापना की है जो मानव की अनेक गुप्त शक्तियों और इन्द्रियों को बतलाता है। वह मनोविज्ञान में विरोधी मतों के समन्वय की एक आधार भूमि भी प्रस्तुत करता है। खोज में विषय के अनुसार पद्धति में परिवर्तन होना चाहिये। मनोविज्ञान तथा दर्शन में कोई सब रोगों की एक दवा नही है। जैसे दर्शन मे वैसे ही मनोविज्ञान में श्री अरविंद अन्य सिद्धान्तों का विरोध नही करते। वे केवल उनकी सीमाओं का निर्देश करते है और एक सच्चे सर्वांग दृष्टिकोण पर पहुँचने के लिये उनका समन्वय करते है। उनकी सतत तुलना, निरीक्षण और नवीन प्रयोगों की एक वैज्ञानिक पद्धति है। श्री अरविंद एक सदैव बढ़ने वाले ज्ञान में विश्वास रखते हैं। वे सदा ही उन्नति करने, संशोधन करने और परिवर्तन तक करने को तैयार रहे हैं। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार हे। धर्म तथा दर्शन दोनों में ही श्री अरविंद ने प्रत्येक मत के पीछे कुछ न कुछ कारण बताये हैं।

सर्वांग धर्म :

आध्यात्मिक विकास के अपने सिद्धान्त के अनुरूप श्री अरविंद ने एक सर्वांग दर्शन का प्रतिपादन किया है। दैवी सत्ता तक पहुँचने का मार्ग

धर्म नहीं बल्कि योग है। परन्तु योग, धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान का निषेध नहीं करता बल्कि उन सबके लिये स्थान पाता है और उनको भागवत साक्षात्कार के साधनों के रूप में प्रयोग करता है।

आध्यात्मिकता का स्वभाव :

आध्यात्मिकता के स्वभाव के प्रसंग में श्री अरविंद ने ही सर्वप्रथम आत्मा में चैत्यीकरण और संश्लिष्टता के स्थान पर जोर दिया है। दर्शन में आत्मा का प्रत्यय कोई नया नहीं है। वह हेगेल, क्रोचे, ब्रैडले, शंकर तथा अनेक अन्य पूर्वीय और पाश्चात्य दार्शनिकों में पाया जाता है परन्तु हम कहीं भी एक सच्चा सर्वांग दृष्टिकोण नहीं पाते। श्री अरविंद के अनुसार आत्मा तन, मन और प्राण को संश्लिष्ट और रूपान्तरित करती है अतः आध्यात्मिक दर्शन में सब प्रकार के अनुभवों का स्थान है। श्री अरविंद का असीम तर्क उसके आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन करता है। श्री अरविंद विभिन्न प्रकार के अनुभवों में और उनका प्रतिपादन करने वाले विभिन्न तर्कों में अन्तर करते हैं। इस प्रकार सर्वांग दर्शन पूरी तरह बौद्धिक और आत्मानुरूप है। श्री अरविंद ने मानव के विकास में दर्शन और धर्म दोनों को ही योग के आधीन कर दिया है। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहाँ पर आधीन करने का अर्थ निषेध अथवा अवमूल्यन करना नहीं है। नवीन प्रकार की खोज के लिये नवीन पद्धति की आवश्यकता है। दर्शन और धर्म, तथा विज्ञान और नीतिशास्त्र तक अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। परन्तु आत्मा के साक्षात्कार के लिए योग अपरिहार्य है।

श्री अरविंद का परम श्रेय नैतिकता से परे है। परन्तु मानसिक स्तर ने नैतिकता को अपरिहार्य माना है।

श्री अरविंद के दर्शन को समझने की कुंजी आध्यात्मिक विकास है। उनके सभी विचार इसी मुख्य केन्द्र के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हैं। श्री अरविंद ने दर्शन, इतिहास, संस्कृति, विज्ञान, धर्म और राजनीति इत्यादि में विकास क्रम दिखलाया है और सब कहीं विकासवादी प्रयोजन की सामान्य रूपरेखा के अनुरूप भविष्यवाणी की है।

श्री अरविंद दर्शन दैवी सत्ता, व्यक्ति और समाज में एक समन्वित सम्बन्ध स्थापित करता है। वास्तव में व्यक्ति एवं समाज की समस्याओं

के सुलझाव के लिए श्री अरविंद का दर्शन ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इस प्रकार का उदार सर्वांग और स्पष्ट दृष्टिकोण ही एक विश्व-समाज की स्थापना कर सकता है। अपने विकास के सिद्धान्त के अनुरूप श्री अरविंद ने विज्ञानमय युग के अवतरण की घोषणा की है।

श्री अरविंद स्वयं भी विस्तार पर जोर न देकर स्थूल रूपरेखा का ही समर्थन करते हैं। मौखिक रूप से श्री अरविंद का सुलझाव अन्य वादों से कहीं अधिक समीचीन है। और यह आशा करने के लिये पर्याप्त कारण है कि व्यावहारिक रूप से भी वह अधिक उत्तम सिद्ध होगा।

इस प्रकार अरविंद दर्शन हमारे युग की सभी माँगों का प्रतिनिधित्व करता है। वह प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, यथार्थवाद और आदर्शवाद, व्यवहारवाद और आध्यात्मिकतावाद का समन्वय करता है। वर्तमान व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में अरविंद दर्शन बड़ा दूरदर्शितापूर्ण एव उपयोगी है।

परिणामो बन्धो परिणामो मोक्ष :

कुत्सित विचारों के कारण कर्मों का बन्ध होता है और शुद्ध विचारों के कारण कर्मों से मुक्ति मिलती है।

★

मन के लगड़े को असंख्य देवता भी मिलकर नहीं उठा सकते।

★

योग माने जोड़, माने जीव और शिव को एक कर देना।

★

मन मनसा को मार कर, मन ही मांहि फेर।
जब ही चाले पीठ दे, आंकस दे दे फेर॥

★

ध्यान, मन और स्वास्थ्य

● श्री यज्ञदत्त अक्षय, एम० ए०, बी० एड०

संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख स्वस्थ शरीर द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण विश्व में पहली और धर्म साधना की मुख्य वस्तु शरीर है। अन्य सबकी गणना उसके बाद होती है। शरीर की स्वस्थता का आधार मन पर भी होता है। इसलिये शरीर के साथ मन को स्वस्थ बनाना भी परमावश्यक है। शरीर को स्वस्थ बना कर हम मन और उसके बाद आत्मा की शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। स्वास्थ्य की प्रथम सीढ़ी है युक्त या नियमित आहार-विहार। मिथ्या आहार विहार से ही रोगों की उत्पत्ति होती है। यह हम जानते हुये भी भूल करते हैं। अतएव इसे प्रज्ञापराध कहा गया है। यह प्रज्ञापराध ही हमारे शरीर और मन में रोग उत्पन्न करता है। अथवा इस रूप में मनुष्य बुद्धि पूर्वक रोगों को निमंत्रण देता है। इसलिये समस्त रोगों में जब हम बुद्धिमत्ता पूर्वक मन पर नियंत्रण रखकर आहार-विहार में नियमितता लायेंगे तभी हम स्वस्थता प्राप्त कर सकेंगे। मन पर बुद्धि का प्रभाव होने पर ही शरीर में रोग प्रवेश नहीं कर पायेंगे। मनुष्य विद्या बुद्धि के रहते हुये भी प्रज्ञापराध करके रोगी बन जाता है। जबकि पशु-पक्षी केवल प्राकृतिक नियमों का पालन करके स्वस्थ रहते और रोगों के आक्रमण से बच जाते हैं। शरीर प्रकृति शान्त व निश्चल है और उसे आज्ञा देकर कर्म में प्रवृत्त कराने वाला मन ही होता है। अतएव हमें मन के अस्थायी क्षणिक सुख की लालसा से आहार-विहार में अनियमितता ला देने और प्रज्ञापराध तथा इन्द्रियों की स्वच्छंदता को रोक कर नियमितता धारण करनी चाहिये। हम सदाचार और शुभ संकल्प के द्वारा ही स्वस्थ रहकर मनुष्य शरीर मे सुख प्राप्त कर सकते हैं।

सदाचार और संयम को जीवन में परिणत करने से रोगों के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। सदाचार के नियमों का पालन करने से मन की

स्थिरता भी सिद्ध हो सकती है और मन पर शुभ प्रभाव डालने से मनुष्य सहज ही में रोग मुक्त हो सकता है। यदि हम मानसिक निर्बलता को दूर करदे तो शरीर और मन दोनों को स्वस्थ बना सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर पर मन का प्रभाव पड़ता है और मन पर शारीरिक स्थिति का स्वस्थता-अस्वस्थता का प्रभाव पड़ता है। इस तरह एक प्रकार का चक्र सा चलता रहता है। पहले मनमें स्वाद लिप्सा तथा अन्य लालसाएँ उत्पन्न होती है। इनकी उत्पत्ति के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे अज्ञान, भ्रमपूर्ण ज्ञान, बड़ों के गलत उदाहरण का अन्धानुकरण, सामाजिक परिवेश, मान्यताएँ आदि। उन लिप्साओं और लालसाओं की पूर्ति के फलस्वरूप तन अस्वस्थ रहता है। तन की *अस्वस्थता के कारण निराशा, अनुत्साह, चिड़चिड़ापन, अधैर्य, वृथा संतोष,* दीनता हीनता की भावनाएँ आदि अनेक मन की अस्वस्थताएँ उत्पन्न होती हैं। इनका प्रभाव पुन: शरीर पर पड़ता है और वह अनेक जटिल रोगों को जन्म देता है। इस प्रकार एक अटूट चक्कर चलने लगता है। इस विषम वर्तुल को मन के स्तर पर ही प्रथम तोड़ना आवश्यक है। मन को स्वास्थ्य पर केन्द्रित करना अर्थात् स्वास्थ्य एवं संयम हेतु मन को तय्यार करना आवश्यक है क्योंकि 'मनएव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो'--मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत। मन असयम, अस्वस्थता, अनुत्साह में लीन है तो उसके परिणाम स्वरूप शरीर की स्थिति विकृत होगी ही। मनमें आशा, उत्साह, संयम व्याप्त है तो स्वास्थ्य, शक्ति, स्फूर्ति और सामर्थ्य के रूप में उसका सुपरिणाम प्रत्यक्ष होगा ही।

यहीं ध्यान की उपयोगिता स्पष्ट होती है। ध्यान की उपादेयता विषय पर निर्भर करती है। अच्छे विषय का ध्यान सुफल उत्पन्न करता है, बुरे विषय का ध्यान कटुफल या कुफल।

स्वास्थ्य सम्पादन के लिये पहले दृष्टिकोण को ठीक करना चाहिये। इस हेतु प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी निष्णात लेखकों के साहित्य के अध्ययन रूप स्वाध्याय और अनुभवी प्राकृतिक चिकित्सकों से पत्र व्यवहार अथवा निजी सम्पर्क रूप सत्संग का उपयोग करना चाहिये। ज्ञान के बाद ध्यान का नम्बर आता है।

नित्य प्रातः, मध्यान्ह और रात्रि में सोने से पूर्व आशा, उत्साह, स्वास्थ्य, स्फूर्ति सामर्थ्य के विचारों पर थोड़ी देर मन को टिकाना चाहिये। एकाग्रता और मौन से ध्यान ठीक लगता है। ध्यान के ढंग को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) शिथिलीकरण (२) एकाग्रता (३) चित्त की स्थिरता

(१) शिथिलीकरण—शरीर को पूरा २ शिथिल करने का अभ्यास किया जाय। इस हेतु आराम से पीठ के बल लेट जाइये। तकिया न हो या बहुत ऊँचा न हो। फिर पैर के तलवे से लेकर चोटी तक अंग २ को ढीला कर दीजिये और आँखों को बन्द कर शान्त हो जाइये। जिस अंग को सोचेंगे वही ढीला हो जायगा। इसलिये पैर की उँगलियों से शुरू कीजिये और सोचिये कि वे ढीले हो गये। इस प्रकार नीचे से ऊपर तक एक २ अंग के बारे में सोचते जाइये कि वे ढीले और शिथिल हो रहे है। वे वैसे ही होते जायेंगे। इस अभ्यास में अधिक से अधिक ३-४ मिनट लगेंगे। इससे अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। कुछ दिनों के बाद लेटते ही सारा शरीर शिथिल और ढीला हो जाया करेगा।

जब शरीर तना हुआ हो, ज्ञान तन्तु कसे हुये हों और मांसपेशियाँ सख्त हों तो हम मन को निश्चेष्ट नहीं कर सकते और न ऐसी दशा में ध्यान ही लगा सकते हैं।

(२) एकाग्रता—शिथिलीकरण के पश्चात् मन को किसी विषय पर एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिये। उदाहरणार्थ एक शब्द 'उत्साह' लीजिये और उस पर विचार स्थिर कीजिये। दृढ विचार करें कि मैं अपने मनमें उत्साह के अतिरिक्त अन्य कोई विचार न आने दूँगा और आयेगा तो एकदम रोक दूँगा। फिर 'उत्साह' के विविध रूपों, चित्रों पर मनमें विचार करें। अन्य विषय पर मन जाय तो उसे पुनः 'उत्साह' पर ही खींच लाइये।

(३) चित्त की स्थिरता—फिर निश्चित विषय पर चित्त को स्थिर करो और उसी के विविध चित्र मनमें निर्मित करो। इस प्रकार विशिष्ट आशापूर्ण विचारों पर मन को टिकाया जाय तो विशेष लाभ होता है। पहले तो निराशा आ ही नहीं पाती और अगर आती भी है तो आसानी से आशा में परिणत की जा सकती है। इस तरह के विचारों के कुछ नमूने निम्नलिखित हैं—

(१) मैं हर रोज और सभी तरह स्वस्थ और सबल हो रहा हूँ। मै शीघ्र ही पूर्णरूप से स्वस्थ और सबल हो जाऊँगा।

(२) मेरे सुख के दिन निश्चय ही समीप आ रहे हैं। अब मेरी उचित चिकित्सा हो रही है। मेरे जीवन का ढंग बदल रहा है। मेरा जीवन पहले से अच्छा हो रहा है। इस नयी चिकित्सा से मुझे लाभ हो रहा है और प्रतिदिन अधिक लाभ होगा। मैं शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा।

(३) मेरा मन पहले से ज्यादा अच्छी हालत में है और वह मेरे शरीर को स्वस्थ बना रहा है। मेरे शरीर के सभी अंग, सभी कलपुर्जे नये हो रहे हैं, अब पाचन क्रिया अच्छी हो रही है और और अच्छी होगी, शरीर में शुद्ध रक्त प्रवाहित हो रहा है।

(४) मैं दिव्य हूँ। दूसरा कुछ नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, दुख शोक को भुगतने वाला नहीं हूँ। मै सच्चिदानन्द का रूप हूँ और स्वभाव से ही मुक्त हूँ।

इस तरह के विचारों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि (१) विचार नकारात्मक न हों। 'रोग या कष्ट दूर हो रहा है' यह न सोचा जाय। रोग या कष्ट की कल्पना ही न की जाय। सुख, स्वास्थ्य, शक्ति ही की कल्पना हो। और (२) जो कुछ सोचा जाय उसका जीता जागता चित्र अपने मानसिक नेत्रों के सामने खड़ा किया जाय।

आरम्भ में कुछ दिनों तक मन गड़बड़ी करता रह सकता है लेकिन तत्परतापूर्वक लग कर सोने से पूर्व और सवेरे उठने के बाद तथा जब भी मन हतोत्साहित होता हो इस प्रकार का ध्यान किया जाय तो थोड़े दिनों में उसका सुफल अवश्य प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

यह न भूला जाय कि स्वास्थ्य और सामर्थ्य के सद् विचारों के अनुरूप ही अपने दिन के कामों में आचरण भी किया जाय।

मित्रों, मिलने आने वालों और सम्बन्धी जनों को भी चाहिये कि सदा आशा, उत्साह, प्रफुल्लता, स्वास्थ्य, शक्ति, स्फूर्ति आदि की ओर ही ध्यान आकृष्ट करें।

Say you are well and all is well with you,
And God shall hear your words and make them true.

★

दिग्दर्शन :

भारतीय दर्शन में ध्यान का महत्त्व

● श्री प्रेमकुमार अग्रवाल, एम० ए०

भारतीय जीवन एवं दृष्टिकोण अध्यात्म प्रधान रहे है। वैदिक परम्परा हो अथवा श्रमण संस्कृति, प्रत्येक ने आध्यात्मिक अनुभूतिको सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है। आध्यात्मिक अनुभूति का चिन्तन और मनन मात्र ही नहीं, बल्कि उसकी प्राप्ति का उपाय भी निर्दिष्ट किया है। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि वाह्य शक्त्याश्रित मानव अखण्ड सुख एवं शान्ति प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। अखण्ड रसानुभूति के लिए अन्तर्मुखी होकर सत्य का साक्षात्कार करना परमावश्यक है। सत्य-प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों ने 'तप' अथवा 'योग' को साधन रूप में स्वीकार किया है। इन योगों में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है। डाक्टर केयर्ड के शब्दों में—"मानव सर्वप्रथम वहिर्मुखी होता है, पश्चात् अन्तर्मुखी और फिर सत्यमुखी ध्यान ही अन्तदर्शी मनुष्य को सत्यदर्शी बनाता है।"

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ध्यान' शब्द 'ध्यै' धातु और ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। साधारणतया 'ध्यान' शब्द का अर्थ 'किसी के स्वरूप-चिन्तन' से लिया जाता है, किन्तु कतिपय दर्शनों ने इस शब्द की व्याख्या अपने मतानुकूल दी है। वैसे, समस्त व्याख्याएँ एक ही केन्द्र विन्दु के परिप्रेक्ष्य में समाविष्ट है।

वैदिक संस्कृति में ध्यान :

उपनिषदों[1] में ध्यान एवं समाधि का सूक्ष्म वर्णन अंकित है। ब्रह्मविद्रूपनिषद्[2] के अनुसार हृदय में मन का तब तक निरोध करना

१. दर्शनोपनिषद् ६।१-६; ध्यानविन्दूपनिषद् १४-३७; शाडिल्यो. १।६।२

२. तावदेवं निरोद्धव्यं यावद्ध-दिगतंक्षयम्।

चाहिये जब तक उसका क्षय न हो जाय। एतद् समाधिस्थ अवस्था में व्यक्ति परमात्मा को पाकर स्वयं को उसके जैसा समझने लगता है।[3] अर्थात् ऐसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विपरिलोप हो जाता है।[4] द्रष्टव्य है कि उपनिषदों के अनुसार मन को हृदयस्थ प्रदेश में केन्द्रित कर उसकी विभिन्न चित्त वृत्तियों को क्षय कर देना ही ध्यान कहा गया है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की लोपावस्था को ही 'समाधि' की संज्ञा दी गई है, क्योंकि जब साधक ध्यान में स्थूल का आलम्बन ग्रहण कर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, तब एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ उसे किसी भी वस्तु के आलम्बन की अपेक्षा नहीं रह जाती। समाधि की इसी अवस्था को सांख्य दर्शन "ध्यानं निर्विषयं मनः" के रूप में स्वीकार करता है[5], अर्थात् मन के निर्विषय होने का नाम ध्यान है। 'योग दर्शन'[6] में अनुभव अथवा चित्त की एकतानता को ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और कहा है कि समाधिस्थ अवस्था में केवल अर्थमात्र ही भासित होता है।[7] इसी प्रकार हठयोग संहिता भी प्राणायाम के द्वारा समाधि-सिद्धि की महत्ता पर बल देता है।[8] और वायु-निरोध द्वारा मन के निरोध को 'ध्यान' की संज्ञा देता है।

ध्यातव्य है कि ध्यान का योग एवं समाधि से अटूट सम्बन्ध है। ध्यान की चरम अवस्था को समाधि कहा गया है और विभिन्न योगों के साधन रूप में ध्यान-योग सहायक है। वास्तव में 'योग' शब्द का अर्थ होता है—जोड़ना अथवा दो भिन्न तत्त्वों को संयोजित करना। अर्थात् अध्यात्म क्षेत्र में आत्मा को परमात्मा (मोक्ष) से जोड़ना ही योग कहा गया है। योग का मूल स्वरूप तो चित्त वृत्तियों का निरोध करना ही है, वहीं से योग का अंकुर फूटता है—"योगश्चित् वृत्ति निरोधः।" इसलिये योग, समाधि अथवा ध्यान का परस्पर एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

बौद्ध मत में ध्यान :

---

३. अमृतनादोपनिषद् १६, ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ५
४. शाण्डिल्यो. ११.
५. सांख्य सूत्रम् ६।२५
६. 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' —योगदर्शन ३।२
७. "तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"— वही ३।३
८. हठ योग संहिता, १००.

वैदिक परम्परा सदृश ही बौद्ध धर्मानुयायी भी चंचल चित्त वृत्तियों को स्थिर करने के लिये ध्यान की महत्ता को स्वीकार करते हैं। ज्ञातव्य है कि चित्त की वृत्ति ही मानव के बन्धन और मोक्ष का एकमात्र कारण है। इसी के कारण उसे संसार-भ्रमण करना पड़ता है। महायान के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति ही ध्यान का चरम लक्ष्य है।[९] अतः जो निर्दिष्ट ध्यान-योगों को करते हुये प्रज्ञा प्राप्त करता है, वह निर्वाण के समीप है।[१०]

हीनयान भी निर्वाण-प्राप्ति को जीवन का परम ध्येय मानता है और 'अर्हत्' पद की प्राप्ति को प्रधान उद्देश्य। अभिधर्म कोश (पृ० ५०) में अर्हत् पद की प्राप्ति हेतु चतुर्थ आयतनों का विधान किया गया है जो निर्वाण-प्राप्ति के साधन हैं—

(१) आकाशानन्त्यायतन (२) विज्ञानानन्त्यायतन

(३) अकिंचनायतन (४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन

इन समस्त आयतनों को शनैः शनैः जब श्रावक पार कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। अन्तिम अवस्था को 'भवाग्र' की संज्ञा दी गई है—'भवाग्रासंज्ञि सत्वाश्च सत्वावासानव स्मृताः।[११]

महायान सम्प्रदाय बुद्धत्व की प्राप्ति को तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक कि प्रज्ञा पारमिताओं का उदय न हो जाय। प्रज्ञापारमिताओं के उद्भव के लिए समाधि की अपेक्षा स्वीकार की गई है और इनके साधना प्रकारों का भी निर्देश किया गया है।[१२] ये साधन योगी को क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। इन प्रक्रियाओं में ध्यान का विशेष हाथ होता है। ध्यान की एकाग्रता से ही चंचल वृत्तियों

---

९. 'ते झायिनो सातत्तिका निच्चं दलह्‌ परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं॥
—धम्म पद, २।३

१०. 'यम्हि झानं च पंञा च स वे निब्बा नसन्ति के'—वही, ३७२

११. वही, २।३

१२. दीघ निकाय १।२, मज्झिम निकाय ३।२।१, विशुद्धि मार्ग परि०, ४ पृथ्विकसिण निदेश।

का निरोध अथवा क्षय कर साधना-क्रम की सीढ़ियों पर आगे बढ़ा जा सकता है।

जैन दर्शन में ध्यान :

अन्यान्य दर्शनों की ही भाँति जैन दर्शन भी ध्यान की तर्क संगत परिभाषा उपस्थित करता है। तत्त्वानुशासन के अनुसार—चित्त को विषय विशेष पर केन्द्रित करना ही ध्यान है,[१३] जो निर्जरा एवं संवर का कारण रूप है।[१४] इसलिये ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है।[१५] विचारों का एक विषय पर केन्द्रित होना जहाँ ध्यान कहा गया है, वहीं चित्त के विषयान्तर ध्यान को भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता की संज्ञा दी गई है।[१६] अतः ध्याता का कर्त्तव्य है कि षट्कारमयी आत्मा[१७] का ध्यान करे, क्योंकि वही ध्यान संज्ञिक वाच्य के रूप में उल्लेख्य है।[१८]

जैन दर्शन में ध्यान को, तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तः-सलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्य ध्यान, आदि पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है।[१९] प्रकारान्तर से 'ध्यान' अथवा 'समाधि', उसे कहा जा सकता है जिसमें संसार बन्धनों को तोड़ने वाले वाक्यार्थ चिन्तन किये जाते हैं; अर्थात् सम्पूर्ण कर्ममल क्षय होने पर केवल वाक्यालम्बन आश्रित आत्मस्वरूप में दृढ़ अथवा लीन हो जाने का प्रयत्न किया जाता है।[२०]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्यान का योग एवं समाधि से अपृथक् सम्बन्ध है अथवा यों कहा जाय कि ये परस्परानुपेक्षी हैं तो असंगत

---

१३. 'चित्त सेगग्गया हवइ झाणं'—आवश्यक निर्युक्ति, १४५६;
ध्यान शतक, २; नवपदार्थ, पृ० ६६८।

१४. 'तद् ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्'— तत्वानु., ५६

१५. ध्यायते येन तद् ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, व्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ —वही, ६७

११. षट खंडागम, १३ पृ० ६४.

१७. कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान अधिकरण।

१८. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्व स्मैस्वतो यतः।
षट् कारकमय स्त स्माद् ध्यान मात्मैव निश्चयात् ॥ —तत्वानु., ७४.

१६. आर्ष, २१।२२; तत्त्वानु. पृ० ६१.

२०. 'समाधि मेवैह तृणां वाक्यानामर्थं चितन'—योग प्रदीप १३८

न होगा। प्रश्न उठता है कि 'ध्यान' क्यों किया जाय ? क्या बिना ध्यान के मोक्ष सम्भव नहीं है ? इस प्रकार के प्रश्नों का निराकरण हम इस रूप में कर चुके हैं कि चंचल वृत्तियों के निरोध बिना मोक्ष की अवधारणा व्यर्थ है और इसका सहज उपाय है ध्यान-योग का अवलम्बन ग्रहण करना। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यान का सर्वांगीण वर्णन प्राप्त होता है। 'णाणसार' के रचयिता श्री योगीराज पद्मसिंह ने लिखा है—

> पाहाणम्मि सुवरणं कट्ठे अग्गी विणा पओएहिं ।
> णजहा दीसन्ति इमो झाणेण विणा तहा अप्पा ॥

अर्थात् जैसे पाषाण में सुवर्ण और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के नहीं दीखती, उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा के दर्शन नहीं होते। ध्यान से ही आत्मा का शुद्ध प्रतिभास हो सकता है। 'आराधना सार' में कहा गया है—'खूब तप करो, सारे शास्त्रों को पढ़ो, किन्तु जब तक आत्मा का ध्यान नहीं करते, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।[२१] ध्यान के बिना जो कर्म क्षय करने की इच्छा करता है वह उस मनुष्य के सदृश है जो पंगु होने पर भी मेरु के शिखर पर चढ़ने की आकांक्षा रखता है।[२२] जिस प्रकार क्षुधा नाश के लिए अन्न है, प्यास की तृप्ति के लिए जल है, उसी प्रकार विषय-वासनाओं की भूख-प्यास को नष्ट करने के लिए ध्यान है।[२३]

ध्यान के लिए तीन वस्तुओं– ध्याता, ध्येय और ध्यान, पर दृष्टिपात कर लेना भी आवश्यक है। साधक अथवा ध्याता जब एकाग्र चित्त होकर अपने ध्येय वस्तु में आरूढ़ होता है, तभी उसका ध्यान फलदायक होता है, अन्यथा नहीं। ध्यान की सिद्धि के लिए प्रारम्भिक अवस्था में कुछ आलम्बनों का आश्रय लेना भी आवश्यक है; क्योंकि ये आलम्बन, यथा—वैराग्य, कुम्भक, रेचन, मुद्रा, आसन, लिंग, मन्त्र, इत्यादि ध्यान-प्रक्रिया को सरल एवं सुलभ बनाने में सहायक होते हैं। इसके साथ-साथ परिग्रह त्याग, कषाय निग्रह, व्रत धारण, रागद्वेष निरोध एवं मन तथा इन्द्रियों को जीतने की अपेक्षा भी कही गयी है।[२४] किन्तु इन आलम्बनों

---

२१. आराधना, १११   २२. तत्वसार, १३
२३. भगवती आराधना, १६०२
२४. तत्वानु., ७५; बृहद् द्रव्यसंग्रह, ४८

को ध्यान का विशिष्ट तत्त्व मानना आवश्यक नहीं कहा गया है। आचार्य अमितगति ने कहा है—

"न संस्तरो भद्र समाधि साधनम्"

अर्थात् समाधि का साधन आसन नहीं है। वैसे जैन दर्शन मे पद्मासन को विशेष महत्त्व प्राप्त है, किन्तु आवश्यक नहीं है कि पद्मासन से ही ध्यान-सिद्धि प्राप्त की जाय। आसन आदि की सिद्धि तो देर तक एक मुद्रा मे बैठे रहने की सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से होती है, जिससे कि ध्यान मे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। इसलिए साधक की सरलता को ध्यान मे रखते हुए किसी भी आसन को प्रयुक्त किया जा सकता है।

ध्यान के सन्दर्भ मे, इसकी कुछ विशिष्ट पद्धतियो अथवा प्रकारो के बारे में भी कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है। ध्यान का विषय शुभ अथवा अशुभ दोनो ही हो सकता है और तदनुसार फल भी प्राप्त होता है। शुभचन्द्र ने ध्यान के दो प्रकारो का उल्लेख किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उन्होंने ध्यान के तीन विभाजन—शुभ अशुभ और शुद्ध— प्रस्तुत किए हैं, किन्तु उनका व्यावहारिक विभाजन प्रशस्त और अप्रशस्त रूप मे वर्णित है।[२५] तत्वत दोनो भेदो मे कोई विरोध नहीं है। अप्रशस्त ध्यान के दो रूप—आर्त और रौद्र हैं, किन्तु ये ध्यान की उत्तम पद्धतियाँ नहीं मानी गयी हैं। प्रशस्त रूप ही ध्यान की उत्तम विधि स्वीकार की गई है, जिसके दो रूप मिलते हैं—धर्म और शुक्ल। धर्म-ध्यान[२६] एव शुक्ल ध्यान[२७] के पुन चार-चार विभाग किये गये हैं। पिण्डस्थ ध्यान मे 'कमल' आदि का चिन्तन, पदस्थ ध्यान मे 'ओम्', 'अरिहन्त' आदि पदो का अवलम्बन,[२८] रूपस्थ एव रूपातीत ध्यानो मे क्रमश अरहन्त के गुण-शक्तियो और सिद्धो के स्वरूप पर चिन्तन-मनन किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कई ध्यान प्रकारो का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इन सबके मूल मे किसी न किसी प्रकार के अवलम्बन ग्रहण का सिद्धान्त निर्दिष्ट है।

धर्म ध्यान की भूमिका—परि समाप्ति पर शुक्ल ध्यान का आरम्भ

---

२५ ज्ञाना, -।२७   २६ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत

२७ पृथकत्व-वितर्क विचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति, व्युपरत-क्रिया निवर्ति।

२८. ज्ञाना ३८

होता है, जिसे जैन शास्त्रों में श्रेणी चढ़ना कहा गया है। श्रेणियाँ, आठवें गुण स्थान से प्रारम्भ होती हैं और आत्मा एवं कर्म युद्ध करते हुए उनके संस्कारों को क्षय करने की प्रक्रिया चलाती हैं। जैनियों के 'द्रव्य संग्रह' ग्रन्थ में कहा गया है—

> दुविहंपि मोकखहेउ, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
> तला पयत्तचित्ता, जूयं झाणं सम कसह॥

अर्थात् केवल ध्यान से ही मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति हो सकती है, चाहे वह निश्चय मुक्ति मार्ग हो, चाहे व्यवहार मोक्ष-मार्ग। यदि मोक्ष-प्राप्ति की आकांक्षा है तो ध्यान का अभ्यास करो। ध्यान में लवलीन होने का उपाय बताते हुये इसी ग्रन्थ में कहा गया है—

> मा मुज्झह, मारज्जह,
> मा दुस्सह वट्ठणि ह्न अत्थेसु।
> थिरमिच्छहजइ चित्तं,
> विचित्त झाणाध सिद्धीए॥

नानाविध ध्यानों के लिए स्थिर चित्त प्राप्त करने हेतु इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष-मोह का परित्याग कर देना आवश्यक है।

इस प्रकार विभिन्न भारतीय परम्पराओं में ध्यान-योग की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। ये समस्त दर्शन ध्यान की सिद्धावस्था में उपलब्धियों का भी वर्णन करते है, जिससे मानव को अभूतपूर्व शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जैन ग्रन्थों में लब्धियों के नानाविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है, यथा—दसविद्या लद्धी पणत्ता, तजंहा-नाण लद्धी, चरित लद्धी आदि।[२९] किन्तु इस दर्शन में लब्धियों के सम्बन्ध में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं पर दस प्रकार की लब्धियों का विवेचन है तो किसी[३०] ने ६४, किसी[३१] ने २८ और किसी[३२] ने ४८ का वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि इन लब्धियों के द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप को छोटा-बड़ा आदि कर सकता है, जो ध्यान के परिणाम स्वरूप प्राप्त होते हैं। योग दर्शन भी इसी प्रकार की विविध विभूतियों का वर्णन करता है। ध्यातव्य है कि इन सिद्धियों का प्रदर्शन मनोरजन या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए करना सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि ऐसी दशा में साधक अपने लक्ष्य-स्थल से च्युत हो सकता है।

---

२९. भगवती सूत्र, ८।२ ३०. तिलोयपन्नत्ती (भाग १।४।१०६७-९१)
३१. आवश्यक निर्युक्ति, ६९-७० ३२. विद्यानुशासन

★

जैन दर्शन में ध्यान-विचार

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, पी-एच० डी०

यों तो सभी धर्मों और दर्शनों में ध्यान, समाधि या योग का प्रतिपादन है। योगदर्शन तो उसी पर आधृत है और योग के सूक्ष्म चिन्तन को लिये हुये है। पर योग का लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धि-सिद्धियों की उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्ति के लिये योगाराधन करता है। योग द्वारा ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयोजन भी प्रभाव-प्रदर्शन, चमत्कार-दर्शन आदि है। मुक्ति-लाभ भी योग का एक उद्देश्य है, पर वह गौण है।

जैन दर्शन में ध्यान का लक्ष्य मुख्यतया कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा है और इन दोनों के द्वारा अशेष कर्म मुक्ति प्राप्त करना है। यद्यपि योगी को अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उसके योग-प्रभाव से उपलब्ध होती हैं पर वे उसकी दृष्टि में प्राप्य नहीं है, मात्र आनुषङ्गिक है। उनसे उसको न लगाव होता है और न उनके लिये वह ध्यान करता है। वे तथा अन्य स्वर्गादि अभ्युदय उसे उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार चावलों के लिये खेती करने वाले किसान को भूसा अप्रार्थित मिल जाता है। किसान भूसा को प्राप्त करने का न लक्ष्य रखता है और न उसके लिये प्रयास ही करता है। योगी भी योग का आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा के लिये करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियों में उलझता है—उनमें लुभित होता है तो वह योग के वास्तविक लाभ से वंचित होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने[1] स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्म-निरोध) और कर्म-निर्जरा होते हैं। आचार्य रामसेन[2] भी

१. 'आस्रव निरोधः संवरः', 'तपसा निर्जरा च'—त० सू० ९-१, ३।

२. 'तद् ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्।'—तत्त्वानु. ५६।

अपने तत्त्वानुशासन में ध्यान को संवर तथा निर्जरा का कारण बतलाते हैं। इन दोनों से समस्त कर्मों का अभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शन में ध्यान का आध्यात्मिक महत्त्व मुख्य है।

ध्यान की आवश्यकता पर बल देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं[4] कि मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है और यह रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है। यह दोनों प्रकार का रत्नत्रय ध्यान से ही उपलब्ध है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनि को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। तत्त्वार्थसारकार आ. अमृतचन्द्र[5] भी यही कहते हैं। यथार्थ में ध्यान में जब योगी अपने से भिन्न किसी दूसरे मंत्रादि पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है और जब केवल अपने आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे ही श्रद्धा, ज्ञान और चर्या का विषय बनाता है तब वह निश्चय मोक्षमार्गी होता है। अतः मोक्ष प्राप्त कराने वाले रत्नत्रयरूप मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये योगी को ध्यान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

मनुष्य के चिरन्तन संस्कार उसे विषय और वासनाओं की ओर ही ले जाते हैं। और इन संस्कारों की जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि उन्हें न जाने योग्य स्थान में भी जाना पड़ता है। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मन का अपने को गुलाम बनाकर तदनुसार उचित अनुचित सब प्रकार की प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेष की भट्टी में जलता और कष्ट उठाता है। आचार्य अमितगतिने[6] ठीक लिखा है कि आत्मा

---

३. 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'—त. सू. १०-२।

४. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ —द्रव्य संग्रह ४७।

५. निश्चय-व्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ तत्त्वार्थ०

६. संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बवं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥ —सामायिक०

संयोग के कारण नाना दुःखों को पाता है अगर वह इस तथ्य को समझ ले तो उस संयोग के छोड़ने में उसे एक क्षण भी न लगे। तत्त्वज्ञान से क्या असम्भव है ? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही ध्यान है। अतः ध्यान के अभ्यास के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण। जब तक दोनों पर नियंत्रण न होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबा रहेगा और उनसे कष्टों को भोगता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसी को इष्ट नहीं है—सभी को सुख और शान्ति इष्ट है। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्य को सत्संगति से या शास्त्रज्ञान से उक्त तथ्य को समझ कर विषय-वासनाओं में ले जाने वाली इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करना जरूरी है। जब इन्द्रिय और मन नियंत्रित रहेंगे तो मनुष्य की प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य होगी, क्योंकि वे निर्विषय नहीं रह सकते। आत्मा उनका विषय हो जाने पर स्वाधीन सुख और शान्ति की उत्तरोत्तर अपूर्व उपलब्धि होती जायेगी।

यह सच है कि इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करना सरल नहीं है, अति दुष्कर है। परन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्य में यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्य के लिए अति दुष्कर होता है वह असामान्य मनष्य के लिए सम्भव होता है और वह उसे कर डालता है। अतः इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करने में आरम्भ में भले ही कठिनाई दिखे। पर संकल्प और दृढ़ता के साथ निरन्तर प्रयत्न करने पर उस कठिनाई पर विजय पा ली जाती है। इन्द्रियों और मन पर काबू पाने के लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। उनमें प्रधान दो उपाय हैं—१. परमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। परमात्मभक्ति के लिए पंच परमेष्ठी का जप, स्मरण और गुण कीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (**नान्यथा शरणं नास्ति त्वमेवशरणं मम**) माना जाय। इससे आत्मा में विचित्र प्रकार की शुद्धि आयेगी। मन और वाणी निर्मल होंगे। और उनके निर्मल होते ही वह ध्यान की ओर झुकेगा तथा ध्यान द्वारा उपर्युक्त द्विविध मोक्षमार्ग को प्राप्त करेगा। परमात्म-भक्ति में उन सब मंत्रों का जाप किया जाता है जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि और या सभी को जपा जाता है। आचार्य विद्यानन्द ने[७] लिखा है कि परमेष्ठी की भक्ति (स्मरण,

---

७. श्रेयोमार्ग संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥ आप्त प० २।

कीर्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धि होती है। इसीसे उनका स्तवन करना बड़े-बड़े मुनि श्रेष्ठों ने बतलाया है।

इन्द्रियों और मन को वश मे करने का दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक् शास्त्रो के अनुशीलन, मनन और सतत अभ्यास से प्राप्त होता है। वास्तव में जब मन का व्यापार शास्त्र स्वाध्याय में लगा होगा– उसके शब्द और अर्थ के चिन्तन मे संलग्न होगा तो वह अन्यत्र जायेगा ही कैसे? और जब वह नही जायेगा तो इन्द्रियाँ उस अग्नि की तरह ठंडी (राख) हो जायेगी जो इंधन के अभाव में राख हो जाती है। वस्तुतः इन्द्रियो को मन के व्यापार से ही खुराक मिलती है। इसीलिये मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है। शास्त्रस्वाध्याय मन को नियन्त्रित करने के लिए एक अमोघ उपाय है। सम्भवतः इसी से **'स्वाध्यायः परमं तपः'** स्वाध्याय को परम तप कहा है।

ये दो मुख्य उपाय है इन्द्रियों और मन को नियंत्रित करने के। इनके नियंत्रित हो जाने पर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओर से चित्त की वृत्तियों को रोककर उसे एक मात्र आत्मा मे स्थिर करने का नाम ही ध्यान है। चित्त को जब तक एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है न आत्मज्ञान होता है और न आत्मा मे आत्मा की चर्या। और जब तक ये तीनों प्राप्त नही होते तब तक दोष और आवरणों की निवृत्ति सम्भव नही। अतः योगी ध्यान के द्वारा चित् और आनन्द-स्वरूप होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है। आचार्य रामसेन[८] लिखते हैं कि जिस प्रकार सतत अभ्यास से महाशास्त्र भी अभ्यस्त एवं सुनिश्चित हो जाते है उसी प्रकार निरन्तर के ध्यानाभ्यास से ध्यान भी अभ्यस्त एवं सुस्थिर हो जाता है। वे योगी को ध्यान करने की प्रेरणा करते हुये कहते हैं—

'हे योगिन्! यदि तू संसार-बन्धन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारण-रूप मिथ्या दर्शनादिक के त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यान का अभ्यास कर।'

---

८. यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम्॥ तत्त्वा० ८८।

'ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश करने वाला चरम-शरीरी योगी तो उसी पर्याय में मुक्ति प्राप्त करता है और जो चरम शरीरी नहीं है वह उत्तम देवाधि की आयु प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति पाता है। यह ध्यान की ही अपूर्व महिमा है।'

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम् ।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन् ! मुमुक्षसे ।।
ध्यानाभ्यास-प्रकर्षेण त्रुस्यन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ।।
—आ. रामसेन, तत्त्वानुशासन २२३, २२४।

निःसन्देह ध्यान एक ऐसी चीज है जो परलोक के लिए उत्तम पाथेय है। इस लोक को भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उपयोगी है। यदि भारतवासी इसके महत्व को समझ लें तो वे पूर्व ऋषियों के प्रभावपूर्ण आदर्श को विश्व के सामने सहज ही उपस्थित कर सकते हैं। जितेन्द्रिय और मनस्वी सन्तानें होंगी तथा परिवार-नियोजन, आपाधापी, संग्रह-वृत्ति आदि अनेक समस्यायें इसके अनुसरण से अनायास सुलझ सकती हैं।

तुम्हें अपने रास्ते में खुर वाले आदमी मिलेंगे, उन्हें अपनी पखाज देना; और सींग वाले आदमी मिलेंगे उन्हें जय-मालाएँ देना और पंजों वाले आदमी मिलेंगे, उन्हें अंगुलियों के लिए पखड़ियाँ देना; और वर्छीली जबानों वाले आदमी मिलेंगे उन्हें शब्दों के लिए शहद देना। — खलील जिब्रान

✲

मैंने फूलों में आवाजें सुनीं और गीतों में जगमगाहट देखी —सन्त मार्टिन

✲

जो चीजें दिखती हैं वे क्षणिक हैं, लेकिन जो नहीं दिखती वे शाश्वत हैं।
— बाइबिल

★

ध्यान-साधना का मनोवैज्ञानिक पक्ष

◎ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा, एम. ए. बी एड.

इधर उधर भटकते मन को प्रयत्न पूर्व वश में करना और उसे किसी एक शुभ प्रवृत्ति में लगाना ही ध्यान-साधना है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य ध्यान-साधना द्वारा चित्त निर्द्वन्द्व एवं शुद्ध कैसे होता है, इस पर प्रकाश डालना है।

ध्यान का निरूपण करते हुए जैनाचार्य कहते है—उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।[1] अर्थात् चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाने को ध्यान कहते हैं। यह ध्यान उत्तम संहनन वालों के होता है। महर्षि पतञ्जली ध्यान का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।[2] चित्त की वृत्ति को अन्य विषयों में हटाकर एक ध्येय विषय में बांधना अर्थात् ठहराना धारणा है। वृत्ति की एकतानता अर्थात् वृत्ति का समान प्रवाह में लगातार उदय रहना, दूसरी वृत्ति का बीच में न आना ध्यान है। मनोविज्ञान की दृष्टि में 'ध्यान मन की वह क्रिया है जिसका परिणाम ज्ञान होता है।'[3]

उपर्युक्त ध्यान की परिभाषाओं से यह स्पष्ट विदित होता है कि ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है। परन्तु वर्तमान में कतिपय विद्वान् चित्त की पूर्ण निष्क्रियता को ध्यान मानते हैं। उनका कथन है कि चित्त की सर्व शुभाशुभ वृत्तियों को निष्क्रिय कर विचार शून्य, निर्विचार, चिन्तन शून्य होना ही ध्यान है। परन्तु इस मान्यता को न तो जैन दर्शन ही स्वीकार करता है और न योग दर्शन ही और मनोविज्ञान तो इसे पागलपन ही मानता है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ६, सू० २७

२. पातंजल योग, विभूति पाद १-२

३. सरल मनोविज्ञान, पृ० १३५

जैन दर्शन में मानसिक क्रिया का पूर्ण निरोध शुक्ल की 'सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाती' अवस्था में माना है यथाः—तदो अन्तोमुहुत्तं गन्तूणं सुहुमकाय जोगेण सुहुम मणजोगं णिरभदि।[४]

अर्थात् केवली सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्ल ध्यान में फिर अन्तर्मुहूर्त्त में सूक्ष्म काम योग द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। इस प्रकार *मनोयोग का पूर्ण रूपेण निरोध करने के पश्चात् केवली एक अन्तर्मुहुर्त्त* (कुछ मिनट) से अधिक जीवित नहीं रह सकते। अतः यह पूर्ण निरोध की स्थिति मृत्यु से कुछ समय पूर्व ही सम्भव है।

पातंजल-योग-शास्त्र के प्रसिद्ध वृत्तिकार श्री भोज महाराज समाधि का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः'

अर्थात् जिसमें मन को विक्षेपों से हटाकर समीचीन रूप में एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है। यहाँ समाधि में भी मन की एकाग्रता को स्थान दिया गया है, मन की निष्क्रियता को नहीं।

आधुनिक मनोविज्ञान, इस मान्यता का कि विवेक द्वारा मन की सब प्रवृत्तियों का नाश कर देना चाहिये, विरोध में स्पष्ट उद्घोषणा करता है :—

विवेक स्वयं शक्तिधारी नहीं है, वह केवल शक्ति का चालक है। जिस प्रकार घोड़े रथ को खींचते हैं, सारथी रथ को नहीं खींचता; इसी प्रकार विवेक मानसिक शक्तियों को सन्मार्ग पर लगा देता है। यदि विवेक सभी शक्तियों को क्रियाहीन बनाकर जीवन रथ को चलने ही न दे तो वह अविवेक बन जायगा। सभी मानसिक प्रवृत्तियों को नष्ट कर देने की इच्छा करना पागल बन जाने की इच्छा करना है। जब मानसिक प्रवृत्तियाँ अपने प्रकाश का उचित मार्ग न पावेगी तो वे अनुचित मार्ग से प्रकाशित होने लगेगी।...... अतएव मानसिक परावलम्बन के अन्त करने का उपाय क्रियात्मक प्रवृत्तियों अर्थात् वासनाओं और भावों का अन्त करना नहीं वरन् उनका उदात्तीकरण (शुभ में रूपान्तरण) है।[५]

---

४. षट् खण्डागम, वर्गणाखण्ड—कर्म अनुयोग द्वार सूत्र २६, धवला टीका।

५. मनोविज्ञान और जीवन, पृ० १२५

जैन दर्शन, योग दर्शन एवं मनोविज्ञान के ध्यान के विषय में उपर्युक्त निरूपण से स्पष्ट है कि ध्यान में मन की विचार शून्य निष्क्रिय स्थिति को स्थान न होकर शुभ वृत्ति की एकाग्रता को स्थान है।

जैन दर्शन इन्द्रिय और मन के विकारों पर विजय पाने के मार्ग को साधना में स्थान देता है न कि इन्द्रिय और मन के नाश को। कारण कि इन्द्रिय और मन जड़ हैं और आत्मा के शुभाशुभ भावों को क्रियात्मक रूप देने के माध्यम मात्र हैं। विकार का जनक आत्मा है। आत्मा के विकार ही इन्द्रिय और मन के माध्यम से प्रकट होते हैं। इसमें बेचारे इन्द्रिय और मन का क्या कसूर है जिससे इन्हें नाश किया जाये। कसूर करे आत्मा और दण्ड दिया जाय मन को, यह कहाँ का न्याय है। साधना का मार्ग है आत्मा के विकारों को दूर करना। इस कार्य में इन्द्रिय और मन सहायक हैं, बाधक नहीं। साधक को साधना मार्ग में मन की सहायता तब तक अनिवार्य रूप से अपेक्षित है जब तक कि मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त न हो जाय। मन के योग के बिना साधक आत्म-विकास कर ही नहीं सकता। चाहे कोई साधक कितना ही त्यागी, तपस्वी हो यदि उसके मस्तक पर प्रबल प्रहार होने से मस्तिष्क को आघात पहुँच जाय और वह अपना कार्य करना बन्द करदे तो साधक का साधना-कार्य रुक जाता है। अतः मन का योग साधना में अत्यावश्यक है। इसे निष्क्रिय करना साधना को निष्क्रिय-निष्प्राण करना है। प्राणी का मुक्ति की ओर प्रयाण का विमान मन ही है। कारण कि मुक्ति प्राप्ति के लिए जिस साधना की आवश्यकता है वह साधना केवल मनधारी (सन्नी) प्राणी ही कर सकता है। मन रहित (असन्नी) प्राणी के लिए मुक्ति की बात तो दूर रही वह साधना करने का अधिकारी ही नहीं हो पाता है। अतः मुक्ति प्राप्ति में मन का महत्त्व पूर्ण स्थान है।

जैन दर्शन में ध्यान के चार प्रकार बताये गये हैः—(१) आर्त्त ध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्म-ध्यान (४) शुक्ल ध्यान।

कामना अपूर्त्ति के दुःख निवारण और कामना पूर्त्ति के सुख प्राप्ति के विषय में चिन्तन करना आर्त्त ध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-कषाय संरक्षण-संवर्द्धन के लिए चिन्तन करना रौद्रध्यान है। इन दोनों ध्यानों में अशुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की ही प्रधानता रहती है। दुख मूलक होने

से इन्हें अपध्यान कहा है। साधना में इनका कोई स्थान नहीं है। भव-भ्रमणकारी होने से साधक के लिए ये त्याज्य हैं।

आत्मा के विकारों को दूर करने में सहायक मन की शुभ वृत्तियाँ धर्म-ध्यान कही गई हैं। यह चार प्रकार का है:—(१) आज्ञा विचय-मुक्ति-मार्ग पर विचार (२) अपाय विचय-दोषों के कारण व निवारण पर विचार (३) विपाक विचय-कर्मबन्ध से लेकर उनके निर्जरित होने तक की प्रक्रिया पर विचार (४) संस्थान-विचय-संसार के स्वरूप व इसकी संचरण प्रणाली पर विचार।

उपर्युक्त प्रकार के विचारों का सतत प्रवाह धर्म-ध्यान है। कहा भी है :—

> जिण-साहुगुणक्कित्तण-पसंसणा-विणय-दाण संपण्णा।
> सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ॥५५॥[६]

जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना, ये सब बातें धर्म-ध्यान में होती है, ऐसा जानना चाहिये।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योग-शास्त्र में वर्णित ध्यान का स्वरूप भी जैन धर्म में वर्णित संयम रूप धर्म-ध्यान के समान ही है यथा:—

त्रयमेकत्र संयमः[७] अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक विषय में होना संयम है अर्थात् संयम में धारणा-ध्यान-समाधि अन्तर्गभित है।

इस प्रकार जैन दर्शन और योग दर्शन इन दोनों ने ही ध्यान का मूलाधार संयम को माना है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप यमों के पालन से ही संयम अर्थात् धर्म-ध्यान की सिद्धि होती है। इसीलिए योग-शास्त्र में योग के आठ अंगों में यम का प्रथम स्थान और संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) का अन्तिम स्थान है। अतः ध्यान-सिद्धि के

---

६. षट्खण्डागम ५-४-२६ धवला टीका।
७. पातंजल योगशास्त्र, विभूति पाद सूत्र ४

इच्छुक साधक के लिए यमों को अर्थात् अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का पालन आवश्यक है। यमों या व्रतों के पालन अर्थात् पाप-प्रवृत्तियों के निरोध से चित्त का अन्तर्द्वन्द्व मिटता है। इससे उसमें मुक्ति के लिए अभीष्ट शुभ-सात्त्विक वृत्तियों में एकाग्र होने का सामर्थ्य आता है।

जैन धर्म में संयम के अतिरिक्त जिन और साधु के गुणों का कीर्तन, प्रशंसा व विनय करना तथा दान सम्पन्नता जैसी वाचिक एवं कायिक शुभ प्रवृत्तियों को भी धर्म-ध्यान में ही स्थान दिया है। यह ज्ञातव्य है कि धर्म-ध्यान में केवल पाप-प्रवृत्तियों के निरोध को ही स्थान है, शुभ प्रवृत्तियों के निरोध को नहीं। साधक की शुभ प्रवृत्तियों का परिणाम उसके लिए कल्याणकारी होता है :—

> होंति सुहासव-संवर-णिज्जरामरसुहाइं विउलाइं।
> ज्झाणवरस्य फलाइं सुहाणुवन्धीणि धम्मस्स ॥५६॥[८]

अर्थात् उत्कृष्ट धर्म-ध्यान के शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख; ये शुभानुवन्धी विपुल फल होते हैं।

मानव के दुःख का मूल कारण है उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ। मनोग्रन्थियों से उत्पन्न मन का इधर-उधर भटकना, अन्तर्द्वन्द्वयुत होना, तनाव होना, अशान्त होना आदि मानसिक स्थितियाँ मानव को सदैव आकुल-व्याकुल बनाये रखती हैं। ध्यान मन की इन अनिष्ट स्थितियों से मुक्ति पाने की साधना है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन से ही साधना का प्रारम्भ माना है और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति व स्थिति ग्रन्थी-भेद से ही मानी है। मानसिक ग्रन्थियो का भेदन कर चित्त को ग्रन्थी-रहित बनाना ही निर्ग्रन्थ-साधना या जैन साधना है।

आगमों में कथन है कि, ग्रन्थी-भेद से मेरु पर्वत जितने कर्मों का समुदाय क्षय होकर राई जितना सा रह जाता है—यही बात उपनिषदों में भी कही गई है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

---

८. षट्खण्डागम, ५-४।२६ धवला टीका।

ध्यान को साधारणतः हम दो प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

(१) अनिच्छित, (२) इच्छित।

(१) अनिच्छित—जब किसी विषय पर ध्यान लगाने में किसी प्रकार भी इच्छा शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता तो इस ध्यान को अनिच्छित ध्यान कहते हैं। इसमें जन्मजात की मूल प्रवृत्तियाँ काम करती हैं यथा भूखे का भोजन में, माता का अपने पुत्र में, सुरीले स्वर सुनने, सुरभित पुष्प सूँघने में ध्यान स्वतः जाता है। इनके लिये इच्छा शक्ति के उपयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह सहज होता है। मानव की मूल प्रवृत्तियाँ विषय-कषायमय ही होती हैं। अतः ऐसा ध्यान आर्त्त और रौद्र ही होता है और इसका साधना में कोई स्थान नहीं है।

(२) इच्छित—जब किसी विषय पर ध्यान लगाने में किसी प्रकार भी इच्छा शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है तो वह इच्छा शक्ति ध्यान कहलाता है। प्रारम्भ में यह प्रयत्न पूर्वक होता है फिर बार-बार के प्रयत्न से वह आदत या स्वभाव बन जाता है, तो विना प्रयत्न भी होने लगता है। साधना में इसी ध्यान का महत्त्व है। साधक को अपने मानसिक विकारों को, जो जन्मजात हैं—उन्हें निवारणार्थ तथा सत्कार्यों में लगने के लिये मन को बलपूर्वक लगाना पड़ता है। इच्छा शक्ति के बल पर ही इस ध्यान की सफलता निर्भर है। निर्बल इच्छा शक्ति वाला व्यक्ति साधना नहीं कर सकता। इच्छा शक्ति को बल मिलता है ध्यान से और ध्यान में एकाग्रता आती है इच्छा शक्ति से, इस प्रकार इच्छा-शक्ति और ध्यान की एकाग्रता अन्योन्याश्रित हैं। जीवन के सभी महत्त्व-पूर्ण कार्यों की सिद्धि ध्यान के इसी प्रकार पर निर्भर है।

ध्यान चित्त-शुद्धि का मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप है। इसमें चित्त-शुद्धि के लिये मनोविज्ञान की विविध प्रणालियों का प्रयोग होता है, यथा :—

(१) **विश्लेषात्मक प्रणाली** :—इसमें धर्म-ध्यान के अपाय विचय भेद के द्वारा अन्तःकरण के ज्ञात और अज्ञात क्षेत्र में विद्यमान मानसिक विकारों व ग्रन्थियों की उत्पत्ति-स्थिति क्षति पर विश्लेषणात्मक रूप से विचार किया जाता है। विकारों के विविध रूपों पर विचार कर उनके नवीन निर्माण को रोका जाता है। इससे कर्मों का संवर होता है।

(२) **विकलनात्मक प्रणाली** :—इसमें विपाक-विचय धर्म ध्यान के द्वारा कर्मो के, दोषों के निर्माण, बंध आदि से लेकर उदय, उदीरणा उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्त, निकाचित, उपशम, क्षय आदि पर विचार किया जाता है, तथा कार्माण शरीर में विद्यमान कर्मो–मनो-ग्रन्थियों को प्रयत्न पूर्वक उदय में लाया जाता है। फिर इन्हें भेद-विज्ञान की प्रक्रिया से निःसत्त्व करके निर्जरित किया जाता है। इसमें वर्तमान मनोविज्ञान से भी यह विशेषता है कि वर्तमान मनोविज्ञान तो अन्तःकरण के अज्ञात तल में छिपी मानसिक ग्रन्थियों को ज्ञात तल पर प्रकट ही करता है और उनका भोग कर नाश करने में विश्वास करता है परन्तु ध्यान-साधना द्वारा उन्हें बिना भोगे ही भेद-विज्ञान के ताप से भस्म कर दिया जाता है। इस क्रिया को उदीरणा कहा जाता है, तथा बिना उदय में लाये भी क्षय कर दिया जा सकता है।

(३) **उदात्तीकरण** :—विपाक-विचय धर्म-ध्यान के द्वारा अशुभ प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों का शुभ प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों में संक्रमण करना, अशुभ प्रवृत्तियों का अपवर्तन, शुभ प्रवृत्तियों का उद्वर्तन किया जाता है। यही प्रक्रिया मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'उदात्तीकरण' कही जाती है। इससे अशुभ भाव शुभ भाव में परिणत हो जाते हैं तथा शुभ भाव विकास को प्राप्त होते है, जो साधना मे सहायक है। यह वैसी ही प्रक्रिया है जैसी चिकित्सा क्षेत्र में विष की। विष मारक है परन्तु शोधन कर उपयोग करने पर मृत्यु से बचाने वाला हो सकता है, इसी प्रकार जो पाप प्रवृत्तियाँ पतनकारी थीं उनका संक्रमण-उदात्तीकरण होने पर वे शुभ होकर उत्थानकारी हो जाती हैं।

(४) **निर्देशनात्मक प्रणाली** :— आज्ञा विचय धर्म–ध्यान से निजात्मा के शुद्ध स्वरूप जानकर अपने आपको परमात्म गुणों का अर्थात् शुद्ध-बुद्ध, आनन्दघन होने का निर्देश दिया जाता है। इस वृत्ति के फल-स्वरूप निर्देशन के अनुरूप ही परमात्म स्वरूप के दर्शन का आभास होता है। इससे परमात्मपद प्राप्ति की प्रेरणा–प्रबल होती है।

वस्तुतः 'ध्यान' चित्त–शुद्धि की वह प्रक्रिया है जिससे चित्त में स्थित वासना, कामना, संशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, अशान्ति आदि विकार दूर होते हैं और चित्त शान्त, निर्द्वन्द्व, स्वस्थ व प्रसन्न होता है। ध्यान साधना जीवन को सच्चे अर्थों में आनन्द पूर्वक जीने

की साधना है। यही नहीं, ध्यान से मन की असीम शक्तियों का आविर्भाव होता है और उनका ऋद्धियों, सिद्धियों, निधियों, चमत्कारों के रूप में प्रकटीकरण होता है। इनका सम्बन्ध मन की असाधारण शक्तियों में है, जिनका विवेचन इस लघु लेख का विषय नहीं है।

वर्तमान युग 'विज्ञान युग' है। वर्तमान में भौतिक विज्ञान के विकास ने मन और इन्द्रियों को उत्तेजित करने में निमित्त बनने वाली अगणित वस्तुओं की उपलब्धि कर दी है। फलतः आज के मानव के मन में असंख्य इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं ने जन्म ले लिया है जिनका भोग एवं पूर्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार विज्ञान-प्रदत्त वस्तुओं की प्रचुरता ने मानव मन में अधिक अभाव पैदा कर दिया है और मन में अशान्ति, द्वन्द्व, उद्विग्नता, तनाव, क्षोभ, नीरसता, रिक्तता की वृद्धि करदी है। भौतिक सुख के साधन बढ़ने पर भी आज मानव पहले से अधिक दुःखी है। उसके दु:ख का वास्तविक कारण यह है कि वह जिन मानसिक इच्छाओं, वृत्तियों के अश्वों पर बैठा है, वे उसके नियन्त्रण में नहीं है। वृत्तियों पर उसका आधिपत्य नही है। वृत्तियाँ उसे जिधर चाहे उधर ले जा रही हैं और वह लक्ष्य हीन हो इधर-उधर भटक रहा है। इस अवांछनीय स्थिति से मुक्ति पाने का उपाय है– वृत्तियों पर उसका नियन्त्रण हो और वह उनका उपयोग आज्ञाकारी अनुचरों के रूप में कर सके। यह कार्य विज्ञान नहीं, अध्यात्म ही कर सकता है। ध्यान की अध्यात्मिक क्रिया ही मन को नियन्त्रित कर जीवन को आनन्दमय बनाने में सफल हो सकती है। ध्यान से मानव अपने मन के गुह्य प्रदेश में स्थित असीम व अचिन्त्य शक्तियों का आविर्भाव कर स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता हुआ अपवर्ग को पा सकता है।

जैन धर्म मे निरूपित ध्यान आदि साधना-मार्ग एवं कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक के साथ-साथ पूर्ण रूपेण मनोवैज्ञानिक भी हैं। इनमें मन के अनेक स्तरों एव उनमें विद्यमान विकारो-ग्रन्थियों के निरसन का विस्तृत एवं वैज्ञानिक शैली से निरूपण है। इनके उपयोग से मानव-समाज को अशान्त व दुखमय स्थिति से मुक्ति दिलाने में महत्त्वपूर्ण योग मिल सकता है। अतः जैन-तत्त्व-वेत्ताओं व साधकों से निवेदन है कि वे जैन साधना-मार्ग एवं कर्म-सिद्धान्त को मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर, विश्व के कल्याण मे योग देकर, युग की मांग को पूरी करें।

तात्त्विक :

ध्यान के हेतु

● डॉ॰ अजित शुकदेव शर्मा

ध्यान वस्तुत एकनिष्ठता एव एकाग्रता का द्योतक है, जिसका एक विषय अथवा एक आलम्बन होता है। ध्यान निश्चल अग्नि शिखा के समान अवभासमान ज्ञान है।[1] ध्यान के कई पर्यायवाची शब्द देखने को मिलते हैं, जैसे—विरोध, स्वान्तर्निग्रह, अन्त सलीनता[2] अवधान, समाधान, प्रणिधान, समाधि[3], प्रणिधि[4], प्रसरयान[5]।

ध्यान का अर्थ वस्तुतः चेतना का शुद्ध उपयोग होता है जिससे चिन्तन मे बाह्य शून्यता और अन्तर जागरूकता आती है। दूसरे शब्दो में यह आत्मा का शून्याशून्य स्वभाव है। आचार्य हरिभद्र के शब्दो मे ध्यान आध्यात्मिक भावना एव समता का विकास करने वाला मनोविकारो का क्षय करने वाला एव मन, वचन एव कर्म को सयमित करने वाला धर्म व्यापार है।[7] यहाँ धर्म व्यापार ही आत्मा को मोक्ष के साथ सयोजित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यान की साधना के साथ आध्यात्मिक अर्थात् आत्मिक विकास की भावना सन्निहित है। दूसरे शब्दो मे ध्यान का उद्देश्य है—बन्धन विमुक्ति या आत्म साक्षात्कार। इससे मानसिक परिष्कार स्वत हो जाता है क्योकि बिना मानसिक विशुद्धता के मोक्ष सम्भव नही। पुन ऐसा कोई गुण ज्ञान, दृष्टि और सुख नही, जो ध्यान के अतुल प्रकाश मे उपलब्ध नही होता।[8] ध्यान आत्मा के लिये

---

१ सर्वार्थ ९।२७, २ आप० २१ १२,
३ अभिधान चिन्तामणि . ६।१४ ४ दशवैकालिक ८।१
५ योगदर्शन नागोजी भट्ट वृत्ति पृ० २०७, योगसूत्र भाष्य ४।२९
६ कुमार सभव ७ योग बिन्दु—३१ योग विंशिका—१
८ कल्प . ४०

अतीव हितकारी माना गया है, जिससे आत्म ज्ञान होता है।[९] ध्यान की साधना से समत्व की प्राप्ति भी होती है क्योंकि समता के लिये आत्मज्ञान अपेक्षित है और आत्मज्ञान ध्यान से ही निष्पन्न होता है। ध्यान से अनेक शारीरिक लब्धियाँ मिलती हैं जिससे रोग-मुक्ति, सौन्दर्य प्राप्ति आदि का लाभ होता है[१०]। अतः स्वाध्याय एवं सद्ध्यान में लीन तपस्वी मुनि का संचित मल तपाये सोने की तरह विशुद्ध हो जाता है।[११]

मन वस्तुतः बड़ा ही बलशाली और चंचल है। वह दुःसाहसिक एवं भीम है।[१२] उसका निग्रह करना अनिल की भाँति अतीव दुष्कर है।[१३] उसकी ६ अवस्थायें स्वीकृत है[१४] जिनके सम्बन्ध में चर्चा यहाँ अपेक्षित नही है। अतः मन को वश में करने के लिये सचेष्ट होना आवश्यक ही नही अनिवार्य है। अनेक साधनों में से मन प्रशिक्षण का अन्यतम साधन ध्यान है, जिससे मन वशवर्ती बनता है और साथ ही मन की दुर्भावनाओं का नाश भी हो जाता है। ध्यान के द्वारा ध्याता अपने से भिन्न अन्य पदार्थ का आलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता है, तब वह व्यवहार मोक्षमार्गी होता है। पुनः वह जब केवल अपनी आत्मा का आलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता है, तब वह निश्चय मोक्ष-मार्गी होता है। अर्थात् ध्यान के द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष-मार्ग सधते हैं।[१५]

ध्यान के हेतुओं के सम्बन्ध में कई प्रकार से विचार किया गया है, जिनमें कुछेक प्रकार के हेतुओं की चर्चा यहाँ की जायेगी। सर्वप्रथम तत्त्वानुशासन में ध्यान के क्रमशः निम्नांकित हेतुओं का उल्लेख मिलता है।[१६] यथा—

(१) संघ त्याग अर्थात् बाह्य परिग्रह एवं कुसंग का परित्याग करना।

---

९. योग शास्त्र : ४।१३ १४

१०. योग शास्त्र : १.८ ११. दशवै : ८।६२

१२. उत्तराध्य २३।४८ १३. गीता ६।३४, धम्मपद—३३.

१४. विशेष ज्ञान के लिये देखें—मनोनुशासनम्, १५. तत्त्वानु. ७३

१६. तत्त्वानुशासन ७५।२१८

(२) कषायों का निग्रह अर्थात् क्रोधादि एवं हास्यादि का त्यागना।

(३) व्रतो की धारणा अर्थात् अहिंसादि व्रतो का सम्यक पालन करना।

(४) इन्द्रियों पर विजय अर्थात् पंच इन्द्रियों का सम्यक् संयमन करना।

(५) गुरु उपदेश अर्थात् सद्गुरु का उपदेश जो ध्यानादि के स्वरूपादि का सम्यक् प्रबोध दे सके।

(६) श्रद्धान अर्थात् प्राप्त उपदेशो पर श्रद्धा रखना।

(७) अभ्यास अर्थात् ज्ञान एव श्रद्धा के अनुरुप सतत अभ्यास करना।

(८) स्थिर मन अर्थात् मन को चचलता रहित करना।

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार ध्यान के पाँच हेतु माने गये है, जो इस प्रकार हैं[१७]—

(१) वैराग्य (२) तत्त्वज्ञान (३) असगता (४) स्थिर चित्तता या समचित्तता और (५) परीषह-जय

इसी प्रकार के हेतुओ का उल्लेख ज्ञानांकुश मे भी देखने को मिलता है, जैसे—वैराग्य, ज्ञान-सम्पत्ति, असंगता, स्थिरचित्तता और उर्मिसमय-सहनता।[१८] 'मनोनुशासनम्' के अनुसार क्रमशः ६ हेतुओ की चर्चा की गयी है, जो सम्यक् मानी जा सकती हैं। वे हेतु इस प्रकार है—ऊनोदरिका, रस-परित्याग, यथाशक्ति अनशन, स्थान, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग।[१९]

ऊनोदरिका के अन्तर्गत भोजन, पानी, वस्त्र एवं कषाय का संयमन करना अपेक्षित माना गया है। दूध, मक्खन आदि रसयुक्त पदार्थों का त्याग रसपरित्याग के अन्दर आता है। अन्न-पान, खाद्य एव स्वाद्य इन चार प्रकार के आहार का यथाशक्ति परित्याग करना अनशन के अन्तर्गत आता है, जिससे कि मन आर्त्त न होने पावे। विधिवत् शरीर को स्थिर बनाकर

---

१७. बृहत् द्रव्य सग्रह, सस्कृत-टीका-पृ० २०१

१८. ज्ञानाकुश, कल्प ४०

१९. मनोनुशासनम् ३।२

बैठना स्थान कहलाता है। स्थान के अन्तर्गत आसन भी आता है, क्योंकि उपयुक्त आसन भी ध्यान की स्थिरता के लिये जरूरी है। आसनों में चित्त की एकाग्रता के लिये प्रमुखतः कायोत्सर्गासन, पद्मासन, पर्यङ्कासन आदि किये जाते हे। वाणी का संवरण करना मौन कहलाता है। यह वचन-गुप्ति है, जिससे आत्मशान्ति, आत्मतुष्टि और वाचिक चपलता का अवरोध होता है।[२०] अशुभ-योग की प्रवृत्ति से काय को संकोच करना प्रतिसंलीनता कहा जाता है। यह तीन प्रकार की होती है—इन्द्रिय, कषाय एवं योग या प्रत्याहार। इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के अन्तर्गत इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से निवृत्त कर अपने स्वरूप मे उनका नियोजन किया जाता है। कषाय-प्रतिसलीनता में क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करना और उनके उदय में आने पर विफल करना होता है। मनो-वाक् काय के असद् अनुष्ठान से निवृत्ति एवं सद् के प्रति प्रवृत्ति को एकोन्मुख करना योग-प्रतिसंलीनता का कार्य है। अतः इन प्रवृत्तितों की स्थिरता के लिये ध्यान की अनायास अपेक्षा हो ही जाती है।

स्वाध्याय के अन्तर्गत आत्मा के विषय में अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन-मनन की प्रक्रिया होती है। इसका फल है—अज्ञान एवं मोह के आवरण का विलय और इसके विपरीत निर्मल ज्ञान की प्राप्ति।[२१] अतः यह एक तप[२२] धर्म का एक सबल स्कन्ध[२३] और ध्यान का पूरक है।[२४]

सद्भाव और उपयोगयुक्त क्रिया हो भावना है, जिससे समत्व एवं निर्ममत्व की प्राप्ति होती है।[२५] इसका लगाव ध्यान से अविच्छिन्न है, क्योंकि ध्यान को पुष्ट एवं केन्द्रित करने में मन के भाव ही अधिक सहायक होते हैं। भावना के क्रमशः बारह प्रकार इस प्रकार है—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक-संस्थान एवं बोधि-दुर्लभ। इनके सम्बन्ध में सम्यक् विचार करना यहाँ उपयुक्त नही है।

काया के हलन-चलन आदि प्रवृत्तियो को छोड़कर धर्म के लिए शरीर का निश्चेष्ट करना व्युत्सर्ग कहलाता है। दूसरे शब्दों में व्युत्सर्ग के

---

२०. योग शास्त्र १।४२
२१. उत्तराध्ययन—२९।१८-२३
२२. गीता, १७।१५
२३. छान्दोग्योपनिषद, २।२३।१
२४. तत्त्वानुशासन—८१
२५. योगशास्त्र, ४।५५-५६

अन्तर्गत शरीर को शिथिल और निष्क्रिय कर दिया जाता है। ऐसा करने से जहाँ वाह्य अवरोध के कारणों का संयमन होता है, वहाँ आन्तरिक अवरोध का भी शमन होता है। व्युत्सर्ग सात माने गये है।[२९] शरीर, गण, उपधि, भक्तपान, कषाय, संसार एवं कर्म। इनमें प्रथम चार बाह्य वस्तु सापेक्ष होने के कारण द्रव्य व्युत्सर्ग कहे जाते हैं और शेष तीन भाव व्युत्सर्ग; क्योंकि ये आन्तरिक शुद्धि के कारण हैं।

ध्यान के अङ्ग के रूप में साधारणतः चार[२७] और प्रमुखतः तीन अङ्गों का उल्लेख किया जाता है[२८] जैसे—ध्याता, ध्येय और ध्यान। ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला, ध्येय अर्थात् आलम्बन और ध्यान अर्थात् एकाग्र चिन्तन। अतः ध्यान में इन तीनों का सम्यक् सहयोग अपेक्षित है और इनके सन्दर्भ में आत्मलीनता, चित्त की स्वस्थता, यतना, जागरूकता, एकान्तवास और मौन रहने का अभ्यास भी आवश्यक है, क्योंकि ये सब उक्त उपकरण है जो ध्यान की सम्पन्नता में सहायक बनते हैं। ध्यान की सामग्रियों के सम्बन्ध में काफी विचार किया गया है और उनके सम्बन्ध में विचार करना यहाँ अपेक्षित नहीं। पुनः संक्षेप मे ध्यान के वर्गीकरण के बाद इस लेख का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

यद्यपि जैन परम्परा में ध्यान के कई वर्गीकरण देखने को मिलते है। कही ध्यान के दो भेद है,[२९] कहीं तीन[३०] तो कही इससे भी अधिक। लेकिन किसी न किसी प्रकार सभी प्रकार के वर्गीकरण ध्यान के केवल चार प्रकारों में ही जाकर अन्तर्मुक्त हो जाते है। अतः ध्यान के क्रमशः चार प्रकार आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल ही है।[३१] इनमें प्रथम दो अशुभ या अप्रशस्त माने गये है और शेष दो इनके विपरीत शुभ या प्रशस्त। दुःख के निमित्त या वियोग-संयोग अथवा मोह के कारण होने वाले ध्यान

२६. भगवती शतक, २५'७
२७. सम्बोधि १२।३१
२८. योगशास्त्र, ७।१
२९. तत्त्वानुसार शासन, ३४
३०. ज्ञानार्णव, ३।२८
३१. स्थानांग—४।२४७, समवायांग ४; भगवती सूत्र, श० २५, उद्दे० ७; आवश्यक निर्युक्ति, १४५८; दशवैकालिक अध्ययन १।

आर्तध्यान हैं।[३२] रौद्रध्यान के अन्तर्गत कुटिल भावों की चिन्तना होती है जिसके फलस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी आदि प्रवृत्तियों में राग रखा जाता है। धर्म ध्यान से जीव का राग-भाव-परिणाम न्यून होकर आत्म चिन्तन की ओर अग्रसर होता है। इस ध्यान को श्रुत चारित्र एवं धर्म से युक्त माना गया है। आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था में शुक्ल ध्यान कहा गया है जिससे समस्त कषायों, राग भावों अथवा कर्मों का सर्वथा परिहार हो जाता है। यह ध्यान वस्तुतः मुक्ति-प्राप्ति का हेतु है, इसलिए यह ध्यान आत्म विकास की अन्तिम अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने वास्तविक एवं पूर्ण स्वरूप में स्थित होती है।

जीवात्मा जितना निर्मल हो जाता है, उतना ही सूक्ष्म। इन्द्रियों से अगोचर वस्तुएँ उसे दिखाव देने लगती हैं। —भागवत

★

जब मेरा माशूक आता है, मैं उसे किस नज़र से देखता हूँ? उसी की नज़र से, अपनी से नहीं, क्योंकि सिवाय उसके उसे कोई नही देख सकता।

—इब्न-अल-अरबी

★

हम दूसरे के आर-पार देखना चाहते हैं, परन्तु खुद अपने आर-पार देखा जाना पसन्द नहीं करते। —ला रोशे

★

---

३२. विशेष अध्ययन के लिए देखें—जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन (डॉ० ए० बी० दिगे)

हठयोग में ध्यान

● डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा एम. ए, पी-एच. डी.

भारतीय धर्म-दर्शन में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी विभिन्न परम्पराएँ हैं, जिनमें से हठयोग भी एक है। जैन धर्म के सम्बन्ध में एक सामान्य गलतफहमी है कि उसके जन्मदाता भगवान् महावीर थे, यद्यपि वास्तविकता यह है कि महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर थे और उनसे पूर्व अन्य तेइस तीर्थङ्कर हो चुके थे। इसी प्रकार हठयोग के विषय में भी साधारणतः यह जाना जाता है कि इसके प्रतिष्ठापक गोरक्षनाथ थे किन्तु असलियत यह है कि गोरक्षनाथ, जो भारतीय जन जीवन में गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए, ने हठयोग की एक नई शाखा बढ़ाकर उसे पूर्णतः पल्लवित किया। उनसे पूर्व अन्य अनेक हठयोगी हो चुके थे। किन्तु गोरक्षनाथ ने हठयोग का इस तरह प्रचार एवं प्रसार किया कि हठयोग का नाम आते ही सामने गोरक्षनाथ का नाम स्वतः आ जाता है।

गोरक्षनाथ का प्रादुर्भाव विक्रम सम्वत् की दसवीं शती में हुआ था। इनका जन्म कहाँ हुआ? इसके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों के बीच मतैक्य नहीं है। एक मत है जिसका उल्लेख क्रुक[1] तथा ग्रियर्सन[2] ने किया है, इस प्रकार है—इस धरती पर गोरक्षनाथ का आगमन सत्य युग में पंजाब के अन्तर्गत पेशावर में, त्रेतायुग में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका से भी आगे एक स्थान हुरमुज में तथा कलियुग में काठियावाड़ के गोरखमढ़ी नामक स्थान पर हुआ था। यह एक धार्मिक विश्वास जान पड़ता है। खैर! इस समस्या का समाधान एक शोध का विषय है और इसके साथ उलझना अपना उद्देश्य भी नहीं है। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरक्ष-

---

१. ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, विलियम क्रुक, कलकत्ता, पृष्ठ– १५३–१५४।

२. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पृष्ठ – ३२८।

६. नाभिमण्डलाधार— इससे नाद की उत्पत्ति होती है।

७. हृदयाधार— प्राण वायु का रोध करता है।

८. कण्ठाधार— यह उस वायु को रोकता है जो इड़ा एवं पिंगला में गतिमान रहती है।

९. क्षुद्रघंटिकाद्वार— इसमें लिंग की तरह के दो लोटे लटकते रहते हैं। योगी जब अपनी जिह्वा को यहाँ तक ले आता है तब उसे उस अमृत रस का स्वाद प्राप्त होता है जो ब्रह्मरंध्र में अवस्थित चन्द्र-मण्डल से चूता रहता है।

१०. तालवन्तरधार— इससे खेचरी मुद्रा में सहायता प्राप्त होती है।

११. रसाधार — यह जीभ के अधोभाग में स्थित पाया जाता है।

१२. ऊर्ध्वदन्तमूल — यह रोग विनाशक होता है।

१३. नासिकाग्र — इसके द्वारा मन स्थिर किया जाता है।

१४. नासामूल — इससे ज्योति का प्रत्यक्षीकरण होता है।

१५. भ्रूमध्याधार — इसके द्वारा मन सूर्याकाश में एकाग्रता प्राप्त करता है।

१६. नेत्राधार — इसमें ज्योति प्रत्यक्ष रूप से आभासित होती है।

ये सोलह आधार बाह्य लक्ष्य के अन्तर्गत आते हैं और षट्चक्र आन्तर लक्ष्य समझे जाते हैं। ये ही दो लक्ष्य माने जाते हैं।

पाँच आकाश :—पाँच आकाश इस प्रकार हैं—

१. श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश,
२. रक्त वर्ण ज्योति रूप प्रकाश—यह आकाश के अन्दर होता है।
३. धूम्रवर्ण महाकाश—यह दूसरे आकाश के अन्दर होता है।
४. नीलवर्ण ज्योति रूप तत्त्वाकाश—यह महाकाश के अन्दर होता है।

५ सूर्याकाश—यह तत्त्वाकाश के अन्दर होता है।

इस प्रकार ये पाँच आकाश क्रमश एक के बाद एक भीतर दूसरे आते जाते हैं। सूर्याकाश सबसे भीतर होता है और श्वेतवर्णाकाश सबसे बाहर या ऊपर।[६]

ये जो चक्र एव आधार है, इन्ही को हम अन्य यौगिक परम्पराओ की शब्दावली मे ध्यान के विभिन्न रूप या स्तर कह सकते है और पाँच आकाश ध्यान की गहराई या दृढता के प्रतीक हैं। जैसे-जैसे योगी अपनी ध्यानावस्था मे आगे बढता जाता है उसे क्रमशः इन पाँच ज्योतियो का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसमे आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि से योगी को सहायता मिलती है।

आंख सबने पाई है, नजर किसी किसी ने। —मैकियावली

★

हमे ईश्वर का सच्चा साक्षात्कार तभी होता है जब हम उसके सामने याचनाएँ नहीं किन्तु अपनी भेंट लेकर जाते हैं। —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

★

हमारे दिल मे उठती हुई तरंगों पर अंकुश रखना, उसे दबा देना यह योग है। —महात्मा गाधी

★

जो दूसरों को जानता है वह शिक्षित है, किन्तु जो स्वय को पहचानता है वह बुद्धिमान है। —लौओत्से

---

६. (क) सिद्ध सिद्धान्त सग्रह—स०—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, पृ०—१२–१४।

(ख) नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ—१४४–१४५।

नाथ के विषय में जो विचार व्यक्त किया है उसे मान लिया जाए तो कोई अनुचित न होगा। इनके अनुसार—

"शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारत वर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं।"[3]

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति', जो हठयोग का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि 'ह' का अर्थ होता है 'सूर्य' और 'ठ' का अर्थ होता है 'चन्द्र',[4] तथा 'योग' का अर्थ 'मिलना' तो सर्वमान्य है ही। इस प्रकार 'हठयोग' से 'सूर्य' और 'चन्द्र' का मिलना समझना चाहिए। 'सूर्य' और 'चन्द्र' क्रमशः शिव एवं 'शक्ति' के प्रतीक हैं। इसके अलावा यह भी माना जाता है कि यह योग 'हठात्' यानी शीघ्र ही मोक्ष के द्वार को खोल देने में समर्थ है, इसलिए इसे हठयोग कहते हैं। इसकी दो शाखाएँ हैं—१. वह शाखा जिसे गोरक्षनाथ से पहले होने वाले हठयोगी जन मानते थे और जिसके प्रतिष्ठापक मृकण्डपुत्र मार्कण्डेय समझे जाते हैं और २. जिस शाखा के जन्मदाता गोरक्षनाथ हुए। इन दोनों शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मार्कण्डेय वाली शाखा पातंजल योग द्वारा प्रतिपाद्य आठ अङ्गों को स्वीकार करती है किन्तु गोरक्षनाथ वाली शाखा केवल छः अङ्गों को ही मानती है। यह प्रथम दो अङ्गों—यम, नियम को अङ्गीकार नहीं करती है।

हठयोग में छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य तथा व्योमपञ्चक को जानना अतिआवश्यक समझा जाता है। जो इन्हें नहीं जानता वह सिद्धि प्राप्त करने में सदा असफल रहता है। हम लोग भी इन्हें जानने का प्रयास करें कि किस प्रकार इनसे मुक्ति प्राप्त होती है, और इसी सिलसिले में हमें यह भी ज्ञात हो जाएगा कि किस नाम एवं रूप के साथ 'ध्यान' इस योग में प्रतिपादित होता है।

षट् चक्र :—वायु और उपस्थ के बीच जहाँ पर मेरुदण्ड मिलता है,

---

३. नाथ सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ—१०४।

४. हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

माना गया है कि वहाँ पर एक 'स्वयंभूलिंग' होता है जो एक त्रिकोण चक्र में प्रतिष्ठित होता है। उस त्रिकोण चक्र को 'अग्नि चक्र' भी कहते हैं। अग्नि चक्र से ऊपर '**मूलाधार चक्र**' होता है जिसमें चार दल होते हैं। उससे ऊपर '**स्वाधिष्ठान चक्र**' होता है, जो नाभि के समीप होता है और उसकी आकृति ठीक वैसी ही होती है जैसी छः दलों वाले कमल की। उससे ऊपर '**मणिपूर चक्र**' होता है जो दस दलों वाले कमल के समान होता है। उससे भी ऊपर '**अनाहत चक्र**' होता है जो बारह दलों वाले कमल की तरह होता है। अनाहत चक्र से ऊपर '**विशुद्धाख्य चक्र**' होता है जो सोलह दलों वाले कमल की तरह दिखाई पड़ता है। यह चक्र कण्ठ के निकट पाया जाता है। इससे भी ऊपर '**आज्ञा चक्र**' होता है जिसमें मात्र दो ही दल होते हैं और जो भ्रूमध्य में अवस्थित होता है। अग्नि चक्र में स्थित जो स्वयंभूलिंग है उसे साढ़े तीन या कभी-कभी आठ फेरों में लपेटकर कुण्डली सोई हुई होती है। कुण्डलिनी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। कुण्डली का सोना ब्रह्म-द्वार, जो मुक्ति दायक समझा जाता है, का बन्द होना माना जाता है। योगी कुण्डली अथवा कुण्डलिनी को जगाता है। इसके लिए उसे प्राण वायु का निरोध करना पड़ता है। फिर उसकी जागृत कुण्डली छः चक्रों[५] को पार करती हुई सातवें चक्र तक पहुँचती है।

सातवाँ चक्र सहस्र दलों वाले कमल के समान होता है। अतएव उसे 'सहस्रार' भी कहते है। सहस्रार पर कुण्डलिनी शिव से मिलती है अर्थात् शक्ति शिव से मिलती है और वह मिलन ही समरस की अवस्था है या मोक्ष है।

सोलह आधार :—ये आधार निम्नलिखित हैं—

१.	पादांगुष्ठ—	इससे दृष्टि स्थिर की जाती है।
२.	मूलाधार—	इससे अग्नि दीप्त होती है।
३.	गुह्याधार—	ये दोनों वज्रोली के सहायक हैं जिसके द्वारा शुक्र और रज आकर्षित होते हैं।
४.	बिन्दुचक्र—	
५.	नाड्याधार—	यह मल, मूत्र, कृमि आदि का नाश करता है।

५. त्रिकोण चक्र की गणना षट्चक्र में नहीं होती।

महत्त्व :

आत्मोन्नति और अनुभूतियों का प्रधान साधन—ध्यान

● श्री अगरचन्द नाहटा

भारतीय धर्मों एव साधना-प्रणालियों में ध्यान का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों भारत के प्रधान धर्मों में ध्यान का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। ध्यान की अनेक साधन प्रणालियाँ भारत मे प्रचलित थीं। जिनके द्वारा साधकों ने अनेक नई-नई अनुभूतियाँ प्राप्त की और ज्ञान का द्वार उनके लिये अपने आप खुल गया। वैदिक धर्म में शिवजी को परम-ध्यानी कहा गया है। नाथ सम्प्रदाय में हठयोग की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। पातंजलि के 'योग-सूत्र' में जो योग के ८ प्रकार बतलाये हैं, उनमे सातवाँ स्थान ध्यान का है। इससे पहले के प्रकार ध्यान में साधन भूत हैं और ध्यान का परिणाम है—'समाधि' प्राप्त करना अर्थात् चित्त-वृत्तियो का समाधान हो जाना, विचारों मे समता का परिपूर्ण विकास हो जाना, जिससे परम-शान्ति की प्राप्ति होती है। तन्त्र ग्रन्थों में भी विविध प्रकार की ध्यान प्रणालियों का विवरण मिलता है। ऋषि-मुनियो ने ध्यानाभ्यास के लिये अनेक मार्ग बतलाये है और स्वयं साधना करके ध्यान द्वारा समाधि प्राप्त की है। आवश्यकता है उन समस्त प्रणालियों के सम्यक् और गम्भीर अध्ययन की।

बौद्ध धर्म मे तो 'ध्यान सम्प्रदाय' एक अलग सम्प्रदाय ही बन गया, जिसके सम्बन्ध में हिन्दी मे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। भारत से बाहर विदेशों मे बौद्ध धर्म का प्रचार जहाँ-जहाँ हुआ वहाँ आज भी ध्यान की कई प्रणालियाँ प्रचलित है। 'विसुद्धिमग्ग' आदि बौद्ध ग्रन्थ भी पठनीय हैं।

जैन धर्म में ध्यान को बहुत महत्त्व दिया गया है। मुनि की चर्या मे प्रथम प्रहर स्वाध्याय और दूसरे प्रहर में ध्यान, इस तरह का क्रम रखा गया है। जैन तीर्थकरों ने ध्यान के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की। भगवान महावीर वास्तव में बहुत बड़े 'ध्यान–योगी' थे। अपने १२।। वर्ष के साधना काल में उन्होंने मौन के साथ ध्यान को ही विशेष अपनाया और शुक्ल ध्यान ध्याते हुये 'केवल ज्ञान' एवं मोक्ष प्राप्त किया। गुरु–परम्परा से लम्बे समय तक जैन मुनियों में ध्यान की साधना बराबर चलती रही। आचार्य भद्रबाहु ने तो 'महाप्राण' नामक ध्यान किया था। मध्यकाल में गुरु–परम्परा और आम्नाय बहुत कुछ छिन्न-विच्छिन्न और लुप्त हो गई। मुनि लोग चैत्यों में रहने लगे, शहरों में अधिक रहने से लोक सम्पर्क बढ़ा और ध्यानाभ्यास की साधना छूटती गई। दिगम्बर मुनि दक्षिण भारत की गुफाओं में रहते थे, तब तक ध्यान की साधना ठीक से चलती रही। पर जब लोक सम्पर्क में और शहरों मे ज्यादा रहने लगे, तब बहुत सी साधनाये कम होती गईं, फिर भी दिगम्बर साहित्य आध्यात्मिक अधिक और अच्छा मिलता है, यह उस ध्यानाभ्यास का ही भव्य परिणाम है।

'ज्ञानार्णव' तत्त्वानुशासन आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ध्यान के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आगमिक विवरण के बाद ध्यान सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना ७ वी शताब्दी में जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने प्राकृत में बनाई। आचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्रसूरि के ग्रन्थों में भी ध्यान और योग सम्बन्धी अच्छा विवरण मिलता है। उन सब ग्रन्थों के आधार से राजस्थानी एवं हिन्दी मे भी कई रचानायें लिखी गईं, जिनमें से भाव–विजय रचित 'ध्यान स्वरूप चौपई' संवत् १६९६ के चैत वदी १० रविवार खंभात मे रची गई है, जिसकी हस्तलिखित प्रति हमारे संग्रह मे है। १८ वीं शताब्दी में श्री नैमिदास ने ध्यान माला की रचना सं० १७६६ में की और महानतत्त्ववेत्ता श्रीमद् देवचन्द्रजी ने दिगम्बर ग्रन्थ—ज्ञानार्णव का राजस्थानी में पद्यानुवाद ढालबद्ध किया, उसका नाम 'ध्यान-दीपिका चौपई' रखा गया है। सम्वत् १७६६ के वैसाख वदी १३ रविवार को मुलतान में यह 'ध्यान–दीपिका चौपई' रची गई है और 'श्रीमद् देवचन्द्र' ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी है। जैन गुर्जर कवियो भाग २ पृष्ट ४२३ में खरतरगच्छीय

विनयचन्द्र रचित 'ध्यानामृतरास' का उल्लेख है पर हमें अभी तक उसकी कोई प्रति प्राप्त नहीं हो सकी है। हमारे ख्याल से वास्तव में यह दिगम्बर विनयचन्द्र के शिष्य कवि पदमु की रचना है, जिसने ज्ञानार्णव के आधार से 'ध्यानामृत रास' बनाया, जिसकी सम्वत् १७५८ की लिखी हुई प्रति का विवरण जैन गुर्जर कवियों भाग ३ के पृष्ठ १५२४ में है। इस ग्रन्थ में सकल कीर्ति के तत्वसार का भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित करने योग्य है। हिन्दी में कविवर बनारसीदास की 'ध्यान-बत्तीसी' 'बनारसी विलास' में प्रकाशित है।

संस्कृत में छोटी होने पर भी बहुत ही महत्वपूर्ण एक रचना—'ध्यान विचार' के नाम से प्राप्त है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के बड़े ज्ञान भण्डार में भी है। यह रचना गुजराती अनुवाद के साथ 'नमस्कार स्वाध्याय' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ २२५ से २५० में प्रकाशित हुई है। इससे कुछ महत्त्वपूर्ण ध्यान सम्बन्धी आम्नायों के संकेत मिलते हैं। पीछे से प्रचार न होने के कारण ध्यान-सम्बन्धी बहुतसी बातें आज विस्मृत हो चुकी हैं, जिनका पुनर्जीवन ध्यानाभ्यास के बढ़ाने पर ही हो सकता है।

जैन ग्रन्थों में आर्त और रौद्र नामक दो दूर ध्यान माने गये हैं। उनसे बचते रहना बहुत ही आवश्यक है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ये दो शुभ और शुद्ध ध्यान है। इन ४ ध्यानों के ४-४ पायों आदि का वर्णन भी जैन ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है, जिसके आधार से अमोलख ऋषिजी ने अपने ग्रन्थ में अच्छा वर्णन किया है। ध्यान के दूसरे प्रकारों में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भी महत्वपूर्ण हैं। तीर्थकरों की मूर्तियाँ ध्यान मुद्रा में ही बैठी या खड़ी हुई मिलती हैं। तीर्थंकर नासाग्र दृष्टि रखते हुए ध्यान करते थे। पद्मासन और अर्द्ध पद्मासन तथा खड्गासन की मूर्तियाँ मिलती है। वास्तव में जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ ध्यान के केन्द्र ही थे, जिनसे साधकों को बड़ी प्रेरणा मिलती रही है। पर आज ध्याना-भ्यास की कमी के कारण उनसे वह लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र मोक्ष मार्ग बतलाया गया है। इसमें सम्यक् दर्शन वास्तव में आत्म-दर्शन ही है। मिथ्यात्व के कारण जीव आत्मस्वरूप का विस्मरण करके पर पौद्गलिक पदार्थों को अपना

मान लेता है और मोह तथा अज्ञान के कारण संसार में नये-नये कर्मों का बन्ध करके भ्रमण करता रहता है। सम्यक् दर्शन के द्वारा वह पर-पदार्थों से भिन्न यावत् देह में रहते हुए भी देह से भिन्न आत्मस्वरूप का दर्शन करता है। तब उसका ध्यान आत्म केन्द्रित हो जाता है। सम्यक् दर्शन के प्राप्ति के साथ ही सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। उसके दो प्रधान साधन हैं—गुरु परम्परा या ग्रन्थों से प्राप्त श्रुतज्ञान एवं ध्यानाभ्यास और आत्मा की निर्मलता से प्राप्त होने वाला अनुभूतिमय ज्ञान। वह आत्मानुभूति, ध्यान के द्वारा ही होती है। उसे गुरु और ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। सभी तीर्थंकर इसी ध्यान-प्रणाली से अनुभूतियाँ प्राप्त करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त करते है, अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान आत्मिक ज्ञान के विकास के दो प्रधान केन्द्र हैं।

जैन धर्म में ध्यानाभ्यास की साधना प्राय: छूटसी गई है। जिसे पुनः चालू करना अत्यन्त आवश्यक है। नई-नई अनुभूतियों का द्वार तभी खुल सकेगा।

जिस तरह टूटे छप्पर में बारिश घुस जाती है उसी तरह गाफिल मन में तृष्णा दाखिल हो जाती है :

मन सब कुछ है। हम जो कुछ सोचते हैं, हो जाते हैं।

—महात्मा बुद्ध

अपने मन लाड़ले बच्चों की तरह हैं। लाड़ले बच्चे जैसे हमेशा अतृप्त रहते हैं, उसी तरह हमारे मन हमेशा अतृप्त रहते हैं। इसलिए मन का लाड कम करके उसे दबा कर रखना चाहिए।

संस्मरण :

ध्यान-साधकों के अनुभव

● श्री मोतीलाल सुराणा

आत्मा पर कर्म चिपके आत्मा भारी हो गयी और लगी फिरने चौरासी के चक्कर में। पर सर्वज्ञों ने एक मार्ग बताया कि पर को छोड़ स्व में रमण करे तो मोक्ष दूर नहीं रहता। स्व में रमण की अवस्था ही ध्यान है।

गजसुकुमाल, खंदकमुनि, बाहुबलि स्वामी, मरुदेवी माता आदि अनेक धर्म साधक तो बहुत-बहुत पहले हुए थे पर कुछ धर्म साधकों का वर्णन नीचे किया जा रहा है जो पिछली शताब्दियों में धर्म ध्यान का सहारा लेकर आपत्तियों से विमुक्त हुए।

१. शरारती लड़के एक साँप को छेड़छाड़ करते हुए घेर कर खड़े थे। उधर से राजमलजी कडावत रामपुरावाले निकले। शरारती बच्चों को ललकारा—यह क्या कर रहे हो। क्यों तकलीफ दे रहे हो बेचारे को? लड़कों के मुखिया ने कहा—क्या यह आपका रिश्तेदार है? ले जावो इसे इसके घर। बस यह कहना था कि राजमलजी ने अपना कुरता उतारा तथा उसमें साँप को हाथ से पकड़ कर डाल लिया तथा जङ्गल में जाकर एक तरफ छोड़ आये। साँप ने अपने स्वभावानुसार उनके हाथ पर दाँत गड़ा दिया। वे घर आये। एक कटोरी में गरम घी करके पीगये तथा बिना किसी को कुछ कहे प्रभु ध्यान में सामायिक करने बैठ गये। उन्हें कुछ न हुआ।

२. धार वाले सेठ मोतीलालजी जब स्थानक में सामायिक करने बैठे थे तो उनसे कहा कि घर में आग लग गयी है। वे विचलित नहीं हुए तथा एक और सामायिक करके अरिहन्त-सिद्ध के ध्यान में तल्लीन हो गये। कुछ ही समय में दूसरा सन्देशा आया कि आग बुझ गयी।

३. सदा धर्म-ध्यान में लीन रहने वाले हैदराबाद निवासी लाला ज्वाला प्रसादजी जब मुसाफिरी कर रहे थे तब रात को चोर उनके डिब्बे में घुसे तथा हीरे जवाहरात के आभूषणों से भरी पेटियाँ चलती गाडी से फेंक दी व उनके छोटे लड़के को भी फेंक दिया। नींद खुली तो चेन खिंची। गाड़ी धीमी हुई, चोर कूदे तो नहीं थे पर गिर पड़े। लालाजी उतरे। दौड़ भाग हुई। लालाजी नवकार मन्त्र का ध्यान करने लगे। थोड़ी ही देर में कुली व कुछ लोग पेटियाँ व उस बालक को लेकर आये। लड़का व पेटियाँ घास की गन्जी पर गिरी थीं अतः लड़के को चोट नहीं आई।

भावना के धनी तीन ध्यान-साधक

● श्रीमती शान्ता भानावत, एम० ए०

मुनि गजसुकुमाल

देवकी पुत्र गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। २२ वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे हुये थे। गजसुकुमाल अपने परिवार सहित प्रभु दर्शनार्थ जा रहे थे। जाते समय राजकुमार की दृष्टि ब्राह्मण सोमिल की पुत्री रूपवती सोमा पर पड़ी। गजसुकुमाल सोमा के रूप लावण्य पर मुग्ध हो गये तथा उसे अपनी रानी बनाने के मधुर स्वप्न देखने लगे। उन्होंने उसी क्षण अपना प्रस्ताव सोमिल के पास कहला भेजा। सोमिल अपनी पुत्री के राजमहिषी पद की कल्पना कर अपने भाग्य की सराहना कर रहा था।

उधर राजकुमार गजसुकुमाल भी सोमा के रूप लावण्य के उपभोग की कामना के सरोवर में गोते लगा रहे थे। आज प्रभु-दर्शन में भी उनका मन नहीं लग रहा था। प्रभु अरिष्टनेमि ने गजसुकुमाल की भोगों के प्रति इतनी तीव्र आसक्ति देख उस दिन अपना व्याख्यान नश्वर शरीर और संसार पर ही दिया। प्रभु की देशना सुन राजकुमार गजसुकुमाल को वैराग्य हो गया। उन्हें सांसारिक प्रपचों, काम, भोग से ग्लानि हो गई। उन्होंने दीक्षा व्रत अंगीकार करने का दृढ़ संकल्प ले लिया। माता, पिता, भाई, बन्धु सभी ने बहुत समझाया पर गजसुकुमाल अपने निश्चय पर अटल रहे।

दीक्षा-ग्रहण के प्रथम दिन ही उन्होंने प्रभु की आज्ञा लेकर भिक्षु की बारहवीं पडिमा अङ्गीकार की और रात्रि को श्मशान भूमि में जाकर ध्यानस्थ बैठ गये।

गजसुकुमाल के मुनिव्रत अङ्गीकार की बात सुन सोमिल बड़ा

क्रोधित हुआ। वह श्मशान भूमि में पहुँचा। वहाँ मुनि को ध्यानस्थ मुद्रा में देख और अधिक क्रोधित हो गया। उसने आव देखा न ताव। पास ही से गीली मिट्टी उठा लाया और बाँध दी मुनि के लुंचित सिर पर गीली मिट्टी की पाल और बीच में रख दिये श्मशान भूमि में जलते मुर्दे की लकड़ी के दहकते अङ्गारे।

मुनि श्री के धैर्य, क्षमा, और अहिंसक भाव की वह अग्नि परीक्षा थी। वे मेरु की भाँति अडोल, स्थिर रहे। मन में सोच रहे थे—मेरे ससुर कितने अच्छे हैं। मुझे मोक्ष रूपी पगड़ी बँधा रहे हैं। अपने शुभ ध्यान से किंचित भी विचलित नहीं। इसी शुभ ध्यान में वे कैवल्य प्राप्त कर मोक्षगामी हुए।

खन्धक मुनि

श्रावस्ती नगरी के राजा कनककेतु के एक पुत्र खन्धक और पुत्री सुनन्दा थे। राजकुमार खन्धक और राजकुमारी सुनन्दा दोनो ही रूप, गुण और बुद्धि चातुर्य मे अद्वितीय थे।

सुनन्दा का विवाह कुन्ती नगर के प्रतापी राजा पुरुषसिंह से किया गया पर राजकुमार खन्धक को भोगों के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं थी। वैराग्य के प्रति उनकी धारणा सुदृढ़ थी इसलिये उन्होंने भगवती दीक्षा अङ्गीकार कर ली थी।

एक दिन मुनि खन्धक विचरते हुए बहिन की राजधानी कुन्तीनगरी में पधारे। राजा और रानी गवाक्ष में बैठे चौपड़ खेल रहे थे। एकाएक रानी की दृष्टि अपने मुनि वेष धारी भाई पर पड़ी। खेल से उसका जी उचट गया, और बचपन की मधुर स्मृतियाँ एक-एक करके रानी के सामने आने लगीं। रानी के आँखों में प्रेमाश्रु छलक आये : एकाएक रानी की बदलती हुई धारा को देख राजा को उसके चरित्र पर सन्देह हो गया और वे सोचने लगे जरूर रानी का इस मुनि से अनुचित सम्बन्ध रहा होगा। तभी तो रानी इसे देख रो रही है। मैं इस पाखण्डी साधु वेशधारी की अभी खबर लेता हूँ। यही सोच राजा ने अपनी राजसभा बुलाई। उसमें मंत्री को आज्ञा दी कि सभी जल्लादों से कह दो कि एक मुनि जो अभी महल के नीचे होकर गया है, वह बड़ा दुश्चरित्र है। इसलिये उसकी अति शीघ्र ही चमड़ी उतार कर मेरे सामने प्रस्तुत की जाय।

सभी जल्लाद अपने चाकू छुरी के साथ मुनि के पास पहुँचे। मुनि उन्हें देख ध्यानस्थ हो गये। जल्लादों ने उनकी चमड़ी छीलनी शुरू कर दी। वह भयङ्कर वेदना थी, किन्तु मुनि का मन अडोल था। उस समय उनके मन में किसी के प्रति न शत्रुत्व का भाव था न प्रतिशोध लेने की इच्छा। समत्व भाव में भूलते मुनि ध्यानस्थ रहे। उन्होंने मुँह से उफ की ध्वनि तक न निकाली। जैसे उनके शरीर से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। इसी तितिक्षाभाव में उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया और निर्वाण पद पर आरूढ़ हुये।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र

पोतनपुर नगर में प्रसन्नचन्द्र नाम का राजा राज्य करते थे। राजा धन धान्य से परिपूर्ण थे। यौवन की अल्हड़ता और अधिकारों की मादकता ने भी संसार की नश्वरता के कारण उनके विचारों में विरक्ति के अंकुर पैदा कर दिये। राजा अपना सम्पूर्ण दायित्व अपने नाबालिग राजकुमार को सौंप स्वयं भगवान महावीर के चरणों में दीक्षित हो गये।

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुये महावीर राजग्रह नगर पधारे हुये थे। समवसरण के बाहर मुनि प्रसन्नचन्द्र ऊर्ध्वबाहु होकर एक पाँव पर एकाग्रचित्त होकर ध्यान में खड़े थे। हजारों-लाखों दर्शनार्थी प्रभु-दर्शन को आ रहे थे। सभी दर्शनार्थी मुनि की समाधिपूर्ण स्थिति से बड़े प्रभावित हो रहे थे। मुनि भी प्रभु-चिन्तन में मग्न थे। उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान नहीं था।

उन दर्शनार्थियों में महाराज श्रेणिक और उनके सेनापति भी थे। सेनापति ने मुनि को तीव्र कटाक्ष से देखा और जोर २ से बोलने लगा—सम्पूर्ण राज्य भार छोटे बच्चे को सौंप यहाँ ढोंग रचाये खड़े हो, शत्रु राजाओं ने तुम्हारे राज्य पर आक्रमण कर दिया है। राजकुमार अभी नादान है। वह राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकता। छोड़ो, यह मुनिवेश। पहले कर्म क्षेत्र में उतरो, जनता का हित सोचो, बाद में बुढ़ापे में करना यह साधना।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ थे। पर इस कथन से उनका ध्यान उचट गया। वे खड़े तो वहीं रहे पर उनके भाव उत्तेजित हो गये, वे मन

ही मन शत्रु-सेना से प्रतिशोध लेने की बात सोचने लगे। कल्पना में ही शत्रु राजा व उसकी सेना को जान से खत्म करने के स्वप्न देखने लगे।

तभी मुनि प्रसन्नचन्द्र की समाधिस्थ मुद्रा की प्रशंसा करते हुये श्रेणिक राजा महावीर से वन्दन नमस्कार कर पूछने लगे—प्रभु-अभी यदि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र आयुष्य पूरी कर जाय तो कौनसी गति प्राप्त होगी ?

महावीर प्रभु तो अन्तर्यामी थे। उन्हें प्रसन्नचन्द्र की भावनाओं का पता चल गया। कहने लगे—अभी आयुष्य पूरी कर जाय तो वे नरक में जायेंगे।

कुछ क्षणों में ही मुनि का चिन्तन क्रम बदल गया। वे सोचने लगे—मैं तो मुनि हूँ। मैंने सांसारिक सम्बन्धों से अपना नाता तोड़ लिया है। अब किसका राज्य, किसकी प्रजा, कौन पुत्र, कैसा शत्रु! कौन मैं! एक के प्रति ममत्व और दूसरे के प्रति शत्रुत्व का भाव रखना साधना का मार्ग नहीं है, यह तो राग-द्वेष का परिचायक है। मेरे लिये तो संसार के समस्त प्राणी बराबर हैं। इस तरह सोचते-सोचते मुनि साधना के उन्नत राजमार्ग की ओर बढ़ गये और पहुँच गये आत्म-शुद्धि की चरम सीमा पर जहाँ अपने व पराये में कोई अन्तर नहीं रहता।

महावीर और श्रेणिक के प्रश्नोत्तर अभी चल ही रहे थे। तभी महावीर ने श्रेणिक से कहा—मुनि ने कैवल्य-पद प्राप्त कर लिया है।

यह है भावना-शुद्धि का फल।

मन तीन तरह का होता है—पहाड़ की तरह अचल, पेड़ की तरह चलायमान, तिनके की तरह हर हवा के हर झोंके पर उड़ने वाला।

*

अवधान और ध्यान

● मुनि श्री श्रीचन्द्र 'कमल'

अवधान शब्द गत दो दशक वर्षों से चर्चा का विषय बन रहा है इससे पूर्व इतना परिचित नहीं था। लेकिन सावधान शब्द अति परिचित है। स्कूलों में व्यायाम मास्टर (ड्रील) व्यायाम कराने से पूर्व अटेन्शन या सावधान कहते हैं। सावधान का अर्थ होता है सजगता। सावधान याने अवधान सहित। अवधान का भी वही अर्थ होता है—जागरूकता याने मन का केन्द्रीकरण। एकाग्रता और मन का केन्द्रीकरण समान अर्थ के सूचक शब्द हैं।

परम्परा :

अवधान की परम्परा कब से प्रारम्भ हुई, इसका इतिहास अभी तक अस्पष्ट है। यूं तो अवधान स्मृति का ही एक अंग है। स्मृति की परम्परा हजारों-हजारों वर्ष पुरानी है, परन्तु स्मृति को अवधान का आकार कब मिला यह अन्वेषणीय है। अवधानकार के रूप में जैन परम्परा में उपाध्याय यशोविजयजी का नाम मिलता है। अकबर के समय में भानुचन्द्रगणी ने १०८ अवधान करके बादशाह अकबर को आश्चर्यचकित किया था। उसके बाद मुनि सुन्दरसूरि आदि विरल ही अवधानकार हुए है। उस समय के अवधानों की रूपरेखा स्पष्ट रूप से नहीं मिलती। दक्षिण भारत में कई व्यक्ति अष्टावधानी हैं। उत्तर भारत और मध्य भारत में आज अनेक अवधानकार है। शतावधानी तो कई साधु-साध्वियाँ हैं, परन्तु सहस्रावधानी दो सन्त—मुनि श्री चम्पालालजी और धर्मचन्दजी 'पीयूष' हैं। सार्द्ध सहस्रावधानी मुनि श्रीचन्द्र 'कमल' है।

प्राचीनकाल के अवधान और आज के अवधानों में काफी अन्तर है। उस समय के अवधानों में स्मृति की तीव्रता अभिव्यक्त होती थी, लेकिन आजकल अवधानों में स्मृति के साथ गणित भी होता है।

अवधान का विषय :

अवधान में वे सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं। जिनकी स्मृति की की जा सकती है। व्यक्ति का नाम, गाँव का नाम, भाषा के गद्य, पद्य, बोलचाल की बोली, इतिहास की घटना, तारीख वार सहित, टेलीफोन नम्बर, कार नम्बर, संख्यायें, वस्तुओं के नाम आदि आदि। अवधान-कार एकाग्रता से सुनकर अपने दिमाग में दृढ़ता के साथ धारण करता है। घन्टों के बाद सब सुनी हुई वस्तुओं को अनुक्रम और व्यतिक्रम से सुना देता है। अवधान में गणित के जटिल प्रश्नों को भी ग्रहण किया जाता है। गणित के प्रश्नों में भी संख्याओं की स्मृति रखनी होती है इसलिये वे भी स्मृति की परिधि में आ जाते हैं। गणित के प्रश्नों को ग्रहण अवधान में इसलिये किया जाता है कि अवधानकार का मन गणित के प्रश्नों में उलझ जाए और स्मृति के लिये ग्रहण की गई अनेक वस्तुये उसकी स्मृति से बाहर हो जाये। एक प्रकार से अवधानकार को विस्मृति में ले जाने के लिये बीच-बीच में गणित के जटिल प्रश्न ग्रहण किये जाते हैं। जहाँ ९०% गणित के ही प्रश्न हों उसे अवधान कहना उपयुक्त नहीं है।

अवधान का महत्त्व :

अवधान एक मानसिक शक्ति है। जिसका फलित स्मृति में होता है। इसीलिये अवधान को स्मृति का चमत्कार माना जाता है। एकाग्रता से इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने से वह स्मृति का एक अंग बन जाता है। स्मृति के चार अंग हैं—

(१) वस्तु का ग्रहण, (२) वस्तु की धारणा
(३) पुनरावर्तन, (४) स्मृति

स्मृति की प्रथम भूमिका में वस्तु का ग्रहण होता है। ग्रहण करना ही स्मृति का बीज है। जैसा ग्रहण होगा, वैसी ही धारणा होगी। पुनरा-वर्तन भी धारणा का ही होगा और स्मृति भी उसी की होगी। यदि ग्रहण यथार्थ नहीं होगा तो स्मृति भी यथार्थ नहीं होगी। यदि ग्रहण यथार्थ होता है तो स्मृति तक पहुँचते-पहुँचते वह यथार्थ भी रह सकता है और किसी कारण से अयथार्थ भी बन जाता है। व्यवहार जगत् में इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। कहने वाला कुछ कहता है परन्तु सुनने वाला

सुनकर भी स्मृति दोष के कारण कुछ और ही याद रखता है। और वैसा ही वह करता है। इस प्रकार वक्ता और कर्त्ता के बीच अन्तर हो जाता है। स्मृति को सही बनाने के लिये ग्रहण पर ध्यान देना होगा, क्योंकि ग्रहण ही स्मृति का आधार है। ग्रहण की सत्यता के लिये मन की एकाग्रता या अवधान की अपेक्षा होती है।

स्मृति का महत्त्व :

यदि स्मृति नहीं होती तो जगत् का व्यवहार ही नहीं चलता। अमुक पिता हैं, अमुक दादा हैं, अमुक से लाख रुपया लेना है, अमुक को सोना-चाँदी देना है, अमुक ने वह वस्तु मँगाई थी, वह भेजनी है। सारा व्यवहार स्मृति के आधार पर चलता है। यदि स्मृति न हो तो हर दिन हर व्यक्ति से नये सिरे से परिचय करना पड़ेगा। भगवान् महावीर ने यह उपदेश दिया था। सोहन ने मुझे गाली दी थी, उसका प्रतिशोध लेना है। अमुक ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया था। ये सारे फलित स्मृति के हैं। इस प्रकार मन के संकल्पों और विकल्पों का आधार स्मृति ही बनता है। मन को सुख और दुख में प्रवृत्ति करने वाली स्मृति ही होती है। स्मृति से आनन्द भी मिलता है और दुख भी। सब कुछ होने पर भी व्यवहार जगत् में स्मृति की आवश्यकता होती है। स्मृति के बिना न तो ऑफिस में काम किया जा सकता है और न वायुयान, मोटर आदि चलाये जा सकते हैं। निष्कर्ष की भाषा में स्मृति के बिना व्यवहार एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

एकाग्रता :

स्मृति में चमत्कार लाने के लिए एकाग्रता का सहारा खोजना होगा। एकाग्रता का अर्थ है—मन को एक विषय पर केन्द्रित करना। एकाग्रता सहज भी होती है और अभ्यास के द्वारा साधी भी जा सकती है। जिस विषय में या जिस कार्य में व्यक्ति की सहज रुचि होती है वह उसमें एकाग्र हो जाता है। आपने देखा होगा कि गणित का विद्यार्थी जिसे गणित में रस आता है वह घन्टों तक गणित के प्रश्नों में एकाग्र बना रहता है। उसे पता भी नहीं चलता कि पास से कौन आया और कौन गया। वैज्ञानिकों की भी यही स्थिति होती है। वर्षों तक वे एक विषय में तन्मय बने रहते हैं। वही तन्मयता उनकी सफलता का हेतु बनती है। सहज रुचि से एकाग्रता आती है और उससे अधिक सफलता बनती है।

अभ्यास के द्वारा भी मन को प्रशिक्षित किया जाता है और एकाग्रता बढ़ाई जाती है।

एकाग्रता का अभ्यास :

एकाग्रता के अभ्यास के अनेक साधन हैं—

(१) छापे के एक पैराग्राफ के अक्षरों को गिनना

(२) एक इंच पत्र पर सैकड़ों बिन्दुओं को लगाकर गिनना

(३) प्रातः या सायंकाल ध्यान करना।

ध्यान में पक्षियों की तथा अन्य प्रकार की आवाजों को ग्रहण करना। एकाग्रता बढ़ने के साथ सूक्ष्म ध्वनियों का ग्रहण भी सरल हो जायेगा। पक्षी या मनुष्य किस ओर से किस ओर जा रहा है इसका ज्ञान भी नेत्र के उपयोग बिना सम्भव हो सकता है। प्रज्ञाचक्षु का उदाहरण स्पष्ट है। नेत्र ज्योति के अभाव में वह अकेला शहर में घूमता है। दृष्टि वालों की अपेक्षा प्रज्ञा चक्षुओं में एकाग्रता अधिक पाई जाती है। कभी-कभी नेत्र वाले पूर्व परिचित को नहीं पहचान पाते पर प्रज्ञाचक्षु आवाज के आधार पर व्यक्तियों को पहचान लेता है। इसका रहस्य एकाग्रता का अभ्यास ही है।

आपने अनुभव किया होगा कि जब कभी अतीत की घटना, किसी व्यक्ति का नाम या कोई शब्द आदि याद नहीं आते है तो आँखें बन्द कर मन को एकाग्र करने से प्रायः याद आ जाती है। इस अभ्यास से विस्मृत बातें भी स्मृति पटल पर उतरने लगती है।

एकाग्रता का सशक्त प्रयोग :

अवधान में प्रश्नकर्त्ता के द्वारा सुनाई व दिखान गई वस्तु, संख्या या शब्दों पर मन को केन्द्रित करना होता है। सप्त संधान में एक साथ एक ही क्षण में तीन वस्तुएँ दिखाई जाती हैं, दाहिने पार्श्व में खड़ा व्यक्ति शब्द बोलता है और बाएँ पार्श्व में खड़ा व्यक्ति संख्या बोलता है, पीछे खड़े दो व्यक्ति दो वस्तुओं का स्पर्श कराते हैं। इस प्रकार श्रोत, चक्षु और स्पर्श इन तीन इन्द्रियों के द्वारा ७ वस्तुएँ एक साथ ग्रहण की जाती हैं। सत्य तो यह है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का योग होता है, उसी इन्द्रिय का विषय ग्रहण किया जाता है। सप्त संधान में मन को एकाग्रता में इतना साधा जाता है कि एक ही क्षण में तीनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण कर स्मृति के लिए दीर्घकाल तक संस्कार के रूप में

धारण किया जाता है। इस प्रकार अवधान मन की एकाग्रता का प्रायोगिक रूप बन जाता है। एकाग्रता के बिना अवधान, अवधान नहीं है। केवल गणित के फार्मूलों द्वारा गणित के प्रश्नों को हल करना अवधान नहीं होता। यद्यपि गणित के प्रश्नों को हल करने में मन को केन्द्रित करना होता है परन्तु उस एकाग्रता की पहुँच स्मृति तक नहीं होती। जिसमें स्मृति का चमत्कार नहीं होता वह अवधान नहीं होता।

शक्ति का केन्द्रीकरण अपने आप में चमत्कार है। जेठ मास की चिलचिलाती और अंगारे बरसाती धूप में पड़ा कागज नहीं जलता। सूर्य का प्रतिबिम्ब जब काँच के टुकड़े के माध्यम से कागज पर पड़ता है तो कुछ ही क्षणों में कागज से धुँआ निकलने लगता है। कागज का जलना जादू नहीं है। एक मात्र जादू है सूर्य की रश्मियों को काच पर केन्द्रित करना। हमारे मन की शक्ति भी अनेक कार्यों में विभक्त रहती है। यदि हम मनको केन्द्रित करना सीख लें याने एकाग्रता का अभ्यास करलें तो हमारा मन भी जादू से भरा पड़ा है। इसका जीवन्त निदर्शन अवधान है। अवधान में देशी–विदेशी भाषाएं और बोली तथा लम्बी संख्याएं, क्लिष्ट संस्कृत के श्लोकों को एकाग्रता से एक ही बार में सुनकर याद रखा जाता है और उस समय दर्शकों को कितना आश्चर्य होता है जब अवधानकार घण्टों के बाद उन सुने हुए सभी तथ्यों को यथारूप दोहरा देता है। मन के भीतर अनन्त शक्तियों का निधान है।

याद रखने के साधन :

याद रखने के अनेक साधन हैं, उनमें से मुख्य साधनों की सूचीमात्र प्रस्तुत की जा रही है :—

(१) जो याद करना है उसे पाँच या सात बार पढ़िए। फिर पुस्तक बन्द करके परीक्षा कीजिये कितनी सफलता मिली है। जहाँ भूलें हैं उसे फिर एक बार ध्यान से पढिये और पुनः परीक्षा कीजिये।

(२) किसी शब्द, नाम या तथ्य का अर्थ लगाने से याद करना सरल हो जाता है। जितनी अच्छी तरह से शब्द या प्रकरण का अर्थ समझकर ग्रहण करेंगे उतनी ही आसानी से वह कण्ठस्थ किया जा सकेगा। अर्थ ज्ञान से स्मृति को सहयोग मिलता है।

(३) नए शब्द, नाम, तथ्य, घटना, विचार, अनुभव, रोचक घटना,

चमत्कार पूर्ण वाक्य याद रखने हो तो उनका बार-बार प्रयोग कीजिये।

(४) नए शब्द, नाम आदि का पूर्व संचित अनुभवों के साथ सम्बन्ध स्थापित कीजिए और उसे कल्पना शक्ति से योग कीजिये।

मस्तिष्क में अधिक अनुभव संग्रह और कल्पना शक्ति से सम्बन्ध स्थायी बनते हैं। पूर्वकालीन और नए अनुभवों का परस्पर सम्बन्ध करने में निम्न कारण सहयोगी बनते हैं :—

(१) सादृश्य, (२) कार्य कारण, (३) सम्पूर्ण अंश, (४) विरोधी, (५) सहचर, (६) सामान्य और विशेष।

अवधान मे लाभ :

अवधान का प्रयोग प्रदर्शन नही है। इससे आन्तरिक और बाह्य दोनों लाभ होते है। जो अवधानकार अपरिचित भाषा, संस्कृत का विशालकाय श्लोक और लम्बी संख्याओं को याद रख सकता है, हमें मानना ही होगा कि उसमें एकाग्रता की शक्ति है। बिना एकाग्रता के अवधान में सफलता नही मिल सकती। अवधानकार अपनी एकाग्रता का उपयोग करे तो वह ध्यान में विशेष गति कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में भी कला, साहित्य, अध्ययन, व्यापार आदि विषयों में वह सामान्य व्यक्ति से अधिक सफल हो सकता है। एकाग्रता अवधान का मूल है। एकाग्रता का जिस क्षेत्र में भी उपयोग किया जाएगा, उसे सफलता ही मिलेगी।

अवधान और ध्यान :

अवधान में एकाग्रता होती है इसलिए वह ध्यान की प्रथम कक्षा में प्रवेश पा लेता है, सावलम्बन ध्यान का अंग बन जाता है। परन्तु निरालम्बन ध्यान से अवधान की धारा भिन्न है। निरालम्बन ध्यान में विचारशून्य होना होता है, केवल मन साक्ष्य मात्र रहता है, जबकि अवधान में स्मृति होती है। अवधान में संस्कारों का संग्रह कर उनको जागृत किया जाता है, जबकि ध्यान में पूर्व संगृहीत संस्कारों का भी विलोप किया जाता है।

इतनी भिन्नता होने पर भी आदि से लेकर अन्त तक अवधान में एकाग्रता रहती है, इसलिये वह ध्यान का एक प्रयोगात्मक रूप बन जाता है।

दृष्टिकोण :

समत्व की साधना-ध्यान

श्री रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट

साधना के अनेक प्रकार हैं। ध्यान उनमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

ध्यान का साधारण अर्थ है—अन्तर्मन से विचार। इसी अर्थ के आधार पर ध्यान शब्द को अनेक अर्थों में लिया गया है। जब हम कहते हैं कि यह योगी बड़ा ध्यानी है तो हमारा तात्पर्य है कि योगी सब कुछ भुलाकर एक परमात्मा के ध्यान में लीन रहता है। जैन व्यवहारगत भाषा में इसी प्रक्रिया को ध्यान अथवा कायोत्सर्ग नाम से पुकारते हैं। कायोत्सर्ग का सीधा शाब्दिक अर्थ है—काया का उत्सर्ग यानि शरीर को भुला देना। कायोत्सर्ग में या तो कोई खास चिन्तन किया जाता है या परमात्मा का स्मरण कर उसमें तन्मयता प्राप्त की जाती है। साधक का मन पर पूरा काबू साधना के प्रारम्भ में नहीं होता। वह अपने ध्यान में अपेक्षित चिन्तन अथवा परमात्मा के स्मरण से दूर हट कर अनेक प्रकार की विषय, वासनाओं व कषायों के विचारों में भटक जाता है। इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखकर जैन मनीषियों ने ध्यान को चार मुख्य भागों में वर्गीकृत कर दिया। आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान। इनमें प्रथम दो प्रकार के ध्यान आर्त्त व रौद्र अशुद्ध हैं, नहीं करने योग्य हैं। बाद के दोनों प्रकार के ध्यान धर्म व शुक्ल शुद्ध है, करने योग्य है। कायोत्सर्ग में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान न ध्याये गये हों, आर्त्त ध्यान व रौद्र ध्यान ध्याये हों तो उस बात की आशंका के फलस्वरूप कायोत्सर्ग की समाप्ति पर मिच्छामि दुक्कड़" देकर भूल की क्षमा मांगी जाती है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य में अच्छे व बुरे ख्याल कमी बेसी मात्रा में आते रहते हैं। शिक्षा व साधना के बल पर यह पहिचान मनुष्य में आने लगती है कि कैसे विचार अच्छे होते

हैं और कैसे विचार अच्छे नहीं होते। इस पहिचान के प्रारम्भ होते ही मनुष्य अपनी दुर्बलताओं को दूर कर बुरे विचारों को पैदा करने वाले कामों से छुटकारा पाना चाहता है और अच्छे विचारों को उत्पन्न करने वाले कार्यों में लगे रहने का प्रयास करता है। मन के विचारों का प्रभाव भी उसके कार्यों पर पड़ता रहता है। विचारों का व कार्यों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं। इसीलिये साधारण बोलचाल की भाषा में किसी कठिन या नये काम को करते समय यही कहा जाता है—सीख दी जाती है कि काम जरा ध्यान से करना। विद्यार्थियों को शिक्षकगण प्रायः ध्यान पूर्वक अध्ययन करने का परामर्श देते रहते हैं। इससे प्रकट होता है कि 'ध्यान' का अर्थ बोलचाल की भाषा में सोच-विचार कर काम करने की पद्धति है। इस पद्धति से मनुष्य के संकुचित विचार दूर होते हैं और उसका दृष्किोण विशाल बन जाता है। दृष्टिकोण के विशाल बनते ही तटस्थता की वृत्ति पैदा हो जाती है। नतीजा यह होता है कि अपना और परायेपन का भेद दूर होता जाता है और साधक में समत्व की भावना प्रबल होती जाती है। वह आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करता है। धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में रत रहता हुआ स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है। उसकी आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है। आत्मा और परमात्मा का भेद नहीं रहता। इस प्रकार ध्यान समत्व की साधना है।

सबसे महान भावना है—अपने को बिलकुल भूल जाना।

—रस्किन

★

राम की आग घर-घर में व्याप्त है, लेकिन हृदय की चमक न लगने से धुआँ होकर रह जाती है।

—कबीर

★

विश्लेषण :

बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप

● डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', एम० ए०, पी–एच० डी०

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में भी ध्यान का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधना ध्यान से विलग होकर नहीं की जा सकती। बौद्ध साधना में ध्यान के साथ ही समाधि, विमुत्ति, समथ, भावना, विसुद्धि, विपस्सना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, पधान, निमित्त, आरम्भण आदि शब्दों का भी उपयोग और विश्लेषण किया गया है। इनमें ध्यान और समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द माने गये हैं। वस्तुतः ध्यान का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें समाधि का विषय भी अन्तर्भूत हो जाता है।

ध्यान का अर्थ :

ध्यान (पालि-झान) का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—झायति उपनिज्झायतीति झानं अथवा इमिना योगिनो झायन्ती ति झानं अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—पच्चनीक धम्मे झायेती ति झानं अथवा "पच्चनीक धम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थो।" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मों का दहन करना (झापन करना) भी किया गया है।[1]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) के सन्दर्भ में किया गया है।[2] बुद्धघोष ने इस परिभाषा में 'कुसल' शब्द और जोड़ दिया है—कुसल चित्तेकग्गता। यहाँ "सम्मा समाधीति यथा समाधि, कुसल समाधि"[3] कहकर बुद्धघोष ने यह

---

१. समन्त पासादिका, पृ० १४५-६ २. धम्मसंगणि, पृ० १०

३. विसुद्धिमग्ग।

स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावों को एकाग्र करने से है।

ध्यान और समाधि की उक्त व्याख्या से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ समाधि मात्र कुशल (शुभ) कर्मों से ही सम्बद्ध है वहाँ ध्यान कुशल और अकुशल (शुभ और अशुभ) दोनों प्रकार के भावों को ग्रहण करता है। अतः समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है।

ध्यान के भेद और उनकी व्याख्या :

बौद्ध धर्म में ध्यान के मूलतः दो भेद किये गये हैं आरम्भण उपनिज्झान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)। आरम्भण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूपावचर। इन्हें समापत्ति भी कहा जाता है। उपचार समाधि की प्राम्भिक भूमिका है और शेष उसकी विकसित अवस्थायें हैं। लक्खण उपनिज्झान के तीन भेद हैं—विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना में प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। साधारणतः त्रिपिटक में विपस्सना का प्रयोग समथ के साथ मिलता है—समथो च विपस्सना।[४] इसमें विषय-वस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है, मार्ग में उसका कार्य पूर्ण होता है और उसकी निष्पत्ति फल में होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना गया है।[५] विपस्सना में सात प्रकार की विशुद्धि पायी जाती है—शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, कङ्खावितरण विशुद्धि, मग्गामग्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि, पटिपदाज्ञान दर्शन विशुद्धि तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।[६]

ध्यान का भेद-भेदाङ्ग विवाद का विषय रहा है। सुत्त पिटक में ध्यान के चार भेद मिलते हैं जबकि अभिधम्म पिटक में उसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है। रूपालम्बन पर चित्त की ये विभिन्न अवस्थायें हैं जिन्हें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि कहा गया है।

---

४. दीघनिकाय, ३. पृ० २७३; मज्झिम, १. पृ० ४९४; संयुत्त, पृ० ३६०; इत्यादि।

५. स धम्म पकासिनी, पृ० १९६।

६. अभिधम्मत्थ संगह, कम्मट्ठान संग्रह।

वितर्क का अर्थ है—तर्क वितर्क करना, चित्त का अभिनिरोपण करना तथा सम्यक् संकल्प करना। आरम्भण में चित्त का आरोपण करना इसका मुख्य विषय है। ध्यान में इसका उसी प्रकार का उपयोग है जिस प्रकार भूपति के पास पहुँचने के लिए उसके किसी निकट सम्बन्धी का उपयोग होता है।[७]

आलम्बन के विषय मे विचार करना विचार है। चित्त बार-बार विचार करता हुआ विषय के पास अनुमज्जन करता रहता है और वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन के समीप रखकर उसी के पास घूमता रहता है।[८] अर्थात् आलम्बन में चित्त का संयुक्त हो जाता वितर्क है और उसका वही बना रहना विचार है। वितर्क का जन्म विचार के पूर्व होता है और वह विचार की अपेक्षा स्थूल भी है। विचार का स्वभाव भ्रमण करना है, सूक्ष्म होने के कारण। उदाहरणार्थ पक्षी का आकाश में उड़ना वितर्क है तथा आकाश में पङ्ख फैला देना विचार है।

प्रीति का अर्थ प्रफुल्लित होना है।[९] प्रीति होने पर चित्त विकसित कमल की तरह प्रसन्न हो जाता है। यह प्रीति पाँच प्रकार की है—क्षुद्रिका प्रीति क्षणिका प्रीति, अवक्रान्तिका प्रीति, उद्वेगा प्रीति, और स्फुरणा प्रीति।[१०]

सुख भी एक मानसिक आनन्द की अनुभूति का नाम है। उसमें सभी प्रकार की मानसिक और शारीरिक बाधायें दूर हो जाती है। इष्ट विषय की उपलब्धि से समुत्पन्न तृप्ति से प्रीति होती है और उस प्रीति से उत्पन्न सुख होता है।

कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। इसे एकाग्रता, समाधि अथवा उपेक्षा भी कहा जाता है। यहाँ कुशल चित्त का सम्बन्ध रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकुत्तर चित्तों से ही है। कुशल चित्त के आलम्बन को कम्मट्ठान भी कहा गया है। कम्मट्ठानों (कर्म स्थानों) की संख्या बौद्ध धर्म में चालीस कही गयी है—दस कसिण (कृत्स्ण), दस अशुभ, दस अनुस्मृति,

---

७. धम्मसंगणि, पृ० १६, अट्ठसालिनी, पृ० ६४।

८. अट्ठसालिनी, पृ० ६४। ९. धम्मसंगणि, पृ० २२

१०, अट्ठसालिनी, पृ० ६५।

चार ब्रह्मविहार, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान तथा चार आरूप्य हैं। इनकी प्राप्ति में बाधक तत्त्व हैं पाँच—कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्च, कुक्कुच्च एवं विचिकिच्छा।[११] इनका उपशम क्रमशः समाधि, प्रीति, वितर्क, सुख और विचार से होता है।[१२]

नीवरणों के उपशमन और ध्यान की प्राप्ति में साधक चित्त को एक निश्चित आरम्भण मे केन्द्रित करता है। उस विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है और उस अभ्यास को परिकम्म समाधि कहा जाता है। अभ्यास के बल पर परिकम्म निमित्त के बिना भी मात्र अन्तर्मन में प्रतिष्ठापित उसकी प्रतिकृति पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इस अवस्था को उग्गह निमित्त कहा गया है। निमित्त का अनुचिन्तन-अनुमनन करने पर नीवरणों और क्लेशों का उपशमन होने लगता है तथा उपचार समाधि से चित्त एकाग्र होने लगता है। तब प्रति भाग निमित्त उत्पन्न होता है। उग्गाह निमित्त और प्रतिभाग निमित्त में अन्तर यह है कि उग्गह निमित्त में कसिण का दोष बना रहता है जबकि प्रतिभागनिमित्त दर्पण के समान सुपरिशुद्ध होता है।

बौद्ध धर्म में समाधि के दो भेद हैं—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। चित्त को एकाग्र करने के ये दो साधन भी माने जा सकते हैं। उपचार में नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और अर्पणा में ध्यान प्राप्ति हो जाती है। उपचार ध्यान में चित्त कभी निमित्त का आलम्बन करता है और कभी भवाग में उतर जाता है परन्तु अर्पणा (ध्यान) में यह स्थिति दूर हो जाती है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त की एकाग्रता में स्थिरता आ जाती है। इसके लिए साधक को आवास, गोचर, संलाप (भस्सं), व्यक्ति, भोजन, ऋतु और ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करना चाहिए।

---

११. अभिधम्मत्थ संगह, नवनीत टीका।

१२. नीवरणानि हि झानंगपच्चनी कानि तेसं झानंगा नेव पटिपक्खानि। विद्धंसकानि विघातकानी ति वुत्तं होति। तथाहि समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति व्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया" ति पेट के वुत्तं, विसुद्धिमग्ग, पृ० ९५

आवासो गोचरो भस्सं पुग्गलो भोजनं उतु ।
इरिया पथो ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये ।।[१३]

अर्पणा (ध्यान) का संस्कार करने वाला परिकर्म (पकिरोति अप्पनं अभिसंखरोती ति परिकम्मं) होता है । परिकम्मनं हो जाने पर हमारा चित्त ध्यान की ओर प्रवृत्त हो जाता है । अर्पणा के बाद उपचार, अनुलोम और गोत्रभू होता है । इसके बाद चित्त एकाग्र हो जाता है ।

रूपावचर ध्यान :

प्रथम ध्यान—चित्त जब रूप का ध्यान करता है तब उसे रूपावचर चित्त कहा जाता है । इस अवस्था में ध्यान के बाधक तत्त्व नीवरणों का प्रहरण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचों अंग चित्त को अपने आलम्बन पर स्थिर बनाये रखते है । इसी को **प्रथम ध्यान** कहा जाता है (विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसपजा विहरति)[१४] । नीवरणों और अकुशल धर्मो से दूर चित्त वितर्क के माध्यम से रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है । विचार से वह अनुसंचरण करता है । प्रीति से तृप्ति और सुख से हर्षातिरेक पैदा करता है । इन सभी के माध्यम से वह अपने को चंचलता से दूर किये रखता है । यहीं यह चित्त कायप्रश्रुब्धि और चित्त प्रश्रुब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिक समाधि, उपचार समाधि और अर्पणा समाधि को प्राप्त करता है । साधक ध्यान की इस प्रथम अवस्था में पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करता है—आवर्जन, सम, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण । साधक इन पाँचों अंगों से चित्त को ध्यान के पूर्वोक्त पाँचों अंगों में निरन्तर लगाये रखने की शक्ति एकत्रित कर लेता है ।

द्वितीय ध्यान—प्रथम रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक स्मृति और संप्रजन्य से युक्त होकर ध्यानांगों का प्रत्यवेक्षण करता है । उसे वितर्क-विचार स्थूल जान पड़ने लगते है और प्रीति, सुख और एकाग्रता

---

१३. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश ।

१४. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण दिर्देश; वितक्क विचारपीति सुखेकग्गता सहितं पठमज्झानं कुसलचित्तं, अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १६

शान्तिदायी प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में पृथ्वी कसिण पर अनुचिन्तन के द्वारा भवाङ्ग को काटकर मनो द्वारा वर्जन उत्पन्न हो जाता है। उसी पृथ्वी कसिण में चार-पाँच जवन उत्पन्न होते है। केवल अन्तिम जवन रूपावचार का है और शेष कामावचर के होते हैं। ध्यान की इस द्वितीय अवस्था में वितर्क और विचारों का उपशम हो जाता है। इसी को वितर्क और विचारों के उपशम होने से आन्तरिक प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाला **द्वितीय ध्यान** कहा जाता है। इसके प्रमुख तीन अंग हैं—प्रीति, सुख और एकाग्रता। इस ध्यान को सम्पसादन अर्थात् श्रद्धा और प्रसाद युक्त तथा एकोदिभाव कहा गया है—वितक्क विचारान वूपसमा अज्झत्तं सम्पासन चेतसो एकोदिभावं अवितक्क अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।[१५] वितर्क और विचार का अभाव हो जाने से उत्पन्न होने वाला सम्पसादन और एकोदिभाव इस ध्यान की विशेषता है।

तृतीय ध्यान—साधक की ध्यान अवस्था जब विशुद्धतर हो जाती है तो उसे द्वितीय ध्यान भी दोषग्रस्त प्रतीत होने लगता है। वितर्क-विचार प्रथम दो ध्यानों में शान्त हो जाते हैं और प्रीति चूँकि तृष्णा-सहगत होती है अतः उसे भी छोड़ दिया जाता है। प्रीति यहाँ स्थूल होती है और सुख-एकाग्रता सूक्ष्म होती है। प्रीति रूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिये योगी पृथ्वीकसिण का पुनः पुनः चिन्तन करता है और उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ाते हैं जिनके अन्त में एक रूपावचार तृतीय ध्यान वाला और शेष कामावचर ध्यान होते हैं। इस ध्यान में प्रीति तो होती नहीं, मात्र सुख और एकाग्रता शेष रह जाती है। उपेक्षा, स्मृति और संप्रजन्य इसके परिष्कार हैं—पीतितया च विरागा उपेक्खको च विरहति, सतो च सम्पजानो सुखञ्च कायेन परिसंवेदेति, यं तं अरिया आचक्खन्ति, उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति ततियं झानं उपसंपज्ज विहरति। साधक इस ध्यान की प्राप्ति के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण करने वाला होता है; समभावी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यपनोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा।

---

१५. विसुद्धिमग्ग : दी. नि. १. पृ० ६५-६

क्षीणाश्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्वप्रथम छः इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय आलम्बनों के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षाभाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना ब्रह्मविहोपेक्षा है। अपने साथ सम्प्रयुक्त धर्मों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षाभाव वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणों के प्रहाण हो जाने पर संस्कारों के ग्रहण करने में उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारोपेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार आरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यता विहार और अनिमित्तक विहार) प्रकार की है। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पचस्कन्धों आदि के विषय में उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द, अधिमोक्ख आदि येवापनक धर्मों में उपेक्षा वृत्ति तत्रमध्यस्थोपेक्षा है। तृतीय ध्यान अग्रसुख में उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्धयुपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्धयपेक्षा अर्थतः एक है, मात्र अवस्थाओं का भेद है। संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसा ही है। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था में तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमें भी पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य अंग दुर्बल हैं और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचार कर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिये पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तन कर उसे आलम्बन बनाकर मनो द्वारा वर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ते है, जिनके अन्त में एक रूपावचर चतुर्थ ध्यान का रहता है।

विसुद्धिमग्ग में चतुर्थ ध्यान का लक्षण इस प्रकार मिलता है—
सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्स दोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति।

चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति के पूर्व ही कायिक सुख दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण मे प्रहीण होता है और दु.ख दौर्मनस्य, सुख प्रथम, द्वितीय, तृतीय के उपचार के क्षण मे।

विविध आवर्जनो मे प्रथम ध्यान के उपचार मे शान्त हुई दुखेन्द्रियो की उत्पत्ति डास, मच्छर आदि के काटने से हो सकती है, पर अपर्णा से नही होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण मे यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता हे, तथापि वितर्क और और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है पर अर्पणा मे वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नही है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण मे कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा मे प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी सम्भावना नही रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार-क्षण मे अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भली भाँति चैतसिक सुख का अतिक्रमण न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति सम्भव हे पर अर्पणा मे इसकी सम्भावना नही है।[१६]

यह चतुर्थ ध्यान अदु.ख और असुख रूप हे। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति मे परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनो ध्यानो मे भी यह उपेक्षा रहती है पर परिशुद्ध अवस्था मे नही रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान मे सुत्त परम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचो अ ग विद्यमान रहते ह। द्वितीय ध्यान मे वितर्क और विचार समाप्त हो जाते है। तृतीय ध्यान मे प्रीति नही रहती और चतुर्थ ध्यान मे सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

ध्यान भेद की एक अन्य परम्परा

बौद्ध साहित्य मे ध्यान के भेदो की एक अन्य परम्परा भी मिलती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पाच भेद होते है। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नही है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पचक ध्यान परम्परा मे द्वितीय और तृतीय भेद मे

---

१६ बौद्धधर्म दर्शन, पृ. ७४, विसुद्धिमग्ग (हिन्दी), भाग १, पृ १४९

विभक्त हो जाता है। इस तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पंचक ध्यान का चतुर्थ और पंचम ध्यान है।

अरूपावचर ध्यान :

रूपावचर ध्यान की चतुर्थ अथवा पंचम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है फिर भी साधक निर्वर्ण और निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है, यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था में अनन्त आकाश स्थूल प्रतीत होने लगता है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। अरूप ध्यान की विज्ञानायतन रूप यह द्वितीय अवस्था है। तृतीय अवस्था में आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेव सञ्जानासञ्ञान्यतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमशः पूर्वतर आलम्बन को स्थूल और पश्चात्तर आलम्बन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

लोकोत्तर ध्यान :

उपर्युक्त रीति से रूप ध्यान और अरूपध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ में लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियापन्न का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान में संयोजन के बीजों का सद्भाव सम्भावित रहता है। लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्त्स, शीलव्रत परामर्श, कामच्छन्द, प्रतिघ, रूपराग अरूप राग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन हैं। यद्यपि इनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान में ही क्रमशः *स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त* होती है। लोकोत्तर भूमि में चित्त की आठ अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था में पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास साधक करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

जैन एवं बौद्ध मतों के ध्यान-स्वरूप की तुलना :

बौद्ध धर्म में वर्णित उक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है। जैन

धर्म में भी यद्यपि ध्यान के चार भेद किये गये है—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। पर यह संसार और निर्वाण दोनों के साधक है। प्रथम दो ध्यान संसार के परिवर्धक हैं और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्म ध्यान शुभ ध्यान है और शुक्ल ध्यान शुद्ध ध्यान है।

शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं:—पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निर्वति। प्रथम पृथक्त्व वितर्क ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगों के धारी आठवें गुण स्थान से ग्यारहवें गुण स्थान तक के जीवों के होता है। द्वितीय एकत्व-वितर्क ध्यान तीनो मे से किसी एक योग के धारी बारहवें गुण स्थानवर्ती जीव के होता है। तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति ध्यान मात्र काय योग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है। और चतुर्थ व्युपरत क्रिया निर्वति ध्यान योग रहित (अयोगी) जीवों के चौदहवें गुण-स्थान में होता है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वामि ने वितर्क को श्रुत ज्ञान कहा है[१७] और अर्थ व्यजंन और योग का बदलना विचार बताया है।[१८] प्रथम पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्व वितर्क वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणि की तरह अचल है। प्रथम शुक्ल ध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाती होता है। बौद्ध-धर्म में वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्ल ध्यान में वितर्क और विचार दोनो का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्ल ध्यान में विचार नहीं है। बौद्ध धर्म में सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये हैं जबकि जैन धर्म में प्रथम ध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाति दोनों है।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति की जैन एवं बौद्ध धर्म इन दोनों शाखाओं में ध्यान को साधना के क्षेत्र मे पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म में ध्यान को संसार तथा निर्वाण, इन दोनों क्षेत्रों में नियोजित किया गया है पर बौद्ध धर्म में उसे निर्वाण प्राप्ति तक ही सीमित रखा है। इसके बावजूद दोनों साधनाओं में ध्यान की परिपूर्ण उपयोगिता और उसका विश्लेषण किया गया है।

---

१७. वितर्क : श्रुतम्, तत्त्वार्थ सूत्र, ९-४३

१८. वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः, वही, ९-४४

परिदर्शन :

ध्यान का स्वरूप और महत्त्व

● डा० रमेशचन्द्र, एम ए. पी-एच. डी.

प्रस्तुत लेख में हम ध्यान के स्वरूप का निरूपण करेंगे। किन्तु इसके पूर्व हम उसके अर्थ और परिभाषा पर भी दृष्टिपात करेंगे जिससे हमें उसके स्वरूप निर्धारण में सहायता मिल सके और हमारा कार्य सुगमता और यथा विधि सम्पन्न हो सके। यह एक ऐसा शब्द है जो लौकिक और पारलौकिक दोनो क्षेत्रों मे नित्य प्रति प्रयुक्त होता है। लौकिक भाषा में इसका प्रयोग अनेकों साधारण सन्दर्भों मे होता है और इसके विभिन्न मुहावरो के उपयोग किये बिना हम अपने को व्यक्त करने मे असमर्थ ही पायेंगे। यह शब्द हमारी बोल चाल का इतना अधिक आवश्यक अंग हो गया है कि हम प्रयत्न भी करे तो भी इसके निष्कासन मे सफल नही हो पायेंगे। 'ध्यान आना' (विचार उत्पन्न होना), 'ध्यान रखना' (न भूलना, विचार बनाये रखना), 'ध्यान जाना' (चित्त का किसी ओर प्रवृत्त होना), 'ध्यान दिलाना' (चेताना, सुझाना, खयाल कराना), 'ध्यान देना' (गौर करना), 'ध्यान बँटना' (खयाल इधर-उधर होना), 'ध्यान लगना' (चित्त प्रवृत्त या एकाग्र होना), 'ध्यान से उतरना' (भूलना), आदि मुहावरो का हम प्रयोग बराबर करते ही रहते हैं, इनके बिना हमारा लौकिक क्रिया-कलाप, बोल चाल नही हो सकेगा। यह तो हुआ इस शब्द के लौकिक सन्दर्भ के बारे में, किन्तु इस शब्द का एक अन्य विशिष्ट सन्दर्भ में भी प्रयोग होता है और वह सन्दर्भ है भारतीय संस्कृति मे दर्शन, धर्म, तन्त्र, योग, और आध्यात्मिक जगत् का जिसमें परमात्म तत्त्व पर चिन्तन किया जाता है।

यहाँ हम इसके इस द्वितीय सन्दर्भ के विषय मे ही विचार करेंगे। यह शब्द विशेष रूप से योग (दर्शन), धर्म (बौद्ध, जैन, सनातन हिन्दू, आदि सभी विश्व धर्म) और आध्यात्मिक जगत के परम तत्त्व से सम्बद्ध

है। यह इनके परिप्रेक्ष्यों का निर्धारण करता है और उसी में अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। इस ध्यान की क्रिया सम्पन्न हुए बिना कुछ भी प्राप्त होना असम्भव ही होता है इन क्षेत्रों में। इस ध्यान को सिद्ध कर लेने पर साधक स्वरूप में स्थित हो जाता है,[१] अन्यतम आध्यात्मिक मूल्य महानन्द मे मग्न हो जाता है, परम पुरुपार्थ मोक्ष को सिद्धि कर लेता है, सनातन धर्म के मूलतत्त्व को जान लेता है, अपने को परमदेव के साथ एकीभाव में स्थित कर लेता है और इस तरह वह अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति द्वारा अपने मानव जीवन को चरितार्थ कर लेता है। साधारण तौर पर यदि कहा जाय तो धर्म और दर्शन इसकी सीमा का निर्धारण करते हैं और योग पद्धति में यह अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। यहाँ योग शब्द को पातञ्जली के योग तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि भारतीय संस्कृति में इसका अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। गीता के समस्त अध्यायों को विभिन्न प्रकार का योग ही कहा गया है। पहले अध्याय का नाम अर्जुन-विषाद योग है। अब आप सोचिये कि यह कौनसा योग हुआ ? इसके अतिरिक्त हमारे वाङ्मय में हमें निष्काम कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, ध्यान योग, हठयोग, राजयोग आदि अनेकों योग मिल जायेंगे। ये सभी मार्ग हैं अपरोक्षानुभूति प्राप्त करने के लिए, परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए किंवा मुक्ति के लिए। और यही परम श्रेय है मानव के लिए। इसी के द्वारा उसकी मानव नाम की अभिधा चरितार्थ होती है। इसको प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। उपनिषदों का यही परमब्रह्म या आत्मा है जिसको जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है, यही उत्तर महर्षि अङ्गिरा ने शौनक मुनि की जिज्ञासा का दिया था जिसमें उन्होने यही जानने की इच्छा की थी कि वह कौनसा तत्त्व है जिसको जान लेने पर निश्चय ही सब कुछ जान लिया जाता है।[२] इसी तत्त्व की जिज्ञासा मैत्रेयी ने महर्षि याज्ञवल्क्य से और नचिकेता ने यमराज से[३] की थी और इसकी तुलना में स्वर्गोपम भोगों, यहाँ तक कि समस्त लोकों के स्वामित्व को भी तृणवत् त्याज्य

---

१. तदा द्रष्टुस्वरूपे अवस्थानम्। योगसूत्र १।३

२. शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं मिदं विज्ञातं भवतीति। मुण्डक उपनिषद् १।१।३

३. कठोपनिषद्, १।२।११

माना था और उसी परब्रह्म को जानने की जिज्ञासा की थी जो अमर है, जिसका ज्ञान हमें असद् से सद् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, एवं मृत्यु से अमृत की ओर ले जा सकता है।[४]

अब यदि कुछ देर के लिए हम अपना ध्यान इस शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ की ओर लगायें तो पायेंगे कि यह संस्कृत भाषा का शब्द है और भ्वादिगण के परस्मैपद संज्ञक 'ध्यै भावे ल्युट्' से 'ध्यानं' सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है किसी भी प्रकार का विशिष्ट सूक्ष्म मनन-चिन्तन, किसी के स्वरूप का ऐसा चिन्तन कि उसे बिना बाह्य इन्द्रियों की सहायता से मन में ले आया जाय। ध्याननिष्ठ या ध्यानस्थ व्यक्ति उसे कहा जायगा जो सर्वथा चिन्तन-मनन में लीन हो गया हो या जिसे ध्यान में निरत होने के कारण आत्मविस्मृति हो गई हो।

अतः ध्यान के स्वरूप का निरूपण करते हुये महर्षि पातञ्जली ने अपने योग सूत्र में लिखा है कि किसी भी विषय में जहाँ चित्त को आवद्ध किया गया था[५] (या लगाया गया था) उसी में वृत्ति का निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहना ध्यान[६] है। ऐसे ध्यान के द्वारा ही समाधि की प्राप्ति होती है क्योंकि तब चित्त का अपना स्वरूप तो शून्यवत् हो जाता है और वह पूर्णतः ध्येय में ही परिणत हो जाता है, तब ध्येय का भाव (अर्थ) मात्र ही बच रहता है और ध्येय से भिन्न उसकी उपलब्धि का नाश हो जाता है, वह ध्येय का ही आकार ग्रहण कर लेता है।[७] इन तीनों[८] का जब एक ही ध्येय विषय हो तो उसे संयम[९] कहा जाता है

---

४. असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।

५. देश बन्धश्चित्तस्य धारणा। यो० सू० ३।१

६. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो० सू० ३।२

७. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः। योग० सू० ३।३

८. यदि मन को किसी स्थान में १२ सेकण्ड धारणा किया जाय, तो उसमे एक धारणा होगी; यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान, और यह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होगी।'' विवेकानन्द: राजयोग (श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१), १९६५, पृ० ११४-१५।

९. त्रयमेकत्र संयमः। यो० सू० ३।४

और इस संयम के सिद्ध हो जाने पर उस व्यक्ति की प्रज्ञा अःलोकित[१०] हो उठती है और वह पुरुष–प्रकृति के विवेक ज्ञान अथवा भेद ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह नित्य (अजन्मा, अविनाशी), अपरिणामी, निर्विकार, (त्रिगुणातीत), स्वप्रकाश और असङ्ग है। इसके विपरीत प्रकृति नित्य–परिणामी, जड़ और त्रिगुणात्मिका है। मूल अवस्था में दोनों ही निष्क्रिय हैं।

हम ध्यान के स्वरूप पर विचार करते हुए सांख्य–योग की मूलदृष्टि पर पहुँच गये क्योंकि ध्यान वहाँ योग के आठ अंगों में से ही एक है और इस प्रकार वह एक साधन मात्र है समाधि प्राप्त करने के लिए। यद्यपि यम[११], नियम[१२], आसन[१३], । प्राणायाम[१४], प्रत्याहार[१५], की अपेक्षा, जिन्हें योग ने बहिरंग साधन माना है, धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग साधन आवश्यक माने गये हैं तथापि हैं तो ये भी साधन ही एक अन्य उच्च अवस्था की प्राप्ति के लिए और इसीलिए निर्बीज समाधि की अपेक्षा से इन्हें भी बहिरंग साधन ही कहा गया है। अतः ध्यान की परिभाषा यह दे सकते हैं कि यह एक ऐसा साधन है जो ध्याता को ध्येय बनने में सहायता करता है, जो ध्याता के मन को पूर्णतः ध्येय पर ही एकाग्र कर देता है, केन्द्रित कर देता है; फिर वह ध्येय चाहे स्वस्वरूप का बोध हो या परमदेव के साथ एकत्व की प्राप्ति हो।[१६]

---

१०. तज्जयात्प्रज्ञा लोकः। यो० सू० ३।५

११. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।। यो० सू० २।३०

१२. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ।। यो० सू० २।३२

१३. स्थिर सुखमासनम् ।। यो० सू० २।४६

१४. तस्मिने सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः ।। यो० सू० २।४९

१५. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।
यो० सू० २।५४

१६. "परमदेव के साथ एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना—यही सब योगों का स्वरूप है।"''''''ज्ञानयोग में स्वभावतः ही इसका अत्यधिक महत्व है, क्योंकि उसकी विधि और उसके उद्देश्य का वास्तविक मूलसूत्र ही यह है कि मानसिक चेतना को एक ऐसी निर्मल

ध्यान के लिए मन तभी तत्पर एवं समर्थ होता है, जब उसे पूर्व वर्णित योगाङ्गों के द्वारा अनुशासित किया जाता है। ऐसे संयत मन के द्वारा और दृढ़-संकल्प के द्वारा ही हम ध्यान की भाव भूमि पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। इस ध्यान को हमें क्रमशः स्थूल वस्तु से सूक्ष्म की ओर बढ़ाना चाहिए। क्रमिक विकास ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए और वही उपादेय भी है क्योंकि यदि हम यकायक उस अवस्था में पहुँच जायेंगे तो बहुत सम्भावना है कि हम उसमें स्थायी न हो सकें या उसके मर्म को साधिकार न समझ सकें। तभी हम ध्यान के द्वारा उपलब्ध सिद्धियों की प्राप्ति का लोभ संवरण कर सकेंगे जबकि हमारा लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति होगा अन्यथा तो हम उनकी चकाचौंध से दिग् भ्रमित हो जायेंगे और तब हमारा पतन सुनिश्चित हो जायगा। इस ध्यानावस्था पर हम मानवों का ही एकाधिकार हो सो बात नहीं, स्वामी विवेकानन्द का मत है कि इसमें प्रत्येक प्राणी का अधिकार है[१७] और यह सर्वोत्कृष्ट है, परम श्रेय है।[१८]

इस अवस्था को न तो सहज ज्ञान (instinct) से ही प्राप्त किया

अवस्था मे तथा एकाग्र शक्ति में उठा ले जाय जिसके द्वारा यह वास्तविक सत्ता को पूर्णरूप से जान सके, उसमें लीन होकर तद्रूप बन सके।" अरविन्द: योग-समन्वय (पूर्वार्द्ध) भाग १—२ (श्री अरविन्द सोसायटी, पांडीचेरी—२); १९६९; पृ० ६०५

१७. "सबसे निम्नतर प्राणी से लेकर अत्यन्त उन्नत देवता तक सभी, कभी न कभी, इस अवस्था को अवश्य प्राप्त करेंगे और जब यह अवस्था किसी को प्राप्त हो जायगी, तभी हम कहेंगे कि उसने यथार्थ धर्म की प्राप्ति की है।" विवेकानन्द राजयोग, पृ० १०६, पृ० १०५ भी पढ़िये।

१८. "जीव की जितने प्रकार की अवस्थायें हैं, उनमें यह ध्यानावस्था ही सर्वोच्च है। जब तक वासना रहती है, तब तक यथार्थ सुख नहीं आ सकता। केवल जब कोई व्यक्ति इस ध्यानावस्था से अर्थात् साक्षी भाव से सारी वस्तुओं की चर्चा कर सकता है, तभी उसे यथार्थ सुख प्राप्त होता है। अन्य प्राणी इन्द्रियों में सुख पाते हैं, मनुष्य बुद्धि में, और देव-मानव आध्यात्मिक ध्यान में।' —वही, पृ० १०७

जा सकता है और न ही तर्क बुद्धि (reason) से।[१९] यह इन दोनों से परे एक अवस्था है, जिसे उक्त वर्णित दोनों ज्ञानों की अपेक्षा ज्ञानातीत अवस्था कहा जा सकता है। पशुओं का संसार सहज ज्ञान तक ही सीमित होता है, उसके जीवन में कोई तर्क-वितर्क नहीं, किसी उद्देश्य की ओर बढ़ने की कोई लगन नहीं, कोई विचार नहीं। किन्तु मनुष्यों का यह सारा ऐहिक जीवन ही विचारयुक्त ज्ञान पर अवलम्बित है; उससे उसका निस्तार नहीं। इसीलिए यदि हमें किसी अन्य श्रेष्ठ तत्त्व की उपलब्धि करनी है तो इससे ऊपर उठना होगा, साधारण बुद्धि के ज्ञान से आगे की ओर प्रयाण करना होगा और तभी परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति होगी। इससे हमारा हृदय स्वतः आलोकित हो उठेगा और आत्मा अपने स्व के प्रकाश से प्रकाशित हो उठेगी, वह स्वयंप्रभा जो है।[२०] तब हम इस भौतिक संसार से सर्वथा भिन्न एक ऊर्ध्व देश में पदार्पण करेंगे, विचरण करेंगे और तब तो यह लौकिक जगत् भी एक अन्य रंग से अनुरंजित हो उठेगी।[२१] उपनिषद् के ऋषि को उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त और

---

१९. तर्क बुद्धि की सीमा के इस अभिज्ञान ने ही काण्ट जैसे मनीषी को Critique of Practical Reason लिखने को बाध्य किया। बौद्धिक ईमानदारी का कायल वह दार्शनिक जब Critique of Pure Reason के विशद् चिन्तन मनन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्ध तर्क बुद्धि के द्वारा परमात्मा का अस्तित्व, आत्मा की अमरता और स्वतन्त्र सकल्पेच्छा को सिद्ध नहीं किया जा सकता तो उसने दुराग्रही होकर इनका बहिष्कार नहीं किया क्योंकि वह जानता था कि नैतिक-जीवन और धर्म, संस्कृति, मानव की गरिमा आदि की प्रतिष्ठा के लिए ये अपेक्षित हैं।

२०. आत्मा के बारे में महर्षि विद्यारण्य अपने ग्रन्थ पंचदशी में कहते हैं कि, "नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा" ॥ १।७ ॥ यहाँ हम यह मत प्रकाशित करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे हैं कि अद्वैत-वेदान्त के अगाध साहित्य भण्डार का यह एक अनमोल रत्न है।

२१. "जो ऐसी ध्यानावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उनके पास यह जगत् सचमुच अत्यन्त सुन्दर रूप से प्रतीयमान होता है। जिनकी वासना नहीं है, जो सर्व विषयों में निर्लिप्त है, उनके पास प्रकृति के ये विभिन्न परिवर्तन एक महा सौन्दर्य और उदात्त भाव की छवि मात्र है।"

—राजयोग, पृ० १०७।

कुछ भी दिखाई नही देगा[२२] और कोई तुलसी भक्ति भाव से समस्त संसार को 'सियाराम मय' जानकर प्रणत भाव से उसके समर्पित हो जायगा। और इससे एक ऐसे महानन्द की सृष्टि होगी जिसमें सब कुछ डूब जायगा, सब कुछ द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि लुगड़े-से हार जायेंगे और श्रेष्ठ जीवन उभर कर ऊपर आ जायेगा।[२३] जब भर्तृहरि ने धर्म-हीन मनुष्य को पशु के समान कहा था तो उनका भी आशय इसी तत्त्व से था।[२४]

किन्तु इस अतीन्द्रिय राज्य मे विचरण का अधिकारी कौन होगा ? तो इसका एकमात्र उत्तर होगा—वह साधक जो अध्यवसायशील होगा[२५], जो निरन्तर ध्यान-साधना मे दत्तचित्त होकर लगा रहेगा, जो उसी मे डूब जायगा। जो हजारो वर्ष भी उसके लिए प्रयत्न करने को तत्पर है और जिसकी उद्घोषणा है, जिसका पक्का इरादा है कि या तो करूँगा या मरूँगा, 'मन्त्रवा साधयामि शरीर वा पातयामि', ऐसे दृढ संकल्प वाले मन को, सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति के ऐसे प्रबल अभिलाषी को ही एकाग्रता प्राप्त होगी, परमपद की प्राप्ति होगी, उस परमात्म देव का दर्शन होगा जिसका पार देवता, राक्षस, मनुष्य आदि कोई नही पा सकता।[२६]

---

२२ 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।' ईशावास्योपनिषद्।

२३. "डूब गये सब एक साथ।
सब अलग अलग एकाकी पार तिरे।
ईर्ष्या, महत्वाकाक्षा, द्वेष, चाटुता,
सभी पुराने लुगडे से हार गये, निखर आया था जीवन-कांचन,
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।"
—अज्ञेय . आगन के पार द्वार (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी), १९६१, पृ० ८४-८५।

२४. आहार निद्राभय मैथुनञ्च समान एतत पशुभिर्नराणाम्
तेषा हि एको धर्मो विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना ॥ —भर्तृहरि

२५ देखिये कूर्म पुराण, अध्याय ११ ॥

२६ ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।
यस्यान्त न विदु. सुरासुरगणा देवाय तस्मै नम. ॥
— देवी भागवत, १२।१३।१

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी-किसी व्यक्ति को अनायास ही इस दैविक तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। कोई अज्ञात शक्ति अचानक ही उसे उस अतीत प्रदेश में ले जाकर खड़ा कर देती है और वह अवाक भौचक्का होकर उस जगत् को देखने लगता है। ऐसा यदि उस व्यक्ति के पूर्व जन्म कृत पुण्यों का फल है तब तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है—क्योंकि यह सामान्य नियम है कर्म के सिद्धान्त का कि जैसा बोओगे वैसा काटोगे और किसी भी किये हुए कर्म का फल अवश्य होता है, वह व्यर्थ नहीं जाता अन्यथा तो यह कभी-कभी महान् अनर्थ का परिचायक होता है क्योंकि तब ऐसे व्यक्ति जब उस तत्त्व को सर्वसाधारण के लिए प्रकट करते हैं तो वे उसमें अपनी देशकाल सम्प्रदायोचित धर्मान्धता, दुराग्रह आदि सम्मिलित कर देते हैं। इसी कारण धर्मादि को लेकर इतना रक्तपात हुआ, इतना मानवता का विनाश, मानव मूल्यों की हानि और संस्कृति का नाश हुआ। तिलक, कण्ठी, धर्म ग्रन्थ, उपास्य देव आदि बाह्य आडम्बरों को लेकर जितना कुछ विश्व इतिहास में हो गया है उसकी पुनरावृत्ति न तो सम्भव ही है और न स्तुत्य ही।

परन्तु सभी देश-काल संस्कृतियों के महापुरुष इस बात में एक मत हैं कि उन्हे यह अपरोक्षानुभूति साधारण ज्ञान से नहीं हुई है। इसमें या तो भगवद् कृपा है या फिर यह उसके स्वयं के उत्तरोत्तर लक्ष्योन्मुखी प्रयत्न का चरमोत्कर्ष है। चाहे कुछ भी कहें, यह है मन की ज्ञानातीत अवस्था ही जिसकी उपलब्धि विरले ही को होती है। और मन को बिना जीते, बिना उस पर काबू पाये इस स्थिति को प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। यह सबसे बड़ा शत्रु है और जीतने में भी कठिन है[२७] किन्तु सतत् प्रयत्न द्वारा, अव्यवसाय द्वारा इसे एकाग्र किया जा सकता है और दत्तात्रेय की भाँति ससार में विचरण किया जा सकता है। कहते हैं[२८] उन्होंने चौबीस गुरु बनाये। उनका इक्कीसवाँ गुरु एक बाण बनाने वाला था जो बाजे-गाजे वाली बरात के सन्मुख होकर गुजरने के प्रति सर्वथा निर्लिप्त ही रहा, उसके ध्यान को ऐसा शोर-गुल भी नहीं डिगा सका। अतः यह सिद्ध होता है कि

---

२७. देवी भागवत ११।२३।४९. ११।२३।४३, ११।२६।४६, ११।२३।४८, गीता २.६०-६२।

२८. वही ११।९।२१, (सम्पूर्ण आठवाँ और नवाँ अध्याय पढ़िये ग्यारहवें स्कन्ध का)।

शरीर के होते हुए भी कुछ नहीं हो सकता यदि मन पर पूर्ण काबू है तो सर्वदा फल अच्छा ही होगा। वायु पुराण[२९] में एक कथा है जिसका सारांश और शिक्षा यही है कि मन जहाँ रहेगा, जैसा ध्यान (चिन्तन) होगा वैसा ही फल मिलेगा।

ऐसी ध्यानस्थ स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग अत्यन्त दुस्तर है, तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है[३०] किन्तु फिर भी यह न तो असम्भव ही है और न ही कठिन और दुस्तर होने के कारण इससे हमें मुँह मोड़ लेना चाहिए क्योंकि इसी में मानव जीवन की चरम सार्थकता निहित है। वेदों के ऋषियों ने ध्यानावस्थित होकर पवित्र और श्रेष्ठ मन्त्रों का दर्शन किया, श्रवण किया और इसीलिए इनका श्रुति नाम विख्यात हुआ। इसी प्रकार हजरत मूसा को दस दिव्य सन्देश तूर पहाड़ पर प्राप्त हुए। भगवान् बुद्ध को भी ध्यानस्थ अवस्था में ही महाबोधि ज्ञान की प्राप्ति वट-वृक्ष के नीचे बोधि गया में हुई। ये चार आर्य सत्य कहलाये और इसी सत्य ज्ञान का प्रचार उन्होंने भिक्षु-भिक्षुणिओं एवं श्रावक-श्राविकाओं में किया। उन्होने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। भगवान् महावीर आदि समस्त तीर्थङ्कर भी ध्यानस्थ होकर ही 'जिन' बने। मुहम्मद पैगम्बर पर भी ऐसी ही ध्यानस्थ अवस्था में कुरान की आयतें उतरीं (प्रकट हुई)। कहने का तात्पर्य है कि बिना ध्यान के कोई भी व्यक्ति महापुरुष नहीं बना और उसने परम सत्य को इसी अवस्था में, इसी क्रिया के द्वारा उपलब्ध किया। ऐसा परमार्थ ज्ञान अतीन्द्रिय और तर्कातीत होता है, तर्क बुद्धि से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।[३१]

उपनिषदों ने, वेदान्त ने, और योग ने एक और महान् सत्य का उद्घाटन किया और वह था कि साधक स्वयं भी वस्तुतः तो ब्रह्म ही

---

२९. २१ वाँ अध्याय पढ़िये।

३०. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ — कठोपनिषद् १·३।१४।

३१. नैषा तर्केण मतिरापनेया।
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्य धृतिर्बतासि।
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ वही १।२।९॥

है (तत्त्वमसि), आत्मा ही है (इयं आत्मा ब्रह्म)। वह तो अज्ञान के कारण अपने को विभिन्न नाम-रूपात्मक संसार में फँसाये हुए है। उसे ऐसा कुछ नहीं बनना है जो वह नहीं है, उसे तो केवल विवेक के द्वारा स्वयं के असली रूप को पहचानना है, उसे न तो कुछ बाहर से लाना है और न ही अपने से कुछ निकालना है वह तो सच्चिदानन्द स्वरूप है, अविनाशी है, निर्विकार, सर्वज्ञ आदि है, अविवेक के वशीभूत होकर वह इस संसार के भँवर में फँस गया है, अविद्या ने उसके मूल स्वरूप को उससे तिरोहित कर दिया है। ज्योंही विवेक ज्ञान की प्राप्ति हुई वैसे ही यह तिमिराच्छादित संसार उसके सामने से लुप्त हो जाता है। ऐसी दृष्टि को प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह समुद्र की भाँति शान्त, गम्भीर हो जाता है, फिर नाना नदियों के जल आकर उसे चलायमान नही कर सकते; फिर तो उस व्यक्ति की कामनाएँ भी विना उसमें हलचल मचाये शान्त हो जाती हैं, समा जाती हैं। ऐसा व्यक्ति ही शान्ति को प्राप्त करता है, अमृत हो जाता है, ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो महानन्द की ही स्थिति होती है। कुछ आलोचकों ने, जो तर्कबुद्धि (reasan) में ही ज्ञान का पर्यवसान मानते हैं, जो उसी को ज्ञान की प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हैं और जो उसी को कसौटी के रूप में भी स्वीकार करते हैं। उनके लिए तो उक्त बाते सिवाय कोरी कल्पना के कुछ नही रहती। किन्तु जैसा कि हमने देखा सारी ध्यानावस्था और उससे उपलब्ध परमतत्त्व, परमात्मा, दिव्य-चेतन, ब्रह्म, महानन्द आदि सभी इस ज्ञान से अतीत जाते हैं। उनका मूल स्वरूप ही ऐसा है। जो व्यक्ति इसको केवल कल्पना कहकर इसको अस्वीकार करता है या जो इसे मानना नहीं चाहता उसको हम कभी भी इन उत्कृष्ट रहस्यों को नहीं समभा सकेंगे और न ही वह इनको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करेगा किन्तु वह तब हमारी दया का ही पात्र होगा क्योंकि उसने दुराग्रह के कारण ही स्वयं को महान् आनन्द से वंचित कर लिया है। जिनके मत में व्यक्ति परमाणुओं के आकस्मिक संघात के अतिरिक्त और कुछ न हो, जो जीवन को जड़ द्रव्य और गति में ही अन्तर्भाव्य मानते हैं। और जो विश्व में जड़ कठोर नियमों का ही साम्राज्य मानते हों वे यदि ऐसा कहें तो आश्चर्य ही क्या है ? प्राचीन काल में भारत के चार्वाकों, और ग्रीस के एपीक्यूरियस ने और अर्वाचीन काल में भूत विज्ञान से प्रभावित यूटीलिटेरियन्स और क्रूड प्रैग्मैटिस्ट्स ने कुछ ऐसी ही धारणायें प्रचलित कीं। किन्तु ऐसे लोग न तो नैतिक क्षेत्र को, उसके

सिद्धान्तों और नियमों को स्थापित कर सकते और न ही मनुष्य में जो श्रेष्ठ और सुन्दर है उसकी व्याख्या कर सकते। संस्कृति के ऐसे शत्रुओं ने मानवता का और उसके सभी मूल्यों का हमेशा ही सर्वनाश किया है।

इस तरह हमने देखा कि ध्यान के द्वारा हम ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकते है, ऐसी दृष्टि उपलब्ध कर लेते हैं जो हमें मुक्ति प्रदान करने वाली होती है, विभिन्न दर्शनों और धर्मों ने इस मुक्ति का स्वरूप अलग-अलग माना है किन्तु सभी इस बात में सहमत हैं कि यही जीवन का चरम लक्ष्य है। वे दर्शन [यथा बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, शांकर वेदान्त (क्योंकि वहाँ भी ईश्वर माया ग्रसित ब्रह्म है)] और धर्म भी जो परमात्मा को नहीं मानते मोक्ष या निर्वाण को अवश्य मानते हैं और इसके लिए जो साधन अपनाते हैं उनमें ध्यान सर्वदा ही मुख्य और महत्त्वपूर्ण होता है। यह सभी की साधना पद्धति का एक आवश्यक अङ्ग होता है। दुःख निवृत्ति तो सभी चाहते है, चाहे फिर उसमें विध्यात्मक (Positive) कुछ हो या न हो। भगवान् बुद्ध ने घोषणा की "सर्व दुःखम्" और इसके कारण ध्वंस की सम्भावना और ध्वंस का मार्ग बताकर अपने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया। बौद्ध और सांख्य वाले तो इस दुःख से निवृत्ति को ही मुक्ति मानते हैं और कुछ अन्य जैसे शङ्कर—वेदान्ती ब्रह्म हो जाने को, अपने मूल स्वरूप को पहचान लेने को मोक्ष की संज्ञा देते हैं। योगाचार्यों के अनुसार ध्यान के फलस्वरूप ही यह स्थिति (समाधि) प्राप्त होती है। किन्तु सभी को किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए एकाग्रता की तो आवश्यकता पड़ेगी ही फिर वह चाहे कोई महान् लक्ष्य हो—निश्रेयस् की प्राप्ति, या चाहे कोई इस सांसारिक जीवन की ही उपलब्धि क्यों न हो—प्रेय की प्राप्ति। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्यान किंवा एकाग्रता मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों की आधार भूमि है फिर वह चाहे लौकिक हों या पारलौकिक। एकाग्रता, चिन्तन, मनन आदि के अभाव में तो मनुष्य को सभी क्षेत्रों में असफलता ही मिलेगी। इससे यह निगमित होता है कि सफलता की आकांक्षा करने वाले के लिए ध्यान पर ध्यान देना, उसका वरण करना अपरिहार्य हो जाता है। हमारे सामने जो विकल्प हैं वे ध्यान और ध्यान का अभाव नहीं है अपितु भली-भाँति किया हुआ ध्यान और ठीक तरह से नहीं किया हुआ ध्यान हैं। इन अन्तिम दो में से ही हमें एक का चुनाव करना है। भली-भाँति किया हुआ ध्यान हमारे मनोबल को ऊँचा करता है, हममें आत्म विश्वास उत्पन्न करता है फिर वह चाहे

लौकिक जगत् मे हो और चाहे दार्शनिक, धार्मिक, या आध्यात्मिक क्षेत्र मे ।

ध्यान का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है । सगुण निर्गुण, सरूप-अरूप, आदि भेदो का निरूपण पुराणो मे हुआ है (गरु० पु० अ० ४१, २४० । अग्नि पु० ३७३ । विष्णु पु० आदि) महाभारत और बौद्धो के ग्रन्थ लकावतार सूत्र मे चार प्रकार के ध्यान का वर्णन है । नागार्जुन ने बोधिसत्त्वो के लिए सोलह प्रकार का ध्यान निरूपित किया है और आसग ने नौ प्रकार का ध्यान बताकर उसको पुन उनतालीस प्रकारो मे वर्गीकृत किया है । चार प्रकार के ध्यानो मे प्रथम ध्यान मे तो वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता होती है । दूसरी सीढी पर ध्यान मे केवल प्रीति, सुख, और चित्तैकाग्रता बच जाती है । तीसरे ध्यान मे प्रीति का भी लोप हो जाता है और चौथी सीढी पर तो इन सभी के प्रति उपेक्षा का भाव ही रह जाता है । इस स्थिति मे सभी वृत्तियो और इच्छाओ का नाश हो जाता है ज्ञान की प्राप्ति के लिए भूमिका तैयार हो जाती है और अनेको विभूतियाँ भी साधक को प्राप्त हो जाती हैं । उसे अनन्त शान्ति प्राप्त होती है और वह स्वय को इसके द्वारा पूर्णत अनुशासित कर लेता है । जेन बौद्धमत (जेन जापानी भाषा मे ध्यान का पर्यायवाची शब्द है) मे तो ध्यान पर इतना अधिक बल दिया गया कि उन्होने शील, ध्यान और प्रज्ञा तीनो की साम्यावस्था की अपेक्षा न करके ध्यान को ही सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया । यह सम्प्रदाय चीन और जापान मे बहुत फूला फला । महायान बौद्धो ने छ. पारमिताओ मे से पाँचवी ध्यान पारमिता को ही अपना ध्येय माना । बोधिसत्त्वो के लिए यही अन्तिम पारमिता है । किन्तु हीनयान बौद्धो ने अर्हत्व की प्राप्ति को ही चरम लक्ष्य स्वीकार किया । महायान बौद्धो का मत है कि उनके बोधिसत्त्व ससार मे ही रहकर दु खी मानवो को सद्‌मार्ग बताते रहेगे और तब तक वे कार्य करते रहेगे जब तक ससार मे एक भी प्राणी दु खी रहेगा । (हम विस्तार मे न जाकर बौद्धो के मत को यही समाप्त करते हैं क्योकि शायद इस विषय पर किसी अन्य विद्वान ने विस्तार से इस विशेषाक मे प्रकाश डाला होगा) ।

मन को बाह्य विषयो से हटाकर अन्तर्मुख करने की, ध्यानावस्थित करने की अनेको विधियाँ हैं जो विभिन्न नामो से विख्यात हैं । ये सभी पद्धतियाँ ध्यान को प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत प्रयुक्त करती हैं । यह परमात्मा की भक्ति द्वारा उनकी कृपा से भी हो सकता है और निष्काम बुद्धि से

कर्मफल के त्याग द्वारा भी। मन को ऊँकार (ओऽम्) पर भी केन्द्रित किया जा सकता है और मन को खुली छूट देकर स्वयं सांख्य के मूल पुरुष दृष्टा की भाँति बनने से भी मन नियंत्रित हो जाता है, ध्यान की स्थिति प्राप्त हो जाती है। ध्यान के द्वारा ध्याता स्वयं को ध्येय में भी लीन कर देता है कभी-कभी। यह ध्येय निर्गुण-निराकार भी हो सकता है और सगुण साकार भी। रामकृष्ण परम हंस माँ काली के ध्यान में इतने आत्मविभोर हो जाते थे कि वे उनके कपड़े स्वय पहन लेते थे और कभी उनसे ऐसे बातें करने लगते थे मानो वे कोई जीवित प्रतिमा हों। ध्यान की यह सर्वोच्च स्थिति थी जो उनके शिष्य विवेकानन्द को भी प्राप्त थी। अरविन्द, रामतीर्थ और महर्षि रमण ऐसे ही सिद्ध योगी हो गये हैं जिन्हें ध्यान सिद्ध हो गया था, वे नित्य और लौकिक व्यवहार करते हुए भी परमतत्त्व के ध्यान में ही लीन रहते थे। कोई परिस्थिति उन्हें उस स्थान से च्यत नहीं कर सकती थी।

अनेकों लोग आजकल आपको यह उपदेश (!) देते मिल जायेंगे कि इन फालतू की बातों को इस विज्ञान के युग में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार ये सब असामाजिक तत्त्वों के ढकोसले हैं, आज के बदलते हुए मानव मूल्यों के सन्दर्भ में कोरी कल्पनायें हैं, समय की बर्बादी है। किन्तु हमारे मत में ऐसे उपदेशक स्वयं यह नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं। वे तो रटे-रटाये शब्दों को यन्त्रवत् दोहराते हैं क्योंकि ऐसे मत को आधुनिकता और प्रबुद्धता का परिचायक मान लिया गया है अज्ञानवश। उनसे यदि पूछा जाय कि विज्ञान क्या है? समाज क्या है? मानव मूल्यों का क्या स्वरूप है? आदि आदि तो वे भौंचक्के होकर प्रश्नकर्त्ता की ओर ऐसे देखेंगे मानो यह पूछना उसकी मूढ़ता का द्योतक है, मानो हम उनकी महानता और ज्ञान के दावे को चुनौती दे रहे हैं। ऐसे लोग वस्तुतः ही दया के पात्र हैं और उन्हें आत्मानुशासन की अत्यन्त आवश्यकता है जिसकी आधारशिला स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन पर ही डाली जा सकती है अर्थात् ध्यान किंवा एकाग्रता तो सभी कुछ के लिये पूर्वमान्यता-स्वरूप है। इसके बिना हम किसी भी समग्र जीवन-दृष्टि को प्राप्त नहीं कर सकते। यह हमारे जीवन को लक्ष्योन्मुख बनाकर सार्थकता प्रदान करता है, हमारा प्रवेश एक ऐसे क्षेत्र में कराता है जिसमें तर्क बुद्धि तो त्रिकाल में भी प्रवेश नहीं कर सकती थी और फिर, अन्ततः हमें या तो परमसत्ता ही बना देता है या उसके निकट पहुँचा देता है। ❂

समीक्षात्मक :

ध्यान-योग : विचार की कसौटी पर

● श्री हिम्मतसिंह सरूपरया,
एम० ए०, जैनदर्शनाचार्य

वैदिक धारा :

वैदिक धारानुसार 'योग' का अर्थ जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग होना या जीवात्मा का परमात्म स्वरूप (सहज स्वरूप) हो जाना किया गया है। वह तो उपयुक्त ही है परन्तु मुक्तावस्था (परमात्म स्वरूप) प्राप्त कर लेने पर इस जीवात्मा के अस्तित्व में मतभेद दिखाया है। शुद्धाद्वैत की मान्यता है कि जीवात्मा का अस्तित्व पूर्णतया परब्रह्म में खो जाता है, जबकि विशिष्टाद्वैत जीवात्मा का पृथक अंश स्वगतभाव को कुछ बचा रखना मानते हैं। वस्तुतः इन दो विचारधाराओं का समन्वय अनेकान्तवाद से ही सुलझ सकेगा।

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि जो वस्तु सत् है उसका द्रव्यतः कभी नाश नहीं होता व जिसका सर्वथा अभाव है वह कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकती। विश्व में आत्मा (Soul) व परमाणु पुद्गल (Matter) शाश्वत है चाहे उनके पर्याय (Phenomena) पलट सकते हैं, परन्तु द्रव्यतः (Substance) सर्वथा लोप को नहीं प्राप्त होते।[1] अतः जब आत्मा का अस्तित्व है तो उसके सामान्य गुण द्रव्यत्व, क्रिया-कारित्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व……आदि भी शाश्वत रहेंगे। मुक्त होने पर संसारावस्था शरीरादि जो विभाव पर्याय हैं उनका लोप हो सकता है, परन्तु उसका असंख्यात प्रदेशत्व, ज्ञाता दृष्टा भाव, अनन्त सुख, अमरत्व आदि शुद्ध अवस्था के गुणों का नाश असम्भव है। मुक्तात्माओं के अलग-अलग आकार भी होंगे, क्योंकि जहाँ प्रदेशत्व है, वहाँ

---

१. गीता, २।१६।

आकार भी होता है। चाहे चर्म चक्षु को वे प्रदेश (जो अरूपी हैं) व उनके आकार न दिखाई दें, परन्तु केवलियों को व सिद्धों को पृथक-पृथक मुक्तात्माओं, प्रदेशों का व आकार का भान है। चरम शरीरी जीव जितने हाथ के शरीर की अवगाहना से सिद्ध होते हैं उस अवगाहना की $\frac{2}{3}$ भाग वाली अवगाहना सिद्धात्म प्रदेशों की होती है, (मुख, उदर, बगल आदि की पोलवट को सम्पूर्ण कर देने से $\frac{1}{3}$ अवगाहना न्यून हो जाती है) जघन्य अंगुल पृथक्त्व ७ हाथ $\times \frac{2}{3}$ व उत्कृष्ट ५०० धनुष $\times \frac{2}{3}$ की अवगाहना रहती है।[२]

यह भी विदित है कि जीवात्मा के प्रदेश अमूर्त (Non-material) होने से परस्पर विघात को नहीं प्राप्त होते, यथा—एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार एक सिद्धात्मा के आत्म-प्रदेशों में अनेक सिद्धों के आत्म-प्रदेश व अनेक सिद्धों के आत्म-प्रदेश में एक सिद्ध के आत्म-प्रदेश व्याप्त हैं। इस दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि अमुकजीव के आत्म-प्रदेश परमात्मा में लीन हो गये, परन्तु सर्वथा आत्यन्तिक (अमुक जीव के) आत्म-प्रदेश परब्रह्म में खो गये, यह युक्ति युक्त नहीं। अनन्त सिद्धों के आत्म-प्रदेशों में पारस्परिक कोई भेद नहीं। एक में अनेक, अनेक में एक सस्पष्ट हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना होगा कि मुक्तात्मा कभी भी संसार में अवतरण नहीं करते जैसी कि वैदिक मान्यता है। धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का जन्म होता है[३] व तीर्थ की अवहेलना पर बुद्ध जन्म लेते है, इसका आशय यही है कि जब पृथ्वी पर अत्याचार, पाप, अनीति, अराजकता आदि फैल जाती है तो उनका निवारण करने हेतु कोई विशिष्ट आत्मा जन्म लेती है। यह प्रकृति का नियम है। संसार में जन्म तो कर्म-रज या वासना के बीज रह जाने से होता है। जिसके कर्म सर्वथा भस्म हो गये—वासना समूल नष्ट हो गई, उसका पुनर्जन्म का कोई कारण नहीं[४], यदि मुक्तात्मा भी संसार में आने लगे तो ऐसी मुक्ति का कोई प्रयास न करेगा। सांख्य मत में जो प्रकृति का वियोग होने से अर्थात्

---

२. तत्त्वार्थ सूत्र, १०।७।
३. गीता, ४।७।
४. गीता, १५।६।

कर्मों का आत्यन्तिक नाश होने से जीवात्मा का स्वरूप में (शुद्धावस्था में) स्थित होना योग का लक्षण माने तो ठीक घटता है। प्रकृति जड़ होने से केवल कुछ नहीं कर सकती।

पिपीलकामार्ग :— में जो क्रमशः मुक्ति कही उसका उपशम श्रेणी (जैन परिभाषा) से समन्वय होता है—पिपिलका मार्ग में विघ्नों का आना यही है कि मोहनीय कर्मो की जो सत्ता है उनका उदय होने से देव योनि व अन्य योनियें प्राप्त होती हैं। ११ वे गुणस्थान में काल करे तो अनुत्तर देव लोक में, अन्यथा नीचे गिरता-गिरता मिथ्यात्व में आ जावे तो नरक, तिर्यंच में भी जा सकता है। अशान्त मोहनीय गुणस्थान तक १४८ कर्म प्रकृतियों की सत्ता मानी है। जिनमें चारों आयु भी व चार गति भी समाविष्ट हैं।

विहंगममार्ग :—का समकक्ष चरम शरीरी जीव क्षपक श्रेणी आरूढ़ १२ वें गुणस्थान क्षीण मोहनीय को स्पष्ट करता हुआ केवली हो कर मुक्त होता है।

योग का लक्ष्य (परमात्म स्वरूप प्राप्ति) के निश्चय होने के अनन्तर योग की जो परिभाषा ऋषि पातंजल द्वारा की गई है कि 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' इसका अर्थ जो चित्त की वृत्तियों (तरंगों) का रुकना (Cessation-Restraint) किया गया है, वह ठीक नहीं जंचता। कारण कि यदि सचेतन जीव के चिन्तन का अभाव ही हो जावे तो वह जड़ हो जावेगा। जब तक प्राणी जीवित है, उसका मन चाहे सूक्ष्म गति से भी स्पन्दन करे तो चिन्तन का अभाव नहीं कहा जा सकता—शैलेशी अवस्था संप्राप्त जीव (अ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण करे उतने समय मात्र के लिये) मुक्ति में जाने के पूर्व अपने मानसिक, वाचिक व कायिक सूक्ष्म योगों का निरुंधन करता है, तब ही वह अयोगी कहा सकता है। शेष जीवन काल में योगों का (जिसमें मन भी सम्मिलित है) परिस्पन्दन (Vibrations) चाहे सूक्ष्म हो, होता ही रहता है। अतः निरोध का आशय चिन्तन का अभाव न होकर अन्य चिन्ताओं की अपेक्षा असत् व ध्येय की अपेक्षा सत् (अभाव=भावान्तर) होना चाहिये। अर्थात् अशुभ प्रवृत्तियों से हट कर शुभ प्रवृत्तियों की ओर मन को मोड़ना व शुभ से शुद्ध में उसको अडोल स्थिर रखना, ऐसा परिमार्जित अर्थ उपयुक्त प्रतीत होगा।

उस मन को कंट्रोल (Control) में लाने के हेतु जो अनेक विधियाँ हठयोग, लययोग, प्राणायाम, आसनादि निर्दिष्ट की गई हैं उनके लिये प्रथम तो यह विवेक होना आवश्यक है कि ये क्रियाएँ किस ध्येय को पहुँचने के लिये हैं व क्यों हैं ? यदि यह ज्ञान—या विवेक या सम्यक्त्व नहीं है तो यह सम्पूर्ण साधन केवल स्थूल शरीर को अकाम पीड़ा देना मात्र प्रयास है—परमात्मपन पर पहुंचना तो दूर है—मान, ख्याति, लोभ, समृद्धि वा आवेश के वश ऐसी क्रियाएँ अधःपतन व अनेक शारीरिक मानसिक रोगों को निमन्त्रण का कारण बन जाती हैं। संसार परिभ्रमण बढ़ जाता है। जीव योग के लक्ष्य के विपरीत दशा में भटकता है और मन को जो वश में लाने की ये बाह्य क्रियाएँ कही गईं, यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह मन क्या वस्तु है ? कोई धड़कते हुए हृदय को मन कहता है परन्तु वह भी माँस का पिंड मात्र है—जिसके माध्यम से शरीर में रक्त संचार की क्रियाएँ होती रहती हैं। किसी ने अष्ट कमल दल को मन माना है व किसी का कहना है जहाँ शरीर है वहीं एक सूक्ष्म तत्व के रूप में मन सर्वत्र विद्यमान है। इस मन के माध्यम से इन्द्रियों का विषयों से संयोग होता है। जबकि शरीर रचना के विज्ञानी (Anatomical Scientist) मस्तिष्क के (Profrontal Cerebrum) एक अग्रभाग विशेष स्थान को मन सम्बोधित करते है परन्तु ये सब ही पुद्गल परमाणु तत्त्व कोशिकाओं से उतकों व तन्त्रिकाओं से निर्मित माँस खण्ड विशेष ही ठहरे। कन्ट्रोल में लाने की, समझाने की आवश्यकता इस द्रव्य मन पुद्गल पिंड को नहीं है बल्कि उसके पीछे उस भाव मन को अधीन करना है[५] जो इस जीवन चक्र की महानगरी में शरीर व इन्द्रियों को निर्देश देने वाला है, जो परम सूक्ष्म होकर इस नगरी के आत्म सम्राट के अधीनस्थ सर्व सत्ता सम्पन्न मन्त्री है—जो आत्मा की चेतना है, जो ज्ञाता है, दृष्टा है व संचालनकर्ता है। वह भाव मन जब शुद्ध भाव में उपयुक्त होता है तो आनन्द की अनुभूति करता है व अशुद्ध भाव रागद्वेष, आसक्ति, मोह, ममता लोभ आर्त्त-रौद्र में भटकता है तो विषयों के जाल में फँस जाता है। अतः बिना विवेक ख्याति, बिना सम्यक्त्व के, बिना भाव मन को सही रास्ते पर उपयुक्त किये, ये स्थूल क्रियाएँ हठयोग की वा लययोग वा आसन प्राणायामादि योग में समाविष्ट नहीं हो सकती। चाहे जितना परिश्रम करने पर भी यदि सुख-

---

५. उत्तराध्ययन० २३।३६।

दुःख के बीच, मान-अपमान के बीच, अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण में परिषहों के बीच, जब तक समता भाव न रहे वीतरागता न प्रकट हो—[६] मन का सन्तुलन न रहे तब तक योग की क्रिया सफल साधना नहीं कहाती। बिना विवेक सही ज्ञान व लक्ष्य निर्धारण के शरीर के अङ्ग-प्रत्यगों को तोड़-मरोड़ कर पशुओं की नकल कर विभिन्न आसनों का प्रयास करना या प्राणवायु को अनेक स्थानों पर रोककर कुंडलिनी आदि नाड़ियों को जागृत करना योग का मुख्य अङ्ग नहीं माना जा सकता जिसकी की आगे की भूमिका 'ध्यान' पर प्रतिष्ठित की गई है। बिना आन्तरिक भावों की शुद्धि के यदि घट शुद्धि-बाह्य शुद्धि से ही परमात्मतत्त्व मिल जाता तो मगर मच्छ कच्छपादि सभी परमात्मा को प्राप्त कर लेते। यदि दुष्ट भाव नहीं पलटे व बाह्य शरीर की शुद्धि गङ्गा स्नान से करली, गोपी चन्दन भी रगड़ लिया तो बाह्य शुद्धि ध्येय तक पहुँचाने में समर्थ नहीं। 'जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे' (१-५-४० आचारङ्ग) शब्दादि इन्द्रियों के विषय ससार के कारण है व संसार विषयों का कारण है जिसकी व्याख्या करते स्पष्ट कहा कि वस्तुतः इन्द्रियों के विषय संसार के मूल कारण नही अपितु उन विषयों में आसक्ति (रागद्वेष) ही संसार के कारण हैं—विषय निमित्त मात्र है—इन्द्रियों का स्वभाव विषय में प्रवृत्ति करना है तथापि संयती महात्मा के लिये उन विषयों में आसक्ति न होने से संसार बन्धन नहीं होता। अत. साधक को मन पर काबू के लिये यह आवश्यक नहीं कि आँख से रूप दीखने ही न पावे, आँख फोड़ दे व शब्द सुनने न पावे, श्रवण फोड़ दे—मुख स्वाद न ले, सीदे, नाक सूंघने न पावे, डूँचा लगादे, गुदा से अधोवायु न निकले, डाट लगादे। अपितु इन्द्रियों के अपने विषय में प्रवृत्ति करने पर भी मनोज्ञ में राग व अमनोज्ञ में द्वेष न करे। यही अनासक्ति योग साधक के लिये ऊर्ध्वमुखी मार्ग है। प्रभु महावीर चाहे वन में रहते, चाहे वस्ती में सर्वत्र अनासक्त रहते। समत्वभाव रखते। इस विवेक सहित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहत्व आदि पालते। समदमनियम आसन आदि से साधना करना यही राजमार्ग योग के लिये वांछनीय है न कि बिना विवेक बाह्य स्थूल शुद्धियों पर निर्भर रहना।

मन्त्र योग व जपयोग में किसी भौतिक वासना की कामना न करते हुए आत्मा व परमात्मा का स्वरूप लक्ष्य में रखते हुए उन परमात्म गुणों

---

६. वही—३२।८७।

को अपने में अनुवासित करना अभ्यर्थनीय है। यदि ये नहीं है तो केवल नाम-स्मरण करने से अभीष्ट की प्राप्ति कठिन है। भक्तियोग, बाल्यावस्था, कर्मयोग युवावस्था व ज्ञानयोग वृद्धावस्था तुल्य कहा जाता है। बाल्यावस्था में बालक अपनी समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु माता पिता पर आश्रित रहता है—भक्ति से साधक सब कुछ प्रभु पर छोड़ देता है। स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं करता जो एकांगी है। युवावस्था मे साधक स्वावलम्बी होकर—पुरुषार्थ करता है उसी अनुसार साधक को संयम, नियम, तप, अनुष्ठान केवल परमात्म पद की प्राप्तर्थ अग्रसर होना है। वृद्धावस्था में शरीर तो शिथिल अकाम हो जाता है अपितु उसका अनुभव ज्ञान मार्ग प्रदर्शक बनता है—अतः तीनों का समन्वय कर श्रद्धायुक्त सम्यक् ज्ञान वा क्रिया परमार्थ साधक होती है।

इस प्रकार विवेक युक्त सम्यक् ज्ञान व श्रद्धा से अन्वित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अममत्व, शमयमनियमादिका पालन करता हुआ विषयो में आसक्ति न रख समत्व योग के साथ जब साधक ध्येय के प्रति चित्तवृत्ति को एकाग्र करता है तो धारणा को बल मिलता है। जब ध्येय में वह चित्तवृत्ति अडोल अकंपित्त स्थिर रह जावे, वही ध्यान आगे चलकर आत्म दर्शन में सहायक हो, आत्म-रमण मे परिवर्तित (समाधि) होता है—ऐसा साधक परंपरा से कैवल्य प्राप्त कर, परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है।

बौद्ध धारा :

चित्त के परिमार्जन हेतु बौद्ध धारा मे जो 'ध्यान' के विषय में विश्लेषणात्मक पद्धति से यद्यपि विस्तृत वर्णन किया है परन्तु बौद्ध मत में विचार के क्षणों की परम्परा को ही केवल आत्मा माना है[७] व प्रत्येक क्षण के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनन्तान्त किसी एक नित्य आत्मा को स्वीकार न करके सम्पूर्ण वासनाओं का उच्छेद हो जाने पर नष्ट होगया है विषयों का मलिन सम्बन्ध जिसमें ऐसी विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति को ही मोक्ष कहा है।[८] यह कल्पना समीचीन नही प्रतीत होती—जबकि आत्मा

---

७. बौद्धाः बुद्धिक्षण परम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति न पुनर्मौक्तिककरणनिकराऽनुस्यूतैक सूत्रवदन्वयिनमेकम।

८. स्यादवाद मंजरी १८ टीका, षट्दर्शन समुच्चय, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६५

क्षणिक है व निरन्वय नाश को दूसरे क्षण में ही प्राप्त हो जाती है—तो बिना आधार के किसकी मलीन वासना का क्षय होगा व किसको विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति । पूर्व भव, जन्म, मरण व कर्मो के अनुसार फल की वेदना भी सिद्ध न होगी । जिसने कर्म किये व दूसरे क्षण में नष्ट होगया—जो भोग रहा है उसने बांधे नहीं—इस प्रकार कृतनाश अकृतागम दोष उठेगा । व्यवहार अवस्था में भी यह मान्यता सिद्ध नहीं होती । वासना स्वयं क्षणिक है अतः बिना एक अनुस्यूत द्रव्य आत्मा के यह शून्यवाद निष्फल है । 'ध्यान' के बल तो वासना (पर्याय) का क्षय मानने पर 'शुद्धात्म स्वरूप' का शाश्वत विद्यमान रहना सिद्ध होगा न कि 'शून्यपन' पर्याय की अपेक्षा यह बौद्ध मान्यता सार्थक है—द्रव्यार्थिक नय से अपार्थक है ।

(उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्—Origination dis-appearance cum substance)

जैन धारा :

श्री हरिभद्र सूरि ने 'योग' का अर्थ जीवका मोक्ष से संयोग कराने वाला माध्यम बताकर जो अष्टदृष्टियाँ निर्धारित कीं वे अनुचिंतनीय हैं उनके अनुसार भी सम्यक्त्व दृढ़ होने पर (स्थिरा) से उन्नति होकर धारणा से ध्येय के प्रति प्रयास करते हुए ध्यान व फिर परादृष्टि (आत्मनिष्ट) होकर श्रेणी प्रारम्भ होती है ।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने ध्येय की दृष्टि से जो चार प्रकार के ध्यान कहे जिनमें से पिंडस्थ व पदस्थ विशिष्ट मानसिक व शारीरिक बल वालों के लिए साध्य हैं—जिनमें मन की विशिष्ट एकाग्रता व चिर समय तक स्थिति स्मृति रह सके । व साधारण साधकों के लिये रूपस्थ का अवलम्बन लेकर अरूपस्थ में स्थिर रहना ही प्रयोगात्मक प्रतीत होता है । जिसके लिए कायोत्सर्ग लोगस्स, नमुत्थुणं स्तोत्र अधीत सूत्र चिंतन चरित्रादि भावना अनेक सहायक भूत हो सकते हैं । लेखक का यह प्रयोग अनुभावात्मक है । इन आदर्शो के आलम्बन से स्वात्मा में ये गुण वपन योग्य हैं । ध्यान के जो ४ भेद कहे उनमें से आर्त रौद्र ध्यान हेय हैं, संसार बन्धन के कारण होने से व धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण होने से (परे मोक्ष हेतू) सुध्यान हैं, उपादेय है । १२ भावना भी इसी में सम्मिलित हैं—व ७ वें से १२ वें गुण स्थानवर्त्ती साधक को सम्भव है । दिगम्बर मान्यता में इनको

चौथे से ७ वें गुण स्थान तक ही इस कारण से मानना प्रतीत होता है कि यहाँ आलम्बन स्व से 'पर' का भी चिन्तन रहता है। परन्तु आगे सूत्र ३८ (अशान्तक्षीण कषायोश्च) व सूत्र शुक्ले च आधे पूर्व विद (३९) से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार पूर्वधारी को ही सम्भव है यदि पूर्वधर न हो केवल १२ अङ्गों का या उनसे कम अङ्गों का ज्ञान हो तो उनका ध्यान धर्म ध्यान की श्रेणी में ही आवेगा। शुद्ध भावना व सूक्ष्म अनुप्रेक्षा के कारण व्यवहार में वह चिन्तन शुक्ल ध्यान भले ही कह दे वास्तव में सब धर्म ध्यान चिन्तन है। उपशम श्रेणी क्षपक श्रेणी का अभी विच्छेद है।

वैज्ञानिक :

विज्ञान का अनुसन्धान अभी तक पौद्गलिक पदार्थ (Material substance) तक ही सीमित है जो वस्तु उनकी प्रयोगशाला में इन्द्रियों द्वारा व उपकरणों की सहायता से अनुभूत नहीं, जो इन्द्रियातीत है उसकी सत्ता को वे स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं है। तथापि जहाँ तक वे ईमानदारी से खोज पाये हैं उनका वह अन्वेषण-प्रयास व सत्य को जानने की लगन प्रशंसनीय है। जीवधारी के शरीर निर्माण की जीवित इष्टिका Cell व उससे बनने वाले उत्तरोत्तर जटिल निर्माण की खोज तक पहुँचे हैं (Zenes) परन्तु किस तरह से अजैविक पदार्थों के संयोग से रासायनिक मिश्रण से सजीव चेतनधारी उत्पन्न हो जाता है यह समस्या अभी हल न हो पाई है। मस्तिष्क में अनुभूत विषयों, घटनाओं का स्मृति केन्द्र भी (Cortex) है व मन, बुद्धि वक्तृत्व शक्ति इन्द्रियों से प्राप्त संवेदना के विश्लेषणात्मक क्षेत्र व मस्तिष्क की न्यूरोन कोशिकाओं से प्राप्त आदेश प्रणाली भी हम जान चुके हैं परन्तु यह स्मृति भण्डार जब तक मस्तिष्क की कोशिकाएँ जीवित हैं तब ही तक बुद्धि, मन आदि काम देते हैं उनके भस्मसात् होने पर ये उद्दीपन, प्रेरणाएँ व आदेश लोप हो जायेंगे। इसके विपरीत अनुभव यह किया जाता है कि इस शरीर के अधिष्ठाता की (इन पौद्गलिक मांस पिंडों से परे) कोई सत्ता है जो जन्म-जन्मान्तर के अनुभवों को अपने में सुरक्षित रखती है व निमित्त पाने पर उनका स्मरण हो जाता है। वह सत्ता आत्मा की है जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उन अनुभवों-वासनाओं, इच्छाओं, अभ्यास व घटनाओं को अपनी चेतना में सँजोए रखती है। शास्त्रों में तो स्थान-स्थान पर उदाहरण पर्याप्त उपलब्ध हो रहे हैं कि पूर्व में कई को जन्म-जन्मान्तर के अनुभव हो गये, जाति

स्मरण ज्ञान उत्पन्न होकर संसार को दुखपूर्ण नश्वर जान अध्यात्म साधना में तत्पर हुए।[१०] मृगापुत्र के वर्णन में वृद्ध आम्नानुसार १ लाख भव (संज्ञी) तक जीवात्मा को स्मरण हो सकना कहा है। यही नहीं वर्तमान काल में भी कई एक घटनाएँ आये दिन देखी व सुनी जाती हैं कि देश व विदेश के कितने ही व्यक्तियों ने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त बता कर सम्बन्धियों को-घरों को पहचान लिया—गड़ा धन यहाँ तक कि बैंक में जमा सूदा रकम तक बतादी जो जाँच करने पर सही निकली।[११]

यदि यह सिद्ध हो गया कि पूर्व जन्म के संस्कार आत्मा की स्मृति में सुरक्षित रह सकते हैं, तो इस संसार में प्राणियों की विभिन्न अवस्थाएँ ये ही संकेत करती हैं कि इन विभिन्नताओं के कारण उसके पूर्व बद्ध कर्म या वासनाएँ भी अधिक परिमाण में जिम्मेदार हैं—यदि कर्म हैं तो उनसे छूटने का उपाय भी होना चाहिये ताकि वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सके। जिनसे छुटकारा पाने की यह 'ध्यान' विधि भी एक उपाय है। मस्तिष्क की क्रिया प्रणाली व न्यूरोन्स के रसायन निर्माण से यह भी अनुभव में आता है कि चैतन्यधारी जीव को वाह्य ज्ञान केवल ज्ञानेन्द्रियों से ही नहीं होता है अपितु दूर स्थित एक व्यक्ति के विचार भी दूसरे व्यक्ति को दिये जाते हैं। दोनों के विचार शक्ति मिल कर एक तन्त्रिका

---

१०. उत्तराध्ययन सूत्र—१९।१, १३-५-६।

११. (अ) फ्रांस की कुमारी Thevese Gay ने तीन वर्ष की उम्र में अंग्रेजी बोलना शुरू कर गांधी जी के साथ अफ्रीका में रहने की घटनाएँ बता दीं जिनको वह बापू कहती थी। (कल्याण, ४३-१) [कल्याण में ऐसी ५० घटनाएँ हैं]।

(आ) हरदोई के ठाकुर सूरजसिंह की पाँच वर्षीय बालिका रामायण व गीता के श्लोक बोलती है—प्रश्न का उत्तर संस्कृत कविता में देती है। पहला जन्म मथुरा, दूसरा काशी, तीसरा अयोध्या में बताया। कुमारी कल्पना ने ७ वर्ष में ही आयुर्वेद के मन्त्रोच्चारण कर विश्वविद्यालय के कुलपति को चकित किया। —(पैरासाइको०)

(इ) एक इन्सपेक्टर के बालक ने अपने को पूर्व जन्म में लखनऊ का सम्पत्ति सम्पन्न नवाब बताकर अपनी बीबी के नाम ८० हजार रुपया बैंक में जमा कराना कहा, जो सही पाया गया।

जैसे काम करती है। Clairvoyancy Telipathy व Halucination इसके उदाहरण हैं। शास्त्रों में श्री कृष्ण का हिरणगमेषी देवता को स्मरण करने पर व अभयकुमार का पूर्व मित्र देव का स्मरण करने पर उपस्थित होने के उदाहरण मिलते है। वर्तमान में कई घटनाएँ हैं, दो व्यक्तियों के एक सरीखे विचार दूर स्थित होने पर भी मिल जाते हैं। एक दूसरे को संवेदन अनुभव होते हैं, सात्विक भाव से चिन्तन करने से—व्यायाम व प्राणायाम आसनादि मर्यादित विधि से (बिना किसी मस्तिष्क के तनाव के) यूरोन्स में स्थित राइपो न्यूकलिक एसिड (RNA) की वृद्धि करते हैं—यह प्रयोगों से पाया गया। शुद्ध वायु में पर्यटन करने से व दीर्घ श्वास-निश्वास (पूरक, कुम्भक, रेचक) शक्ति अनुसार लेने से ऑक्सीजन प्राप्त होकर वह शरीर व मस्तिष्क को स्वास्थ्यदायक होता है। प्रयोगों से यह भी सिद्ध हुआ है कि वीर्य रक्षण (ब्रह्मचर्य) से शरीर की ऊर्जा (ATP) Energy वर्धित होती है—स्मृति व मनन शक्ति में वृद्धि होकर RNA पर्याप्त मात्रा में बढ़ता है। उत्साह व पुरुषार्थ तीव्र होता है, इसके विरुद्ध व्यसनी, दुराचारी की शक्ति, पुरुषार्थ में हीनता होकर Voltage की कमी पाई गई। स्मृति दुर्बल व मन अस्थिर होकर RNA में ह्रास पाया गया। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि स्वस्थ मस्तिष्क व शक्तिवन्त निरोग शरीर हेतु आहार, चर्या, निद्रा पर भी कन्ट्रोल रखना आवश्यक है।[१२] मस्तिष्क के Satuity Centre (तुष्टि क्षेत्र) का पेट के Feeding Centre (भोजन ग्राहक क्षेत्र) से घनिष्ट सम्बन्ध है। पर्याप्त भोजन मिल जाने पर तुष्टि क्षेत्र आदेश देता है बस करो, फिर भी ग्राहक क्षेत्र आदेश की अवज्ञा करे तो मस्तिष्क के कोशिकाओं में विघ्न व शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है, जिसके लिये बीच-बीच में शक्ति-अनुसार लांघन व उपवास करना अत्यावश्यक है ताकि आन्त्र तन्त्रों पर अधिक भार न पड़े—पाचन शक्ति ठीक काम कर सके व Harmons (ग्रन्थि रस) व Enzymes (रासायनिक यौगिक) आदि व्यवस्थित रूप से पैदा होते रहें। समय पर जागना, समय पर सोना, समय पर अपना कृत्य करना, स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर के पूरक हैं।

इसके विपरीत नशीले पदार्थों का खाना-पीना, तामसिक भोजन, आमिष भोजन आदि मस्तिष्क को विगाड़ने वाले, वुद्धि का ह्रास व मन

---

१२. गीता—६।१७

की शक्ति को, स्मृति को नाश करने वाले सिद्ध हुये हैं। सिगरेट, बीड़ी पीने से उसके धुँए का निकोटीन व कोलतार सरीखा पदार्थ केजोपाइरिन शरीर में प्रवेश कर रक्त चाप की वृद्धि, हृदय की धड़कन, चक्षु ज्योति की मन्दता व केन्सर जैसे रोग वर्धक है। इसी प्रकार भांग, धतूरा, गांजा, चरस, संखिया, कोकेन आदि पदार्थ मस्तिष्क को हानिकारक व प्राणघातक सिद्ध हुए हैं।

आंतरिक मानसिक तनावों से (Tensions) तीव्र क्रोध, क्रूर विचार, चिन्ता, मान (द्वेष) माया व लोभ में हर समय डूबे रहने से अनेक व्यक्ति मनोविकृति (P Sychosis), स्नायुविकार (Nurosis), कुन्द-बुद्धि (Embecib), जड़ बुद्धि (Idiocy) आमाशय घाव (Peptic (Ulcar), दमा, भ्रान्ति, रक्त चाप, पक्षम, हताशा (Depression) आदि अनेक रोगों के यहाँ तक कि मृत्यु के शिकार बनते हैं—तीव्र क्रोधादि से गुर्दे पर स्थित *gland* का *Adeiannolmin* हृदय में स्थित Glycogin में मिलकर शक्कर बना कर शरीर में रगों, पुट्ठों को फाड़ देता है। क्रोध से अन्धा विवेक खो बैठता है—हत्या तक कर डालता है—मस्तिष्क की नसें तक फट जाती है। सोवियत रूस ने मस्तिष्क के अन्दर की गति विधि, क्रिया को बताने वाला एक यन्त्र Electroin Sefalograph निकाला है, जो मस्तिष्क के ऊपर रखने से उसके इले-क्ट्रोड चमड़े की दुर्बल विद्युत नाड़ी को ग्रहण कर, उन गतिविधियों को Film पर उतार देता है। Viena (आस्ट्रिया) के डॉ० Earnest Klanshanger ने एक स्पेशल Valve द्वारा मस्तिष्क को ज्योतित कर X Ray केमरा द्वारा उस मस्तिष्क में होने वाले विचारों का १ सैकंड में १८८ एक्सपोजर की गति से फोटू लिये हैं, जिनको (फिल्म को) परदे पर दिखा सकते है।

मनोवैज्ञानिक :

फायड ने जो मानव भावों का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति वा व्यक्ति समूह से सम्बन्धित अन्यान्य क्रियाएँ व संस्कृति आदि सब लिबिडो (Libido) जन्य (कामज) बताया व चित्त की तीन दशा चेतन, अव-चेतन व अचेतन निर्दिष्ट कर मस्तिष्क को ३ प्रणालियाँ इड, इगो व सुपर-इगो निर्धारित की। व्यक्ति सुख प्रिय है। इड अचेतन में दैनिक जीवन की अनेकानेक आकाक्षाएँ दबी पड़ी रहती है जो सदैव चेतना के क्षेत्र में आने

का प्रयत्न करती हैं परन्तु इगो व्यावहारिक वातावरण व भौतिक स्तर से सम्पर्क रखता हुआ उन अतृप्त भावनाओं को दमन करता है जबकि सुपरइगो नैतिकता व न्याय के प्रति सचैतन्य रहकर उसका संघर्ष न यथार्थ (Ego) से है न सुख (इड) से है परन्तु पूर्णता के लिए है। विश्व के दैनिक जीवन में अधिकांश लोगों की मनोभावनाएं इन्हीं इड, इगो व सुपरइगो के संघर्ष में व्यस्त रहकर मानव अपुदि से सदा भ्रम में पड़ा रहेगा—कदाचित् कोई एक व्यक्ति ही इन संघर्षों से मुक्त होकर अपने जीवन को अयुक्त कर सकता है—धर्म भी एक संस्कृति है जो फ्रायड के अनुसार कामज है। ऐसी उनकी मान्यता निराशावादी स्तर को स्पर्श करने वाली है। जबकि एडलर अचेतन को महत्त्व न देकर यह कहता है कि चेतन परिस्थितियों के कारण जब अभाव देखता है उसको हीन भावना होकर तुष्टि प्रति प्रयत्न करता है—शासन चाहता है जो स्वतन्त्र मस्तिष्क छोड़ने पर तुष्टि हो सकेगी अन्यथा रोग ग्रस्त ही रहेगा। युंग का कहना यह है कि अचेतन की अतृप्त इच्छाओं को रोकना ठीक नही, चेतन अचेतन का संघर्ष न होने देकर दोनों जीवन के पहलू हैं। एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों को पूर्णतौर से काम करने दो।

इन मान्यताओं का निष्कर्ष यह निकलता है कि यद्यपि इन्होंने मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण जरूर किया परन्तु अतृप्त इच्छाओं के तुष्टि का कोई साधन नहीं निकाला। शोध इनकी एकांगी है। भारतीय दार्शनिकों ने स्पष्ट कहा है कि जब कोई असन्तोषकारी भावना जागृत हो तो उसको विरोधी भावना से शमन करो—जब वितर्क यमनियमादि के विरोधी भाव हिंसा, झूठ, स्तेय, कामवासना आदि जागृत हों तो उनके प्रति विरोधी विचारों का पुन: पुन: चिन्तवन करो।[13] क्रोध को क्षमा भाव से, मान को विनय (मृदुता) से, माया को सरलता से व लोभ को सन्तोष से जीतो।[14]

हमारा प्रस्तुत विषय 'ध्यान' है जो एक आध्यात्मिक क्रिया होकर धर्म से सम्बद्ध है। धर्म से प्रयोजन प्राणीमात्र के साथ प्रेम, परोपकार, सत्य, सन्तोष, परहितवांछन, जितेन्द्रियता आदि। यह प्रवृत्ति भी यदि

---

१३. योगदर्शन—२।३३

१४. उवसमेण हणे कोहम्, माणं मद्दवया जिणे।
माया मज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥ दशवैकालिक सूत्र

लिबिडोजन्य कहें तो गलत होगा। आध्यात्मिक भावना विशेष कर माता पिता से वंशानुगत संस्कार D.N.A. (पूर्व जन्म का अभ्यास) सामाजिक *वातावरण, शिक्षण-संसार का कटु अनुभव,* दैनिक घटनाएँ, आध्यात्मिक साहित्य पठन-श्रवण व सदाचारी महात्माओं आदि की सेवा संगति पर निर्भर है न कि काम जन्य। हाँ, कितने ही धार्मिक क्रिया किसी भौतिक समृद्धि, मान ख्याति, सुख आदि लालसा से करते हैं परन्तु सर्वतः यह नियम लागू करना अनुभव विपरीत है। ये धर्म उच्च सिद्धान्त वैराग्य से प्रोत है।

भौतिक उपयोग :

व्यावहारिक जीवन की सफलता भी बहुत कुछ 'ध्यान' (Attention) पर निर्भर है। जिस व्यक्ति का मन अत्यधिक चंचल, अस्थिर इधर-उधर भटकता रहता है वह किसी विषय पर गम्भीर चिन्तन न कर सकने से अपने लक्ष्य की पूर्ति तरफ नहीं पहुँचता। प्रत्येक काम की सफलता निर्धारित कार्य को ध्यानपूर्वक करने से होती है। आज ध्यान (Psychology) पर अनुसन्धान होकर उसके सहायक व विघातक घटकों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। एच्छिक ध्यान, अनैच्छिक ध्यान व स्वाभाविक ध्यान व उनके सहायक बाह्य व आन्तरिक वातावरण (Condition) पर भी विचार हुआ है। जिनमें आन्तरिक दशाओं में रुचि, तत्परता, मौलिक इच्छायें, अर्थ, लक्ष्य, आदत, विन्यास, स्वभाव, संवेग, अतीतानुभव व सामाजिक प्रेरणाएँ। बाह्य दशाओं में उत्तेजना की तीव्रता, उसकी प्रकृति, विरोध, आकार, स्थिति, एकान्तता, परिवर्तन पुनरावर्तन व गति आदि हैं। परन्तु समस्या वैसी की वैसी है। मुख्यतः शैक्ष्यवर्ग में उच्छृङ्खलता, नृशंसता, विनाशकारी प्रवृत्तियाँ, अनुशासन हीनता अधिक घर कर रही है। यद्यपि शिक्षा प्रणाली मे भी कुछ दोष हैं। बजाय कोरे पाण्डित्य के उनको स्वावलम्वी व रचनाकारी उद्योग कलाकौशलादि पर आरूढ़ किया जावे तो किसी अंश में अशान्त वातावरण बेकारी घट सकती है। विशेष कर उनके साथ तुच्छता व घृणा का व्यवहार न होकर सौहार्द से व्यक्ति परक व सामाजिक, नैतिक सदाचार, परस्पर का हित-चिन्तन, सहयोग भावना व राष्ट्र निर्माण की व्यवस्था, मौलिक रचनात्मक कार्यों में रुचि व प्रवृत्ति मोड़ी जानी चाहिये।

व्यावहारिक :

व्यावहारिक जीवन की सफलता भी बहुत कुछ ध्यान पर निर्भर

है। मानव व्यक्तिगत—पारिवारिक, सामाजिक, प्रादेशिक वा राष्ट्रीय अनेक उलझनो मे फँसा रहता है—जिनका विवेक पूर्ण सबको हितावह हो ऐसा समाधान निकालना पडता है। परन्तु व्यक्ति का मन यदि अत्यधिक चचल हो वह किसी एक अभीष्ट विषय पर निरन्तर चिन्तन नही कर सकता—मन के सन्तुलन के अभाव मे वह अपने कर्तव्य लक्ष्य की सही स्थिति का स्पर्श न करता हुआ सही निणय नही ले सकता। अत प्रत्येक कार्य की सफलता मन-सन्तुलन (Balanced Mind) के साथ निर्धारित कार्य को ध्यान पूवक विचारने से हो सकता हे। इसका उदाहरण वर्तमान के पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध मे हमारी प्रधान मन्त्री इन्दिरा ने कितने धैर्य व मन-सन्तुलन के साथ निर्णय लिया, प्रत्यक्ष गोचर है। जबकि पाकिस्तान के फौजी दमनशाही सैनिको ने पूर्वी बङ्गला देश की जनता के अधिकार मतो को कुचल कर निरपराध नागरिको की हत्या कर खून की नदियाँ बहादी। महिलाओ का सतीत्व हरण कर उनके मासूम बच्चो को क्रूरता पूर्वक नष्ट किया – शिक्षित जनता को गाली मारकर धराशायी किये— एक करोड जनता को विस्थापित कर भारत मे ढकेल दिये जिनका यहाँ भरण पापण उपचार किया गया। प्रधान मन्त्री ने विदेशी राज्यो की आठ महीने तक परीक्षा कर सुधार का कोई चिन्ह नही देखा व पाकिस्तान ने जब रण भेरी बजाकर भारत पर आक्रमण कर दिया तो भारत ने भी रक्षात्मक मुँह तोड उत्तर देकर बङ्गला देश को स्वतन्त्रता दिलाई। अमरिका व चीन के युद्ध विभीषिकाओ का भय न कर सब विस्थापितो को सम्मान पूवक वापस अपने घर भिजाया व उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर किसी प्रकार की पश्चिम पाकिस्तान की भूमि हडप न करने के आशय से निर्लोभता पूर्व एकाङ्गी युद्ध विराम की घोषणा की। यह सब निर्णय अध्यात्म धारणा-करुणा बिना कारण हत्याओ को रोकने के आशय से मन सन्तुलन मे लिया गया। इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति मे उलझे मानस को सन्तुलन मन से काम लेना पडता है जो ध्यान के आधार पर निर्भर है।

आध्यात्मिक

अब हमको यह दखना है कि योग के लक्ष्य तक पहुँचन के लिये किसका ध्यान किया जावे व उस 'ध्यान' की पराकाष्ठा हमको किस अवस्था म स्थापित करती है। यह तो स्पष्ट है कि यदि 'ध्येय परमात्म तत्त्व प्राप्ति का है तो ध्यान भी उन्ही आप्त पुरुषा—स्थित प्रज्ञ, केवली

वीतरागी महात्माओं का करना चाहिये जो सदेह मुक्त चरम शरीरी हों। इस परमात्मतत्व को प्राप्त हुए—उनके गुणों का चिन्तन मनन कर उन गुणों को अपने में वपन करने का प्रयत्न करना व उनका आदर्श सामने रखते हुए स्वयं आत्मा का चिन्तन करना यही प्रक्रिया हमें अपने ध्येय तक पहुँचाने में साधक होगी।

वीतराग स्मरन् योगी, वीतरागत्वमा प्रयात् (हेमचन्द)

इन वीतराग केवली अर्हतों का असीम उपकार है कि इन्होंने भौतिक ऋद्धि समृद्धि को त्याग कर अपने अनुपम तप, त्याग व साधनाओं मे ४ घाती कर्मो को हटाकर अपने केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति मार्ग का निर्देश दिया जिसका पालन, अनुसरण, अनुशीलन कर कई भव्य आत्माएँ इस ससार से तिर गई व निरंगो। परमात्मतत्त्व प्राप्त किया। जब साधक को इन सदेह परमात्मा (अघाती भी नष्ट कर दिये ऐसे) मे ध्यान स्थिर करने का पर्याप्त अभ्यास हो जावे तब देहमुक्ता सिद्धात्मा निरन्जन निराकार अमूर्त अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, शाश्वत निराबाध सुख के धारक अजर अमर में ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। तदनन्तर ४ या १२ भावना वा लोक स्वरूप आत्म-स्वरूप आदि का चिन्तन करते शुद्ध स्वरूप में ध्यान स्थिर करना है। उदाहरणत ध्यान की पराकाष्ठा तब ही समझनी चाहिये जब ध्याता, ध्येय व ध्यान एकरूप हो जाय।

इस प्रकार अशुभ से शुभ में (चित्त वृत्ति) को मोड़कर शुद्ध ध्येय से चिन्तन को केन्द्रित करने से अनन्त कर्मो की निर्जरा होकर परमात्मतत्व परम्परा से प्राप्त करने का यह 'ध्यान' साधन है। धर्म ध्यान से कर्म रज का आंशिक धुनन व पुण्य बन्ध भी होता है परन्तु शुद्ध ध्यान से कर्म रजों का आध्यात्मिक धुनन होकर कैवल्य प्रकट होता है। इस तरह जो इसका अभ्यास करेगा, साधना करेगा, चिन्तन करेगा वह सिद्धत्व कभी न कभी अवश्य प्राप्त करेगा।

———